डिप्लोमा इन एजुकेशन (डी.एड.)

(शिक्षा में पत्रोपाधि)

दूरस्थ शिक्षा हेतु स्व-अधिगम सामग्री

आधुनिक विश्व के संदर्भ में भारतीय शिक्षा

द्वितीय वर्ष

प्रकाशन वर्ष -2013

निःशुल्क वितरण हेतु

राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
छत्तीसगढ़, रायपुर

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 की अपेक्षाओं के अनुरूप शिक्षक–शिक्षा का उद्‌देश्य प्रत्येक छात्राध्यापक को इस प्रकार समर्थ बनाना है कि वह–

- बच्चों का ख्याल रख सके और उनके साथ रहना पसंद करे।
- सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक संदर्भों में बच्चों को समझ सके।
- व्यक्तिगत अनुभवों से अर्थ निकालने को अधिगम अर्थात सीखना समझे।
- सीखने के तरीके समझे, सीखने की अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा करने के संभावित तरीके जाने तथा सीखने के प्रकार, गति तथा तरीकों के आधार पर विद्यार्थियों की विभिन्नताओं को समझे।
- ज्ञान को, चिंतनशील सीखने की सतत् उभरती प्रक्रिया माने।
- ज्ञान को पाठ्यपुस्तकों के बाह्य ज्ञान के रूप में न देखकर साझा संदर्भों और व्यक्तिगत संदर्भों में उसके निर्माण को देखे।
- उन सामाजिक, पेशेवर और प्रशासनिक संदर्भों के प्रति संवेदनशील हो जिनमें उसे काम करना है।
- ग्रहणशील हो और लगातार सीखता रहे, समाज और विश्व को बेहतर बनाने की दिशा में अपनी जिम्मेदारियों को समझ सके।
- वास्तविक परिस्थितियों में न केवल समझदारी वाले रवैये को अपनाने की उपयुक्त योग्यता का विकास करे बल्कि इस तरह की परिस्थितियों का निर्माण करने के भी योग्य बने।
- उसके भाषायी ज्ञान और दक्षता का आधार ठोस हो।
- व्यक्तिगत अपेक्षाओं, आत्मबोध, क्षमताओं, अभिरूचियों आदि की पहचान कर सके।
- अपना पेशेवर उन्मुखीकरण करने के लिए सोच समझ कर प्रयास करता रहे। यह विशेष परिस्थितियाँ अध्यापक के रूप में उसकी भूमिका तय करने में मदद करेंगी।

डिप्लोमा इन एजुकेशन (डी.एड.)

(शिक्षा में पत्रोपाधि)

दूरस्थ शिक्षा हेतु स्व–अधिगम सामग्री

आधुनिक विश्व के संदर्भ में भारतीय शिक्षा

द्वितीय वर्ष

प्रकाशन वर्ष–2013

निःशुल्क वितरण हेतु

राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्,

छत्तीसगढ़, रायपुर

प्रकाशन वर्ष – 2013

राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् रायपुर छत्तीसगढ़

राज्य कार्यक्रम प्रभारी
अनिल राय (भा.व.से)
संचालक, राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् छत्तीसगढ़, रायपुर

राज्य समन्वयक
ए.लकड़ा,
संयुक्त संचालक,राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् छत्तीसगढ़, रायपुर

पाठ्य सामग्री समन्वय
आर. के. वर्मा
यू. के. चक्रवर्ती
डेकेश्वर प्रसाद वर्मा

विषय संयोजक
एस. के. वर्मा

तकनीकी सहयोग एवं सामग्री संकलन
एकलव्य भोपाल, छत्तीसगढ़ शिक्षा संदर्भ केन्द्र, रायपुर

राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् रायपुर उन सभी लेखकों/प्रकाशकों के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता है जिनकी रचनाएँ/आलेख इस पुस्तक में समाहित है।

प्राक्कथन

''अनिवार्य एवं निःशुल्क बाल शिक्षा का अधिकार अधिनियम 2009'' के निर्देशानुसार समस्त अप्रशिक्षित सेवारत प्रारंभिक शिक्षकों को 5 वर्ष की समय सीमा में प्रशिक्षण प्राप्त किया जाना है। राज्य के समक्ष यह एक बड़ी चुनौती है,साथ ही उन शिक्षकों के लिए परस्पर साथ आने का,अपने अनुभवों को साझा करने का सुअवसर है जो पूर्व से ही स्कूलों में बच्चों के साथ कार्य कर रहे हैं। इसी अनुक्रम में राज्य में सेवारत अप्रशिक्षित प्राथमिक शिक्षकों को डी.एड. प्रशिक्षण प्राप्त करने का अवसर डी.एड. दूरस्थ शिक्षा के माध्यम से उपलब्ध कराया जा रहा है।

समाज में समय अनुरूप हो रहे वृहद सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों के फलस्वरूप शिक्षाप्रणाली में शिक्षकों से अपेक्षाएँ बदलती रहती हैं। आज के संदर्भों में शिक्षक की भूमिका में काफी बदलाव आया है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 ने भी शिक्षकों की बदलती भूमिका को रेखांकित किया है। आज एक शिक्षक के लिए जरूरी है कि वह बच्चों को जाने, समझे, कक्षा में उनके व्यवहार को समझे, उनके सीखने के लिए उपयुक्त माहौल तैयार करे, उनके लिए उपयुक्त सामग्री व गतिविधियों का चुनाव करे, बच्चे की जिज्ञासा को बनाए रखे, उन्हें अभिव्यक्ति का अवसर प्रदान करे व उनके अनुभवों का सम्मान करे। शिक्षक के लिए यह आवश्यक है कि वह शालेय संदर्भ में उभरती हुई मांगों एवं आवश्यकताओं के मध्य सामंजस्य स्थापित करते हुए विद्यार्थी के प्रश्न, सीखने की प्रक्रिया, विषयवस्तु तथा शिक्षण के संबंध में अपने आप को निरंतर अद्यतन करते रहे।

शिक्षकों को इस बदलती भूमिका के लिए बेहतर तरीके से तैयार करने की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए राज्य में डी.एड. का नवीन पाठ्यक्रम एवं पाठ्यसामग्री तैयार की गई है। सेवापूर्व प्रशिक्षण कार्यक्रम में इस पाठ्यसामग्री की स्वीकार्यता एवं गुणवत्ता को ध्यान में रखते हुए इसे स्व–अधिगम सामग्री में परिणित कर सेवारत अप्रशिक्षित शिक्षकों के लिए मुक्त एवं दूरस्थ शिक्षा प्रशिक्षण कार्यक्रम के लिए तैयार किया गया है।

यह कोर्स स्वअधिगम पर आधारित है इसके लिए यह आवश्यक है कि पाठ्यसामग्री को आप गंभीरता से पढ़ें, चिंतन करें, चर्चा करें एवं अपने दैनिक अनुभवों से जोड़ते हुए उपयोग करें। इसे रटने की अपेक्षा जीवन उपयोगी बनाएँ।

इस पाठ्यसामग्री का फोकस विषयवार समझ विकसित करने के साथ–साथ एक एकीकृत समझ विकसित करने में है, जो कि किसी विशेषीकृत शिक्षण विधि के आधार पर न होकर समग्र शिक्षण विधि जो बच्चों को सीखने में मदद करे, के आधार पर हो। प्रथम वर्ष की पाठ्य सामग्री का अध्ययन करते हुए आपने इस पाठ्य सामग्री की उपयोगिता का अनुभव किया होगा। द्वितीय वर्ष की स्व–अधिगम पाठ्य सामग्री इसकी अगली कड़ी के रूप में आपके समक्ष है।

द्वितीय वर्ष के पाठ्यक्रम में इन विषयों को सम्मिलित किया गया है–

1. गणित व गणित शिक्षण।
2. शिक्षा दर्शन–व्यक्ति सीखना व शिक्षा।
3. भाषा (हिन्दी) व भाषा शिक्षण।
4. भाषा (द्वितीय भाषा अंग्रेजी) व भाषा शिक्षण।
5. भाषा (तृतीय भाषा संस्कृत) व भाषा शिक्षण।
6. पर्यावरण अध्ययन व विज्ञान शिक्षण
7. आधुनिक विश्व के संदर्भ में भारतीय शिक्षा

चयनित पाठ्यसामग्री में कुछ लेखकों/प्रकाशकों की पाठ्यसामग्री प्रशिक्षार्थियों के हित को ध्यान में रखकर ज्यों की त्यों ली गई है। कहीं–कहीं स्वरूप में परिवर्तन भी किया गया है, कुछ सामग्री अंग्रेजी की पुस्तकों से लेकर अनुदित की गई हैं। हमारा प्रयास यह है कि प्रबुद्ध लेखकों की लेखनी का लाभ हमारे भावी शिक्षकों को मिल सके। इग्नू और एन.सी.ई.आर.टी. सहित जिन भी लेखकों/प्रकाशकों की पाठ्यसामग्री किसी भी रूप में उपयोग की गई है, हम उनके हृदय से आभारी हैं। हम विद्या भवन सोसायटी उदयपुर, दिगंतर जयपुर, एकलव्य भोपाल, अजीम प्रेमजी फाउण्डेशन बैंगलुरू, आई.सी.आई.सी.आई. फाउण्डेशन पुणे, आई.आई.टी. कानपुर, छत्तीसगढ़ शिक्षा संदर्भ केन्द्र रायपुर के आभारी हैं जिनकी टीम ने एस.सी.ई.आर.टी.छ.ग. और डाइट के संकाय सदस्यों के साथ मिलकर पठन–सामग्री को वर्तमान स्वरूप प्रदान किया।

स्व–अधिगम पाठ्यसामग्री तैयार करने में प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े सहयोगियों का हम पुनः आभार व्यक्त करते हैं। पाठ्यक्रम तैयार करने तथा पाठ्यसामग्री के संकलन व लेखन कार्य से जुड़े लेखन समूह सदस्यों को भी हम धन्यवाद देना चाहेंगे जिनके परिश्रम से पाठ्य सामग्री को यह स्वरूप दिया जा सका। पाठ्य–सामग्री के संबंध में शिक्षक–प्रशिक्षकों, प्रशिक्षार्थियों के साथ–साथ अन्य प्रबुद्धजनों, शिक्षाविदों के भी सुझावों व आलोचनाओं की हमें अधीरता से प्रतीक्षा रहेगी जिससे भविष्य में इसे और बेहतर स्वरूप दिया जा सके।

कोई भी पाठ्यक्रम सम्पूर्ण नहीं होता इसमें सुधार की असीम सम्भावनाएं होती है तथा निंरतर परिवर्तन जीवित होने का एक प्रमाण भी है। अतः आपसे अनुरोध है कि सम्पूर्ण पाठ्य–सामग्रियों को पढ़कर अपने सुझाव हमें अवश्य भेजें ताकि पाठ्यक्रम में आवश्यक सुधार कर इसे जीवित रखा जा सके।

धन्यवाद।

संचालक
राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, छत्तीसगढ़,रायपुर

विषय–सूची

अध्याय	पेज न.
अध्याय 1. आधुनिक विश्व की विशेषताएँ	01–18
अध्याय 2. राष्ट्रवाद	19–44
अध्याय 3. आधुनिक विश्व और शाला का स्वरूप	45–68
अध्याय 4. स्वतंत्र भारत में शिक्षा से अपेक्षाएँ और शिक्षा नीति	69–94
अध्याय 5. वैकल्पिक सोच व प्रयोग	95–116
अध्याय 6. शाला का संस्थागत रूप	117–169

इकाई 1

आधुनिक विश्व की विशेषताएँ

भाग : एक

पठन सामग्री क्र. 1 – आधुनिक विश्व और शालेय शिक्षा

पठन सामग्री क्र. 2 – आधुनिक विश्व में कृषि

पठन सामग्री क्र. 3 – औद्योगिक उत्पादन

पठन सामग्री क्र. 1

विषय परिचय

आधुनिक विश्व और शालेय शिक्षा

अध्याय की रूपरेखा

सामान्य परिचय

अध्याय के उद्देश्य

विषयवस्तु के शीर्षक–उपशीर्षक

– औद्योगीकरण

– राष्ट्रवादी राज्य

– लोकतंत्र

– आधुनिक विश्व में गैरबराबरी और शिक्षा

अभ्यास कार्य

अध्याय के उद्‌देश्य

1. आधुनिक विश्व के प्रमुख लक्षणों से परिचय पाना।

2. औद्योगीकरण, राष्ट्रवादी राज्य और लोकतंत्र का आपसी रिश्ता समझना।

3. आधुनिक विश्व में गैर–बराबरी की समस्या और शिक्षा की भूमिका पर प्रारम्भिक विचार।

सामान्य परिचय

इस पाठ में आधुनिक विश्व की पहचान कराने का प्रयास किया गया है। आधुनिक विश्व के तीन प्रमुख आयाम–औद्योगीकरण, राष्ट्र–राज्य, लोकतंत्र और पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली का विवेचन किया गया है। साथ ही शालेय शिक्षा पर पड़ने वाले इनके प्रभाव की भी चर्चा की गई है।

तीन लक्षण

शालेय शिक्षा का उद्‌गम आधुनिक काल में हुआ जिसका उद्‌देश्य पूरी आबादी को कुछ सामान्य बातों में शिक्षित करना था। पूरी आबादी के लिए एक सामान्य शिक्षा क्यों हो? उसमें क्या सामान्य बातें हों? उसे कौन तय करे? उसे लागू कैसे करें? यह सब विचार व वाद–विवाद के मुद्‌दे हैं। शालेय शिक्षा के स्वरुप व ज़रूरत को समझने के लिए पहले हमें आधुनिक समाज, अर्थव्यवस्था और राजनैतिक व्यवस्थाओं को समझना होगा जिनके सन्दर्भ में शाला शिक्षण का उद्‌भव हुआ है।

मोटे तौर पर कहा जाए तो आधुनिक युग के कई लक्षण हैं और सब लोग अपने–अपने हिसाब से उनकी सूचियाँ बनाएँगे। यहाँ हम तीन ऐसे लक्षणों की चर्चा करेंगे, जिसे हम शिक्षा के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण मानते हैं। ये तीन हैं – औद्योगीकरण, राष्ट्रवादी राज्य और लोकतंत्र।

इन तीन शब्दों से आप क्या समझते हैं और वे आधुनिक शाला को कैसे प्रभावित करते होंगे, इस पर विचार करें।

औद्योगीकरण – यह शब्द एक ऐसी उत्पादन प्रणाली की ओर इशारा करता है जिसमें बड़े पैमाने पर एक सी चीज़ों का उत्पादन होता है – जिसमें बड़ी संख्या में मज़दूर दूर–दराज़ से लाए गए कच्चे माल को कीमती मशीनों की मदद से बड़े–बड़े कारखानों में बनाते हैं। पिछले कुछ दशकों में इस व्यवस्था में भी कुछ परिवर्तन आए हैं, जैसे– एक बड़े कारखाने में माल का कुछ हिस्सा बनता है तो बाकी हिस्से किन्हीं अन्य

जगहों पर। ये चीजें दुनिया भर में बिकने जाती हैं। क्या उत्पादन करना है और किस मात्रा में करना है, आदि निर्णय वे लोग लेते हैं जो इन उद्योगों में लाभ कमाने के उद्‌देश्य से अपनी पूँजी लगाते हैं। औद्योगीकरण बहुत गहरे रुप से हमारे जीवन यापन पर प्रभाव डालता है।

राष्ट्र राज्य – पुराने समय में राजघरानों के राज्य या साम्राज्य होते थे जो उस राजवंश की ताकत के अनुसार बड़े या छोटे होते थे। इसके विपरीत आधुनिक राज्य एक क्षेत्र के निवासियों (नागरिकों) के साझे उद्‌देश्यों की प्राप्ति के लिए बने हैं। राष्ट्र किन्हीं खास पहचानों के आधार पर बनते हैं, जैसे– साझे विचार, संस्कृति, भाषा या धर्म। ये राष्ट्र राज्य, पुराने राजघरानों के खिलाफ नागरिकों के संघर्ष से (जैसे– फ्रांस या इंग्लैंड) या फिर दूसरे राज्यों की शासन के खिलाफ संघर्ष से (जैसे– अमरीका या भारत) बने हैं। आम तौर पर ये राज्य अपने नागरिकों के बीच कम से कम कुछ मायनों में समरूपता लाने का प्रयास करते हैं ताकि वह राष्ट्रवादी–राज्य स्थिर बना रहे।

लोकतंत्र – इसमें दो महत्वपूर्ण बातें निहित हैं– पहली यह कि राज्य का कामकाज किसी राजा या नेता या सेनापति की मनमर्जी से नहीं चलेगा बल्कि सभी लोगों की इच्छानुसार चलेगा। लोगों की इच्छा क्या है कैसे पता करें? इसके लिए अलग–अलग राज्यों में अलग–अलग व्यवस्थाएँ हैं। इसके लिए संसदीय चुनाव, मीडिया, संसद आदि में खुले वाद–विवाद आदि व्यवस्थाएँ अपने देश में बनाई गई हैं। लोकतंत्र का दूसरा अर्थ है – नागरिकों की स्वतंत्रता। एक व्यापक दायरे के अन्दर हर नागरिक स्वतंत्र है – अपना जीवन जीने को, अपना स्वतंत्र मत बनाने व रखने को, अपनी पसन्द की चीज़ें खरीदने को, अपने पसंद के काम करने को आदि। कोई समूह या शासन उन्हें अपनी इच्छा के विरूद्ध अपने विचार बदलने के लिए मज़बूर नहीं कर सकता। इसी स्वतंत्रता और साझे उद्‌देश्यों की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए सभी नागरिकों से अपेक्षा होती है कि वे सार्वजनिक जीवन में सही जानकारी व समझ के साथ – नीतियों को बनाने व उन्हें क्रियान्वित करने में भाग लें।

आने वाली पीढ़ी को तैयार कैसे करें इस बात को ये तीनों बातें प्रभावित करती हैं। आधुनिक औद्योगिक उत्पादन प्रणाली एक खास तरह के शिक्षित, कुशल व अनुशासित श्रमिकों की माँग करती है जो बदलती तकनीकों को समझकर अपना सके। ऐसे ग्राहकों की माँग करती है जो नई–नई चीज़ों को आज़माए और खरीदे। ऐसे निवेशकों की माँग करती है जो सोच समझकर पूँजी निवेश करे। ऐसे वैज्ञानिक, अर्थशास्त्रियों, मैनेजरों आदि के हुजूम की माँग करती है जो लगातार नए आविष्कार करता रहे, उत्पादन व विपणन के नए तरीके खोजता रहे।

राष्ट्र राज्यों की भी अपनी ज़रूरते हैः सारे नागरिक एक–सी भाषा बोलें, एक–सी संस्कृति अपनाएँ, उनके विचारों में एकात्मकता हो। दरअसल, लगभग सारे राष्ट्र राज्यों ने किसी न किसी प्रकार की सार्वजनिक शिक्षण प्रणाली को स्थापित किया और सार्वभौमिक शिक्षा का प्रयास किया।

लोकतंत्र की मजबूती के लिए ज़रूरी है कि हर व्यक्ति की व्यक्तिगत रुचि व क्षमताओं का विकास हो, हर व्यक्ति अपने अधिकारों की रक्षा के लिए तैयार रहे और समझ–बूझ के साथ सार्वजनिक जीवन में भाग ले। ज़ाहिर है कि इन तीनों तरह की माँगों के बीच गहरा आपसी सम्बन्ध है और कहीं–कहीं विरोधाभास भी।

आधुनिक विश्व में गैर–बराबरी और शिक्षा

आधुनिक समाजों में लोगों के बीच असमानता व्याप्त है। आपने भारत के सन्दर्भ में कुछ असमानताओं के बारे में पिछले वर्ष विचार किया था। कुछ असमानताएँ, जैसे– लैंगिक असमानता, जातिगत असमानता, सामन्ती असमानता आदि मध्यकाल की विरासतें हैं। कई देशों, जैसे– अमरीका, फ्रांस, रूस या चीन में कुछ असमानताओं को राजकीय क्रान्ति के माध्यम से समाप्त करने की कोशिश की गई और वे काफी हद तक इसमें सफल भी रहे (लेकिन वहाँ भी लैंगिक व नस्लीय जैसी कुछ असमानताएँ अभी भी बरकरार हैं)। कुछ अन्य देशों, जैसे– इंग्लैंड, जर्मनी, जापान आदि में सामन्ती असमानताएँ अभी भी बरकरार हैं। बडे भूस्वामी, अभिजात्य वर्ग, आदि की भूमिका अभी भी बनी हुई है। लेकिन यह काफी हद तक लोकतांत्रिक ढाँचों से बन्ध गए हैं। ये तो रही बात पुरानी असमानताओं की। लेकिन औद्योगिक समाज ने खुद भीषण असमानताओं को पैदा किया। पूँजीपति (उद्योगपति, पूँजी निवेशक, व्यापारी आदि) और मज़दूरों के बीच गैर–बराबरी के कई आयाम रहे। एक ओर दोनों कानूनी तौर पर बराबर रहे। पूँजीपति और मज़दूर दोनों के लिए समान कानून

और राजनैतिक अधिकार मिले हैं। दोनों बाज़ार में बराबर हैसियत से श्रम या माल का खरीद–फरोख्त कर सकते थे। लेकिन दूसरी ओर आर्थिक स्तर पर दोनों के बीच वृहद दूरी रही। एक ओर मालिक के पास तमाम साधन थे जिससे वह किसी भी मज़दूर का श्रम खरीद सकता था। जबकि श्रमिक के पास अपने श्रम के अलावा और कोई साधन नहीं था और वह किसी मालिक के कारखाने में काम करे बिना अपना जीवन यापन नहीं कर सकता था। साथ में उस जैसे लाखों लोग श्रम बेचने के लिए बाज़ार में थे और श्रम खरीदने वाले मालिक कम। ऐसे में मज़दूर का पक्ष बाज़ार में कमज़ोर रहा। इस तरह कानूनी तौर पर समान होने पर भी आर्थिक रूप में गैर–बराबरी थी। इसके कारण समाज के उत्पादन का वितरण भी बहुत असमान रहा। एक तरफ पूँजीपति उत्पादन का एक बहुत बड़ा हिस्सा मुनाफे के रूप में अपने पास रख पाए और दूसरी ओर मज़दूर मात्र जीवन यापन लायक अपना हिस्सा ही ले पाए।

असमानता और शिक्षा

असमानता को पाटने में शिक्षा की क्या भूमिका हो सकती है? क्या शिक्षा इन असमानताओं को बरकरार रखने में मदद करेगी। इन्हीं सवालों पर हम आगे की इकाईयों में पढ़ेंगे। शिक्षा दो तरह से असमानता पर प्रभाव डाल सकती है। पहली व्यक्तिगत उन्नति – निचले तबके के कुछ लोगों को आगे बढ़ने के मौके प्रदान कर सकती है। इससे कुछ गरीबों को तो फायदा होता है और उनकी मिसाल औरों के लिए उम्मीद और आदर्श स्थापित करती है। लेकिन पूरा समाज चूँकि असमानता पर आधारित है, इसका फायदा बहुत कम लोगों को मिल सकता है। शिक्षा की दूसरी भूमिका हो सकती है –समाज में परिवर्तन लाना। समाज में एक सामूहिक समझ बनाना कि किस तरह इस असमानता आधारित व्यवस्था को बदलें ताकि स्थाई और व्यापक समानता आधारित विकास हो सके। शिक्षा के माध्यम से समाज में व्याप्त समस्याओं को पहचानना तथा उसे बदलने के तरीकों के बारे में एक साझा समझ बनाना ताकि लोग इस परिवर्तन को अमल में ला सकें। चूँकि ऐसे बदलाव समाज के सभी लोगों के प्रयास से ही सम्भव हैं। शिक्षा का एक और मकसद है पूरे समाज में एक सामूहिक चेतना का निर्माण करना और लोगों को समझ और विश्वास के आधार पर साथ लाना। हम आगे के कुछ इकाइयों में यह भी देखेंगे कि शिक्षा किस हद तक इन अपेक्षाओं को पूरा कर पाती है।

स्वतंत्रता के बाद शिक्षा का विकास

स्वतंत्रता के बाद भारत में हमने समानता, न्याय और बन्धुत्व पर आधारित समाज के शान्तिपूर्ण निर्माण का संकल्प लिया था। इस बदलाव को लाने के लिए शिक्षा की अहम भूमिका देखी गई। देश के संविधान तथा विकास योजनाओं में इसके लिए प्रावधान किए गए। इतने बड़े विविधतापूर्ण देश में सबको शिक्षा उपलब्ध कराना कोई आसान काम नहीं है। हम यह भी अध्ययन करेंगे कि हम किस हद तक इसमें सफल हुए और आगे क्या चुनौतियाँ हैं।

अभ्यास कार्य

आपके अनुसार आधुनिक युग के जीवन व संघर्षों के लिए समाज को तैयार करने के लिए शाला किसतरह मदद कर सकती है? एक विस्तृत लेख अपने शाला के अनुभव के सन्दर्भ में लिखें।

पठन सामग्री क्र. 2

आधुनिक विश्व में कृषि

अध्याय की रूपरेखा

सामान्य परिचय

अध्याय के उद्देश्य

विषयवस्तु के शीर्षक–उपशीर्षक

– पारम्परिक और आधुनिक खेती के फर्क

– आधुनिक खेती के कुछ प्रमुख लक्षण

– आधुनिक खेती और शिक्षा

अभ्यास कार्य

दत्त कार्य

परियोजना कार्य

सहायक पठन सामग्री

सामान्य परिचय

दुनिया की आबादी का एक बड़ा हिस्सा सदियों से खेती करता आ रहा है, इसमें बदलाव भी होते है। इस पाठ में हम औद्योगीकरण के बाद खेती में होने वाले बदलावों पर गौर करेंगे। औद्योगीकरण तथा नई प्रौद्योगिकी के कारण खेती में भी व्यापक बदलाव हुए हैं। एक ओर खेती में उत्पादकता बढ़ी है; यातायात के साधनों के विकास से बाज़ार तक पहुँच बढ़ी है। तो दूसरी ओर इससे खेती की लागत बढ़ गई है। बाज़ार और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों पर किसानों की निर्भरता बढ़ गई है और छोटे तथा मझोले किसानों का खेती छोड़कर शहरों की ओर पलायन भी बढ़ता नज़र आ रहा है। इस जद्दोजहद के बीच शाला मौजूद है। शिक्षा के जरिए किसान नई–नई बातों के सीखने और अपनाने में सक्षम बन रहे हैं। साथ ही नई चुनौतियों के समाधान का मार्ग भी शाला से होकर गुज़रता है।

अध्याय के उद्देश्य

1. पारम्परिक और आधुनिक खेती के अन्तर को समझना।
2. औद्योगीकरण की वजह से खेती में आ रहे बदलावों को समझना।
3. खेती और बाजार के रिश्तों को जानना।
4. खेती के पारम्परिक तरीकों की वर्तमान में उपयोगिता।
5. इस सब में शिक्षा की भूमिका व उसके महत्व को जानना।

पारम्परिक खेती और आधुनिक खेती में फर्क

पूरे विश्व में खेती के तरीकों व उस पर निर्भर समाजों में भारी भिन्नता रही है। कहीं पहाड़ी व जंगल के इलाकों में आदिवासी समुदाय अस्थाई कृषि के साथ शिकार व कन्द मूल फल संग्रह करके जीवनयापन करते है तो कहीं पहाड़ों व जंगलों में ही बहुत बड़े पैमाने में बागानी खेती होती है जिसमें चाय, रबर जैसी फसलें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए उगाई जाती हैं या फिर किसान पहाड़ी ढलानों पर सीढ़ीनुमा खेत बनाकर अपने लिए अनाज व चारा उगाते हैं। दूसरी तरफ मैदानों व पठारों पर भी बहुत भिन्न तरह की खेती होती है। भारत जैसे देशों में ज़्यादातर खेती छोटे या मध्यम दर्ज़े के किसान करते हैं। जबकि अमरीका या यूरोप के देशों में बड़ी–बड़ी कम्पनियाँ कई वर्ग किलोमीटर वाले फार्मों में खेती करती हैं। यहाँ हम मुख्य रूप से आधुनिक समय की खेती के कुछ सामान्य बातों पर चर्चा करेंगे।

18 वीं शताब्दी के पहले पूरी दुनिया में ज़्यादातर लोग खेती के सहारे अपना जीवन यापन करते थे और गाँवों में ही रहते थे। पुराने समय में खेती महज अन्न उत्पादन का एक साधन ही नहीं बल्कि एक जीवन

शैली रही है जो किसानों की गृहस्थी पर आधारित थी।

समूचे ग्रामीण समाज और संस्कृति किसान और खेती के इर्द–गिर्द चलती थी। ग्रामीण समाज का हर पहलू, चाहे वह गृह निर्माण हो या पर्व–उत्सव हो, वह खेती के आधार पर होता था। जैसे गाँव के मध्य में किसानों की बसाहट होती थी और घरों के मध्य भाग में अन्न भण्डारण की व्यवस्था की जाती थी। कृषि कार्य पूरा होने तथा फसल की कटाई और भण्डारण के बाद तीज–त्यौहार, मेले–मड़ई, जात्रा आदि शुरू होते थे। लगभग इसी तरह की व्यवस्था कमोबेश दुनिया के सारे कृषि–प्रधान देशों में था।

लेकिन जैसे–जैसे यूरोप व अमेरिका में व्यापार व औद्योगीकरण बढ़ा इस स्थिति में काफी परिवर्तन आता गया। पहले तो खेती में उत्पादकता बढ़ाने के लिए कई कदम उठाए गए जिनके चलते लगातार खेती के उन्नत तरीके खोजे गए। इसके फलस्वरूप अब कम लोग खेतों में काम करके पहले से कई गुना ज़्यादा उत्पादन कर सकते थे। इस बीच शहरों में उद्योग भी बढ़ रहे थे, धीरे–धीरे लोग खेती व गाँव छोड़कर शहरों के कारखानों आदि में काम करने चले गए। गाँव में ज़मीन कुछ लोगों के हाथों में आती गई जो बड़ी–बड़ी जोतों में मशीनों व मज़दूरों से काम करवाते थे और अपनी पूरी उपज को बाहर के बाज़ारों में बेच देते थे। आपके मन में सवाल होगा कि किसानों ने अपने खेतों को कैसे छोड़ा। वास्तव में कई जगहों में बड़े ज़मींदारों ने उन्हें जबरदस्ती बेदखल कर दिया। कई और जगह किसानों ने पाया कि आधुनिक खेती के तरीके छोटी जोतों के लिए लाभप्रद नहीं है और खेती में भारी घाटा होने के कारण वे अपने खेतों को बड़े जोत वालों को बेचने पर विवश हो गये। आधुनिक खेती में ऐसी क्या बातें हैं? जरा देखें –

आधुनिक खेती के कुछ प्रमुख लक्षण

आधुनिक खेती के कुछ प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं – फसल में एकरूपता, मिट्टी की सघन जुताई, कृत्रिम खादों का उपयोग, सिंचाई, कीटनाशक दवाओं का भारी उपयोग, विशिष्ट बीजों का उपयोग।

पुराने समय में किसान अपने परिवार की तमाम ज़रूरतों को पूरा करने के लिए अपने खेतों में तरह–तरह की फसलें बोते थे। छोटे–छोटे टुकड़ों में तरह–तरह की फसलें अलग–अलग समय पर उगती थीं। हरेक फसल को अलग–अलग समय पर पानी देना, खाद देना, निन्दाई–गुड़ाई करना आदि होता था। लेकिन आधुनिक खेती में मुख्य रूप से एक फसल वह भी एक ही विशेष किस्म के बीज की फसल एक लम्बे–चौड़े इलाके में उगाई जाती है। जिस क्षेत्र में जिस फसल को उगाने का सबसे अधिक लाभ है उसे उस इलाके के सारे खेतों में उगाते हैं। इस कारण उनकी उत्पादकता बढ़ाने में भी आसानी होती है। व्यापार में भी।

एक ही तरह की फसल और वह भी अधिक मात्रा में उत्पादन करने के लिए ज़रूरी है कि मिट्टी की जुताई ऐसे हो कि मिट्टी से सारे पोषक तत्व आसानी से पौधों में चढ़ें, मिट्टी में जड़ आसानी से फैले, पानी आसानी से बहे। इसके लिए तरह–तरह के फालों व ट्रेक्टरों का उपयोग किया जाता है। इनकी मदद से कम समय व खर्च में एक समान खेत तैयार हो सकते हैं।

अगर उत्पादन अधिक करना है तो मिट्टी की उर्वरा शक्ति कम होती जायेगी। इसकी भरपाई के लिए लगातार कृत्रिम खादों का उपयोग किया जाता है, जो मुख्य रूप से रासायनिक पदार्थों से बनाई जाती हैं।

अगर पूरे क्षेत्र में एक–सी फसल उगाना है तो यह भी सुनिश्चित करना होगा कि सब जगह पर्याप्त नमी हो – केवल प्राकृतिक वर्षा पर निर्भर नहीं हो सकते हैं। भारी मात्रा में सिंचाई की कृत्रिम व्यवस्था करनी होती है – जिसके तहत भूजल का दोहन बढ़ता है या बड़े जलाशयों में वर्षा के पानी का संचयन करके नहरों के माध्यम से खेतों तक पहुँचाना होता है।

जब किसी बड़े क्षेत्र में एक ही फसल उगाते हैं तो यह पूरी फसल खास तरह की बीमारी या कीड़ों की शिकार हो सकती है। इसे नियंत्रित करने के लिए विशेष कीटनाशकों का उपयोग ज़रूरी है।

आधुनिक खेती में ऐसे बीजों के चयन पर ज़ोर है जो अधिक उत्पादन दे और एक खास गुण की फसल पैदा करे। ऐसे बीज बनें जो तमाम बीमारियों से बच पाए। चयन द्वारा अथवा सूक्ष्म जीवाणु विज्ञान के माध्यम से बीजों के गुणसूत्रों को बदलकर भी ऐसे बीजों को तैयार किया जाता है। यह काम विशेष प्रयोगशालाओं में तथा विशेष बीज–फार्मों में कम्पनियों द्वारा किया जाता है।

उपरोक्त बातों से यह तो स्पष्ट हो गया होगा कि आधुनिक खेती में आधुनिक विज्ञान का अत्यधिक उपयोग है। चाहे वह मशीन के निर्माण में हो या खाद, दवा व बीजों या बाँधों के निर्माण में। दूसरा यह कि इनमें लगातार बदलाव आता रहता है – नित नए–नए तरीके खोजे जाते हैं। तीसरा यह कि इन सारी चीज़ों को किसान बाज़ार से खरीदकर उपयोग करता है। यानी किसान आज केवल अपने घरेलू साधन के आधार पर खेती नहीं कर सकता है। उसे हर कड़ी पर बाज़ार से सामान खरीदना पड़ता है और उसके बदले अपनी फसल को बेचकर पैसा कमाना पड़ता है।

किसान आज बाजार पर किस–किस तरह से निर्भर हैं?

कृषि उपज बेचना

अनाज उगाना जितना जटिल हो गया है लगभग उतना ही जटिल उसे बेचना भी हो गया है। कृषि उपज के मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ारों में तय होते हैं। उन पर बड़े व्यापारी व वृहद कम्पनियों का नियंत्रण है। अनाज के खरीद–फरोख्त में सट्टा बाजार से लेकर बैंकों, कारखानों व सरकार की भूमिका है। अनाज का संधारण और सफाई, तौलना, पैकिंग और परिवहन भी काफी जटिल होता जा रहा है। एक सफल किसान के लिए आज अनिवार्य हो गया है कि वह इन सब बातों को जाने और उनका विश्लेषण करते हुए अपना कामकाज़ चलाए।

किसान हमेशा इस प्रयास में रहता है कि वह खेती की लागत कम करे ताकि फसल कम दाम पर बेच पाए। इसके लिए वह विवश होता है कि वह मज़दूरों व जानवरों की जगह मशीनों से काम ले। इस कारण खेती में लगातार रोज़गार कम होता जाता है और ग्रामीण लोगों को दूसरे काम धन्धे तलाशने पड़ते हैं। अक्सर ऐसी भी परिस्थितियाँ निर्मित होती हैं जब किसान लागत और आमदनी के बीच की खाई को पाट नहीं पाते और अपनी ज़मीन को ही बेचने पर विवश हो जाते हैं।

मध्यम और छोटे किसान ऋण पर किस तरह निर्भर हो गए हैं? उदाहरण सहित समझाइए।

खेती में बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ

आज खेती में बड़ी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का बोलबाला है – खाद, दवा, कीटनाशक आदि वे ही बनाती व बेचती हैं। अकसर वे अपने मुनाफा बढ़ाने के लिए कई तरीके अपनाती हैं जो किसानों के हित में नहीं होते हैं। आज हर देश में किसानों ने बड़े–बड़े संगठन बनाए हैं ताकि वे ऐसे तरीकों का विरोध करें व उन्हें बदलवाएँ।

किसानों के सामने चुनौतियाँ

आधुनिक खेती के चलते किसानों को नई–नई बातें सीखना ज़रूरी हो गया है। रासायनिक खाद, कीटनाशक, बीज के किस्म आदि को समझने के लिए उन्हें कुछ बुनियादी विज्ञान और गणित समझना होगा। चूँकि उनकी लागत और उत्पाद दोनों की कीमत अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ारों से तय होती है, उन्हें कम से कम दुनिया के बाज़ारों की हालत समझना ज़रूरी है। इसके साथ–साथ किसान खेती में धन लगाने के लिए बैंकों व अन्य वित्तीय संस्थाओं पर निर्भर होने लगते हैं। अतः उन्हें वित्तीय व्यवस्थाओं (बैंकों में पैसे जमा करना, निकालना, लोन लेना, पटाना, ब्याज दर आदि) को गहराई से समझना पड़ता है। अगले कुछ दशकों में किसानों को अपने हितों की रक्षा करने के लिए देशव्यापी व अन्तर्राष्ट्रीय संगठन भी बनाने होंगे जिसके लिए उन्हें पूरे देश में संवाद की भाषा व तरीकों को जानना होगा।

खेती के इन आधुनिक तरीकों की यह उपलब्धि रही है कि पिछली दो शताब्दियों में हुए जनसंख्या विस्फोट के बावजूद खाद्यान्न की बढ़ी हुई ज़रूरत को पूरा करने में सफल रही और साथ ही औद्योगिक क्रान्ति के लिए ज़रूरी खेतिहर कच्चे माल की भी आपूर्ति की। साथ–साथ इसके कारण अधिकांश जनसंख्या खेती को त्यागकर दूसरे काम धन्धे कर पाई।

आज सभी जानते हैं कि खेती के ये आधुनिक तरीके मिट्टी को खराब कर रहे हैं, हमारी ज़मीन, हवा व पानी में कीटनाशकों व खादों के ज़हर को घोल रहे हैं। कई तरह की रासायनिक सामग्री व बीज हमारे

खेत व स्वास्थ्य के लिए खतरनाक हैं। आज बहुत से लोग यह मानने लगे हैं कि इस तरह खेती करते रहने से लम्बे समय के पश्चात इसके खतरनाक परिणाम हमारे समक्ष होंगे और इस कारण हमें इस तरह की खेती के विकल्प खोजने होंगे। यह विकल्प खोजने के लिए भी किसानों को आधुनिक शिक्षा हासिल करनी होगी और साथ ही अपने पारम्परिक व पुश्तैनी ज्ञान को भी बचाकर रखना होगा।

आपके क्षेत्र में आधुनिक खेती के कौन–कौन से लक्षण देखे जा सकते हैं और कौन से अभी मौजूद नहीं हैं?

आधुनिक खेती और शिक्षा

पारम्परिक रूप से किसानों के बच्चे किसानी से सम्बन्धित बातों को अपने माता–पिता के साथ काम करते हुए सीखते थे। कहीं–कहीं इसके अलावा पढ़ना–लिखना तथा धार्मिक शिक्षा का भी प्रबन्ध होता था लेकिन इसका लाभ कम ही बच्चे उठाते थे। जब आधुनिक खेती का फैलाव होने लगा तो किसानों पर नए दवाब बने। यह माना गया कि किसान अज्ञानता और रूढ़िवादिता के कारण आधुनिक तरीकों को अपना नहीं पा रहे हैं और साक्षरता व शिक्षा की कमी के कारण वे नए तरीकों को ठीक से उपयोग नहीं कर पा रहे हैं। किसानों को गँवार, निरक्षरता को अन्धापन आदि विशेषण दिए गए और यह जताया गया कि आधुनिक शिक्षा प्राप्त किए बिना किसान सम्मानजनक जीवन नहीं बिता सकते हैं। किसानों व ग्रामीण कारीगरों द्वारा सदियों व पुश्तों से संचित ज्ञान व अनुभव को महत्वहीन मानकर नज़रन्दाज़ किया गया। लेकिन आज किसानों के पारंपरिक ज्ञान को सम्मान की नजर से देखा जाने लगा है।

आधुनिक खेती किसानों से माँग करती है कि वे पढ़ना–लिखना, बुनियादी गणित, विज्ञान, अर्थशास्त्र को सीखें व समझें। इसके अलावा ग्रामीण लोगों को इस बात के लिए अपने आपको तैयार करना होगा कि उन्हें खेती के अलावा अन्य काम धन्धों पर भी निर्भर होना होगा और उसके लिए उन्हें कुछ बुनियादी शिक्षा हासिल करनी ही होगी। इन कारणों से बुनियादी शिक्षा हर ग्रामीण के लिए अत्यावश्यक बताई गई।

पिछले कुछ दशकों से जब आधुनिक तरीकों का दुष्प्रभाव भी उभरकर आया है, आज यह माना जा रहा है कि किसानों का पारम्परिक ज्ञान भी महत्वपूर्ण है। क्या हम ऐसी शिक्षा की व्यवस्था कर पाएँगे जो इस ज्ञान को भी जगह दे और किसानों, खेत मज़दूरों व ग्रामीण कारीगरों के लिए नए रोज़गार के अवसर भी उपलब्ध कराए?

अभ्यास के प्रश्न

1. आपके विचार से आधुनिक खेती का निम्नलिखित सामाजिक तबकों पर क्या प्रभाव पड़ा?

(क) मध्यम किसान (ख) खेतिहर मज़दूर (ग) किसान परिवारों की महिलाएँ (घ) ग्रामीण कारीगर।

इनमें से किन–किन तबकों के बच्चे आज शासकीय शाला में प्रवेश लेते हैं अगर आप ग्रामीण शाला में काम करते हैं तो अपनी शाला में दर्ज छात्रों का विवरण आंकड़ों के रूप में दें।

2. कृषि के विकास तथा किसानों का जीवनस्तर सुधारने में शिक्षा किस प्रकार सहायक हो सकती है?

3. क्या आपने कभी किसी किसान संगठन के बारे में अखबार में पढ़ा है? ऐसे समाचारों को एकत्र कर देखें कि उनकी प्रमुख चिन्ताएँ और माँगें क्या हैं।

दत्त कार्य

1. किसी नजदीकी विद्यालय में कृषक परिवार से आने वाले कक्षा 10 से 12 के किन्हीं तीन विद्यार्थियों से बात करके निम्नलिखित बातें पता करें और फिर अपनी राय दें।

1.1 उनके अभिभावकों के पास कितनी ज़मीन है?

1.2 वे पारम्परिक खेती करते हैं या आधुनिक?

1.3 खेती के काम में इन विद्यार्थियों का योगदान किस प्रकार का होता है?

1.4 इन विद्यार्थियों का खेती के प्रति क्या रवैया है? खेती को पूर्णकालिक व्यवसाय के रुप में अपनाने के बारे में उनका क्या विचार है?

1.5 क्या ये मानते हैं कि शिक्षित किसान ज़्यादा सफल किसान हो सकता है? शिक्षा के अलावा सफल किसानी के लिए और किन–किन बातों की ज़रूरत है?

2. आधुनिक खेती के पक्ष एवं विपक्ष पर प्रकाश डालते हुए एक निबन्ध लिखें।

3. खेती और किसानों की हालत सुधारने के लिए बैंकों की भूमिका को जानने के लिए ग्रामीण क्षेत्र की बैंक के मैनेजर से साक्षात्कार करें और अपने विचारों के साथ एक नोट लिखें।

4. अपने क्षेत्र के दो मध्यम किसान, दो मज़दूर, दो ग्रामीण कारीगर व दो कृषक महिलाओं के साथ बातचीत करें और उनसे पूछें कि स्कूली शिक्षा उनके लिए उपयोगी है या नहीं? उनके अनुसार स्कूली शिक्षा उनके लिए और उपयोगी कैसे हो सकती है!

परियोजना कार्य

1. किसी गाँव का चयन करें जिसमें बहुसंख्यक लोग खेती के जरिए जीवन यापन करते हों। उसमें सर्वेक्षण करके यह पता लगाएँ कि –

1.1 उन चीज़ों की सूची बनाएँ जो किसान घरेलू और कृषि उपयोग के लिए बाज़ार से खरीदते हैं।

1.2 उनकी अनुमानित कीमत (सालाना)।

1.3 उन चीजों की सूची बनाएं जो किसान बाजार में बेचते है।

1.4 उनकी अनुमानित कीमत सालाना।

1.5 उन पर कोई कर्ज़ है? यदि है तो किस बात के लिए लिया है और कितना?

1.6 बच्चों की शिक्षा की स्थिति।

1.7 घर में उपलब्ध भौतिक सुविधाएँ, जैसे– शौचालय, पक्का मकान, बिजली, पंखा, टी.वी., वाहन आदि।

1.8 खेती के संसाधन, जैसे– बिजली की मोटर, डीजल पम्प , ट्रेक्टर, थ्रेशर, हारवेस्टर आदि।

1.9 उनके दादा–नाना के जमाने में बाज़ार से खरीदी और बेची जाने वाली चीज़ों की भी जानकारी एकत्र करें।

1.10 उन दोनों पीढ़ियों के बीच आए बदलाव के विविध मानकों, जैसे– जीवनस्तर, बाज़ार पर निर्भरता, कर्ज़, बच्चो की शिक्षा, शौक पूरे करना आदि के आधार पर तुलना कर अपने विचार प्रस्तुत करें।

सहायक पठन सामग्री

1. आर्थिक विकास की समझ – कक्षा 10 के लिए।

सामाजिक विज्ञान की पाठ्यपुस्तक; राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली; 2006।

पठन सामग्री क्र. 3

औद्योगिक उत्पादन

अध्याय की रूपरेखा

सामान्य परिचय

अध्याय से उद्‌देश्य

विषयवस्तु के शीर्षक–उपशीर्षक

- अठारहवीं सदी में औद्योगिक क्रान्ति
- पृष्ठभूमि
- मज़दूर और किसान की तुलना
- औरतें, बच्चे और औद्योगिकरण
- पूँजीपति एवं पूँजीवाद
- नई संस्कृति
- विश्व व्यवस्था
- औद्योगिक उत्पादन की सीमा – पर्यापरण
- आधुनिक औद्योगिक उत्पादन और शिक्षा
  - उत्पादन की ज़रूरत
  - बाज़ार की ज़रूरत

अभ्यास कार्य

दत्त कार्य / परियोजना कार्य

सहायक पठन सामग्री/ फिल्में

सामान्य परिचय

दुनिया में जो भी आर्थिक परिवर्तन हम देखते है उसमें औद्योगीकरण की महत्वपूर्ण भूमिका है। औद्योगीकरण की प्रक्रिया ने हमें न केवल नए–नए उत्पादन ही दिए हैं, बल्कि काम करने का एक सुव्यवस्थित तरीका भी दिया है। लेकिन यह राह कई चुनौतियों और संघर्षों के घुमावदार रास्तों से होकर गुज़री है। आज भी औद्योगिक विकास के सामने अनेक अनुत्तरित सवाल मौजूद हैं – पर्यावरण का ह्रास उनमें से एक है। इन समस्याओं से निपटने के लिए ज़रूरी है कि नए अनुसन्धान हों, नए नज़रिए से सोचा जाए, प्रणालियों को अपनाया जाए... यह सब सोचने और करने के लिए बुद्धि और कौशल शिक्षा संस्थाओं से निकलेगा। इस सन्दर्भ में शाला की महत्वपूर्ण भूमिका है।

अध्याय के उद्‌देश्य

1. औद्योगिक क्रान्ति के इतिहास को जानना।
2. मशीनीकरण और कारखानों के विकास तथा मज़दूरों की दशा में हुए परिवर्तन को जानना।
3. एक मज़दूर के रूप में औरतों और बच्चों से मुकाबला ।
4. पूँजीवाद और उसके वैश्विक स्वरूप का परिचय।
5. आधुनिक औद्योगिक उत्पादन और शिक्षा का रिश्ता समझना।
6. इस परिप्रेक्ष्य में अपनी शाला तथा विद्यार्थियों को समझना।

औद्योगीकरण

आधुनिक युग में उत्पादन मुख्य रूप में उद्योगों में होता है। लगभग दो सौ साल पहले ज़्यादातर लोग खेती करते थे और ज़्यादातर उत्पादन भी खेतों से ही आता था। लेकिन आज दुनिया के विकसित देशों के ज़्यादातर लोग उद्योगों में तथा उससे जुड़ी सेवाओं में काम करते हैं और बहुत कम लोग खेतों में काम करते हैं। भारत में भी हालाँकि 60 प्रतिशत से अधिक लोग खेतों में काम करते हैं, फिर भी अगर राष्ट्रीय उत्पादन

(जी. डी. पी. या सकल घरेलू उत्पादन) को देखें तो पाएँगे कि केवल 18 प्रतिशत खेतों से आता है ओर 26 प्रतिशत उद्योगों व 56 प्रतिशत सेवाओं के क्षेत्र में हो रहा है। दी गई तालिका में आप अन्य देशों के आँकड़ों से भी तुलना कर सकते हैं। (सेवाएं जिनमें 56 प्रतिशत घरेलू उत्पादन होता है उनके अन्तर्गत यातायात, बैंक, टेलीफोन आदि भी शामिल हैं जो वास्तव में औद्योगिक उत्पादन से गहराई से जुड़े हैं।)

तालिका – रोज़गार और उत्पादन में विभिन्न क्षेत्रों का योगदान

1. रोज़गार – आबादी का प्रतिशत

	सं. रा. अमरीका	ब्रिटेन	चीन	भारत
कृषि	2	2	40	52
उद्योग	19	21	27	14
सेवा	78	77	33	34

2. सकल घरेलू उत्पादन का प्रतिशत

	सं. रा. अमरीका	ब्रिटेन	चीन	भारत
कृषि	1	1	10	18
उद्योग	20	21	46	27
सेवा	79	78	44	55

विकसित देश, जैसे– अमरीका या ब्रिटेन में आप देख सकते हैं कि कामकाजी आबादी के केवल 2 प्रतिशत लोग खेती के काम में लगे हैं और लगभग 20 प्रतिशत लोग उद्योगों में काम करते हैं।

भारत में इसकी तुलना में कितने प्रतिशत लोग कृषि कार्य में लगे हैं? कितने प्रतिशत लोग उद्योगों में काम करते हैं?

भारत में 52 प्रतिशत लोग खेती में काम करते हुए भी कुल उत्पादन में कृषि का योगदान केवल 18 प्रतिशत है जबकि उद्योग और सेवा में 27 और 55 प्रतिशत का योगदान होता है।

अठारहवीं शताब्दी में इंग्लैंड में औद्योगिक क्रान्ति शुरू हुई और धीरे–धीरे पूरे विश्व में औद्योगिक उत्पादन के तरीके फैल गए। इस आलेख में हम पहले औद्योगिक क्रान्ति के बारे में कुछ पढ़ेंगे और उसके बाद आधुनिक औद्योगिक उत्पादन की विशिष्टताओं पर विचार करेंगे। ऐसी उत्पादन प्रणाली किस तरह के शिक्षण की माँग करती है, इस बात पर भी विचार करेंगे।

18 वीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति

पृष्ठभूमि

पन्द्रहवीं शताब्दी से यूरोप और एशिया में कई परिवर्तन हो रहे थे जो व्यापार और औद्योगिक उत्पादन और शहरीकरण को बढ़ावा दे रहे थे। व्यापार के बढ़ने के साथ–साथ कारीगरों के उत्पादन में व्यापक विस्तार हुआ। बढ़ती माँग के कारण ज़्यादा लोग कपड़ा बुनने, लकड़ी या धातु की चीज़ें बनाने में लग गए। इन काम धन्धों के आयोजन में भी परिवर्तन होने लगा। जैसे कपड़ा उद्योग की अलग–अलग कड़ियाँ – सूत कातना, रंगना, बुनना, छपाई, आदि विशिष्ट कारीगर करने लगे। व्यापारी लोग अपने मुंशियों के माध्यम से इन कारीगरों को काम देते और उनसे सामान खरीकर दूर–दराज के बाज़ारों में बेचते। जब ज़्यादा लोग कारीगरी में लगने लगे, उन्होंने बाज़ार की माँग को देखते हुए नए–नए तकनीक अपनाने लगे जो काम को जल्दी या बेहतर करने में मदद करे। इन चीज़ों को बनाने के लिए कच्चा माल, जैसे–कपास भी अधिक मात्रा में उगाया जाने लगा और उनका व्यापार भी बढ़ा। समय के साथ व्यापारियों के पास काफी धन इकट्ठा हुआ। ऋण देने व लेने के लिए और बीमा के लिए संस्थाएँ व व्यवस्थाएँ बनीं। उन दिनों कुछ देशों, खासकर इंग्लैंड जैसे देशों में शासन, व्यापार और उद्योगों की ज़रूरतों को ध्यान में रखते हुए नीतियाँ बनाईं। इस बीच इंग्लैंड में

उत्पादन के तरीकों व उपकरणों में तेज़ी से बदलाव आया, जिसके चलते औद्योगिक उत्पादन में आमूल परिवर्तन हुए। औद्योगीकरण वैज्ञानिक तकनीकों व मशीनों का अधिक से अधिक उपयोग आधुनिक औद्योगीकरण की सबसे बड़ी विशेषता मानी जाती है। ऐसी मशीनें बनीं जो कई लोगों का काम एक साथ कर सकती थीं। इससे न केवल काम की गति में तेज़ी आई, बल्कि उत्पादन की प्रक्रियाओं में भी कई बदलाव आए और उत्पादन की गुणवत्ता में भी काफी सुधार आया। उदाहरण के लिए, लौह अयस्क को गलाने तथा उससे इस्पात बनाने के तरीके से न केवल इस्पात सस्ता हुआ बल्कि उसकी गुणवत्ता में भी सुधार आया जिससे नई–नई मशीनें बनाने में मदद मिली। भारी मशीनों को चलाने के लिए ऊर्जा पहले पशुओं और बाद में नदियों के बहाव से मिलती थी। औद्योगिक क्रान्ति के समय कोयले की मदद से बनी वाष्प की शक्ति का उपयोग होने लगा जिससे मशीन तेज़ी और निरन्तरता के साथ चल सकती थी। ये मशीनें महँगी थीं और छोटे कारीगर इन्हें स्थापित नहीं कर सकते थे। न ही वे भाप के इंजिन आदि का उपयोग कर सकते थे। अब धनी व्यापारी आदि अपनी पूँजी को इन मशीनों को खरीदने व स्थापित करने में लगाया। वे एक नहीं बल्कि अनेक मशीनों की स्थापना कर पाए। चूँकि अब उत्पादन बड़े पैमाने पर होने लगा, कारीगरों के घरों की जगह बड़े कारखाने उत्पादन स्थल बन गए। कारखानों में सैकड़ों मज़दूर मशीनों की मदद से एक ही छत के नीचे मालिक की निगरानी में काम करने लगे थे।

जिन उद्योगों में मौसम के साथ उत्पादन घटता–बढ़ता रहता था वहाँ उद्योगपति मशीनों की बजाए मज़दूरों को ही काम पर रखना पसन्द करते थे। बहुत सारे उत्पाद केवल हाथ से ही तैयार किए जा सकते थे। मशीनों से एक जैसे तय किस्म के उत्पाद ही बड़ी संख्या में बनाए जा सकते थे। लेकिन बाज़ार में अक्सर बारीक डिज़ाइन और खास आकारों वाली चीज़ों की काफ़ी माँग रहती थी। उन्नीसवीं सदी के ब्रिटेन में उच्च वर्ग के लोग – कुलीन और पूँजीपति वर्ग – हाथों से बनी चीज़ों को तरजीह देते थे। हाथ से बनी चीज़ों को परिष्कार और सुरूचि का प्रतीक माना जाता था। उनकी फ़िनिश अच्छी होती थी। उनको एक–एक करके बनाया जाता था और उनका डिज़ाइन अच्छा होता था। मशीनों से बनने वाले उत्पादों को उपनिवेशों में निर्यात कर दिया जाता था।

आज तक हम देखते हैं कि मशीनी उत्पादन के पूरी दुनिया पर हावी होने के बावजूद, बहुत बड़ी मात्रा में घरों में या छोटी दुकानों में हाथ से उत्पादन जारी है। आज भी जब बड़े कारखाने आर्थिक मन्दी के कारण बन्द हो जाते हैं या उनमें मज़दूरों की छटनी होती है, वे मज़दूर दस्तकारी पर निर्भर हो जाते हैं।

1. **अपने दैनिक उपयोग की चीज़ों की सूची बनाएँ और देखें कि किस तरह की चीज़ें कारखानों में बनती हैं और किस तरह की चीज़ें हस्तशिल्प से बनती हैं।**
2. **दस्तकारों, पारम्परिक कामों में लगे कारीगारों आदि के द्वारा आम तौर पर स्वचलित मशीनों के उपयोग का विरोध किया जाता है। वे इसका विरोध क्यों करते होंगे? उसकी क्या चिन्ताएँ रहती होगीं? इसका समाधान किस–किस प्रकार हो सकता है?**

मज़दूर

औद्योगीकरण का परिणाम यह भी हुआ कि अर्थव्यवस्था में बढ़ोत्तरी की दर स्थिर हो चली – उत्पादन के बढ़ने के साथ–साथ प्रति व्यक्ति के हिसाब से लोगों की वास्तविक आमदनी भी बढ़ती रही–गाँवों से आबादी का शहरों में स्थानान्तरण होता रहा। यह भी उतना ही सत्य है कि बच्चों के श्रम का उद्योगों में बेहिसाब शोषण किया गया, कारीगरों की पारम्परिक कुशलताओं का अवसान होने लगा और नए औद्योगिक शहरों में रहने के हालात दयनीय और कई मायनों में अमानवीय रहे।

पहले सामन्ती युग में श्रम किसी को भी खुले रूप से उपलब्ध नहीं था कि कोई भी पैसे देकर काम करवा ले। मेहनत करने वाले लोग किसी मालिक के गुलाम या ज़मींदार के बन्धुआ किसान के रूप में बन्धे थे। वे किसी अन्य व्यक्ति को अपना श्रम बेचने के लिए स्वतंत्र नहीं थे। पर सामन्ती युग के अन्त में मज़दूर किसी ज़मींदार से बन्धे नहीं रहे और किसी को भी घण्टे या काम के हिसाब से अपना श्रम बेच सकते थे। उन्हें अपने काम के बदले मज़दूरी के रूप में पैसे मिलते थे जिससे वे अपनी ज़रूरत की चीज़ें बाज़ार से खरीद सकते थे। औद्योगीकरण ने एक नए तरह के श्रमिक का निर्माण किया। श्रमिक किसी एक मालिक या कारखाने से बन्धे नहीं थे। वे किसी भी कारखाने में जहाँ उन्हें अधिक वेतन या मज़दूरी मिले वहाँ जाकर काम

ले सकते थे। अगर कारखाने में मज़दूरों की ज़रूरत थी तो उन्हें काम मिलता, नहीं तो उन्हें बेरोज़गार घूमना पड़ता। मज़दूर का जीवन यापन तभी सम्भव है जब उसके श्रम शक्ति को कोई मालिक खरीदे और उसके बदले उसे पैसे दे। इन पैसों से वह बाज़ार से अपने लिए ज़रूरी सामग्री खरीदेगा। इस तरह श्रमिक बाज़ार पर पूरी तरह निर्भर हो जाता है।

एक औद्योगिक मज़दूर और एक किसान अपनी जीविकार्जन कैसे करते इसकी तुलना करें।

बाज़ार में श्रम की बहुतायत से मज़दूरों की ज़िन्दगी भी प्रभावित हुई। जैसे ही नौकरियों की खबर गाँवों में पहुँची सैकड़ों की तादाद में लोगों के हुजूम शहरों की तरफ चल पड़े। नौकरी मिलने की सम्भावना यारी–दोस्ती, कुनबे–कुटुम्ब के जरिए जान–पहचान पर निर्भर करती थी। अगर किसी कारखानों में आपका रिश्तेदार या दोस्त लगा हुआ है तो नौकरी मिलने की सम्भावना ज़्यादा रहती थी। सबके पास ऐसे सामाजिक सम्पर्क नहीं होते थे। रोज़गार चाहने वाले बहुत सारे लोगों को हफ्तों इन्तज़ार करना पड़ता था। वे पुलों के नीचे या रैन–बसेरों में राते काटते थे।

बहुत सारे उद्योगों मे मौसमी काम की वजह से कामगारों को बीच–बीच में बहुत समय तक खाली बैठना पड़ता था। काम का सीज़न गुजर जाने के बाद गरीब दोबारा सड़क पर आ जाते थे। कुछ लोग जाड़ों के बाद गाँवों में चले जाते थे जहाँ इस समय काम निकलने लगता था। लेकिन ज़्यादातर लोग शहर में ही छोटा–मोटा काम ढूँढ़ने की कोशिश करते थे जो उन्नीसवीं सदी के मध्य तक भी आसान काम नहीं था।

उन्नीसवीं सदी की शुरूआत में वेतन में कुछ सुधार आया। लेकिन इससे मज़दूरों की हालत में बेहतरी का पता नहीं चलता। मज़दूरों की आमदनी भी सिर्फ वेतन दर पर ही निर्भर नहीं होती थी। रोज़गार की अवधि भी बहुत महत्वपूर्ण थी : मज़दूरों की औसत दैनिक आय इससे तय होती थी कि उन्होंने कितने दिन काम किया है। उन्नीसवीं सदी के मध्य में सबसे अच्छे हालत में भी लगभग 10 प्रतिशत शहरी आबादी निहायत गरीब थी। 1830 के दशक में आई आर्थिक मन्दी जैसे दौरों में बेरोज़गारों की संख्या विभिन्न क्षेत्रों में 35 से 75 प्रतिशत तक पहुँच जाती थी। उसके बाद लगातार उद्योग में मन्दी और तेज़ी का चक्र चलता रहा है – एक दौर में उद्योगों व रोज़गार का विस्तार और दूसरे में बेरोज़गारी और छटनी।

आर्थिक मन्दी और तेज़ी के चक्र का मज़दूरों पर क्या प्रभाव पड़ता है?

बेरोज़गारी की आशंका के कारण मज़दूर नयी प्रौद्योगिकी से चिढ़ते थे। जब ऊन उद्योग में स्पिनिंग मशीन का इस्तेमाल शुरू किया गया तो हाथ से ऊन कातने वाली औरतें इस तरह की मशीनों पर हमला करने लगीं। मशीनों के इस्तेमाल पर यह टकराव लम्बे समय तक चलता रहा।

एक करिश्माई व्यक्तित्व वाले जनरल नेड लुड के नेतृत्व में लुडिज़्म (1811–17) नामक आन्दोलन चलाया गया। यह एक अन्य किस्म के विरोध प्रदर्शन का उदाहरण था। लुडिज़्म के अनुयायी मशीनों की तोड़–फोड़ में ही विश्वास नहीं करते थे, बल्कि न्यूनतम मज़दूरी, नारी एवं बाल श्रम पर नियंत्रण, मशीनों के आविष्कार से बेरोज़गार हुए लोगों के लिए काम और कानूनी तौर पर अपनी माँगें पेश करने के लिए मज़दूर संघ या ट्रेड यूनियन बनाने के अधिकार की भी माँग करते थे।

औद्योगीकरण के प्रारम्भिक वर्षों में श्रमजीवियों के पास उन कठोर कार्यवाहियों, जिनसे उनके जीवन में फेरबदल हो रहे थे, के खिलाफ अपना गुस्सा जाहिर करने के लिए न तो वोट देने का अधिकार था और न ही कोई कानूनी तरीका। अगस्त 1819 में 80,000 लोग अपने लिए लोकतांत्रिक अधिकारों, अर्थात राजनीतिक संगठन बनाने, सार्वजनिक सभाएँ करने और प्रेस की स्वतंत्रता के अधिकारों की माँग करने के लिए मैनचेस्टर में सेंट पीटर्स मैदान में शान्तिपूर्वक इकट्ठे हुए। लेकिन उनका बर्बरतापूर्वक दमन कर दिया गया। इसे 'पीटर लू' के नरसंहार के नाम से जाना जाता है। उन्होंने जिन अधिकारों की माँग की थी उन्हें उसी वर्ष संसद द्वारा पारित छः अधिनियमों द्वारा नकार दिया गया।

धीरे धीरे मज़दूर यह समझने लगे कि मशीनों को तोड़कर या विरोध करके उनकी हितों की रक्षा नहीं हो सकती है। वे यह भी समझने लगे कि मज़दूर व्यक्तिगत रूप से मालिकों के सामने कमज़ोर पड़ जाते हैं मगर जब संगठित हो जाते हैं तब वे ताकत के साथ बेहतर समझौता कर सकते हैं। इस प्रकार मज़दूर

संगठन – यूनियन बनाने लगे जो उनके सामूहिक अधिकारों, बेहतर काम के हालातों, उचित वेतन तथा जनतांत्रिक अधिकारों के लिए संघर्ष करते थे। यूनियन बनाना तथा यूनियन के माध्यम से मालिकों से साझा समझौता करना एक बुनियादी जनतांत्रिक अधिकार माना जाने लगा।

भारत में भी अँग्रेज़ी शासनकाल में मज़दूरों के संगठन बनने लगे थे और मज़दूरों के अधिकारों तथा हितों की रक्षा के लिए आवाज़ें उठने लगी थीं। भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त ने 8 अप्रैल 1929 को असेम्बली में बम फैंका था और असेम्बली में एक परचा भी बाँटा था। उसमें कुछ ऐसे विचाराधीन विधेयकों का जिक्र है जिसमें मज़दूरों के अधिकारों को सीमित किया जा रहा था। इस परचे को पढ़ें और यह जानने का प्रयास करें कि उस समय देश का औद्योगिक माहौल कैसा होगा?

आपके इलाके में कौन–से मज़दूर संगठन हैं और वे किन माँगों के लिए संघर्ष कर रहे हैं?

औरतें, बच्चे और औद्योगीकरण

औद्योगिक क्रान्ति एक ऐसा समय था जब औरतों और बच्चों के काम करने के तरीकों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आए। ग्रामीण गरीबों के बच्चे हमेशा घर में या खेत में अपने माता–पिता या सम्बन्धियों की निगरानी में तरह–तरह के काम किया करते थे जो समय, दिन या मौसम के अनुसार बदलते रहते थे। इसी प्रकार, गाँवों में औरतें भी खेत के काम में सक्रिय रूप से हिस्सा लेती थीं। वे पशुओं का पालन–पोषण करती थीं, लकड़ियाँ इकट्ठे करती थीं और अपने घरों में चरखे चलाकर सूत कातती थीं।

कारखानों में काम करना इससे बिलकुल अलग किस्म का होता था, वहाँ लगातार कई घण्टों तक एक ही तरह का काम कठोर अनुशासन तथा तरह–तरह के दण्ड की भयावह परिस्थितियों में कराया जाता था। मर्दों की मज़दूरी मामूली होती थी, उससे अकेले घर का ख़र्च नहीं चल सकता था जिसे पूरा करने के लिए औरतों और बच्चों को भी कुछ कमाना पड़ता था। ज्यों–ज्यों मशीनों का इस्तेमाल बढ़ता गया, काम पूरा करने के लिए मज़दूरों की ज़रूरत कम होती गई। उद्योगपति मर्दों की बजाय औरतों और बच्चों को अपने यहाँ काम पर लगाना अधिक पसन्द करते थे क्योंकि एक तो उनकी मज़दूरी कम होती थी और दूसरे वे अपने काम की घटिया परिस्थितियों के बारे में भी कम आन्दोलित हुआ करते थे। स्त्रियों और बच्चों को सूती कपड़ा उद्योग में बड़ी संख्या में काम पर लगाया जाता था। रेशम, फीते बनाने और बुनने के उद्योग–धन्धों में और धातु उद्योगों में बच्चों के साथ–साथ औरतों को ही अधिकतर नौकरी दी जाती थी। अनेक मशीनें तो कुछ इसी तरह की बनाई गई थीं कि उनमें बच्चे अपनी फुर्तीली उँगलियों और छोटी–सी कद–काठी के कारण आसानी से काम कर सकते थे। बच्चों को अकसर कपड़ा मिलों में रखा जाता था क्योंकि वहाँ सटाकर रखी गई मशीनों के बीच से छोटे बच्चे आसानी से आ–जा सकते थे। बच्चों से कई घण्टों तक काम लिया जाता था, यहाँ तक कि उन्हें हर रविवार को भी मशीनें साफ करने के लिए काम पर आना पड़ता था, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें ताज़ी हवा खाने या व्यायाम करने का भी कोई मौका नहीं मिलता था। कई बार तो बच्चों के बाल मशीनों में फँस जाते थे या उनके हाथ कुचल जाते थे। यहाँ तक कि बच्चे काम करते–करते इतने थक जाते थे कि उन्हें नींद की झपकी आ जाती थी और वे मशीनों में गिरकर मौत के मुँह में चले जाते थे। कोयले की खानें भी काम करने के लिहाज़ से बहुत खतरनाक होती थीं। खानों की छतें धँस जाती थीं अथवा वहाँ विस्फोट हो जाता था, और चोटें लगना तो वहाँ आम बात थी।

भारतीय श्रम कानून

भारत सरकार ने श्रमिकों के अधिकारों व हित के लिए अनेक कानून बनाए हैं, जिनमें से कुछ हैं–

1. बाल श्रम (प्रतिबन्ध एवं विनियमन) अधिनियम, 1986 [Child labour (Prohibition and Regulation) Act]
2. कारखाना अधिनियम, 1948
3. The Mines Act, 1952
4. बन्धुआ मज़दूर प्रणाली अधिनियम, 1976

औरतों को मज़दूरी मिलने से न केवल वित्तीय स्वतंत्रता मिली बल्कि उनके आत्मसम्मान में भी बढ़ोतरी हुई। लेकिन इससे उन्हें जितना लाभ हुआ उससे कहीं ज़्यादा हानि काम की अपमानजनक परिस्थितियों के कारण हुई। अक्सर उनके बच्चे पैदा होते ही या शैशवावस्था में ही मर जाते थे और उन्हें अपने औद्योगिक काम की वजह से मजबूर होकर शहर की घिनौनी व गन्दी बस्तियों में रहना पड़ता था।

आपके यहाँ मज़दूर औरतों की दशा के बारे में पता करके देखें कि क्या अन्तर आया है?

पूँजीपति और पूँजीवाद

उत्पादन की सभी बातों का निर्णय निजी तौर पर पूँजी के मालिक के हाथ में हो गया पूँजी के मालिक शुरू में निजी व्यक्ति थे जो अपने पारिवारिक जमा धन का निवेश करके मुनाफा कमाना चाहते थे। कभी एक से अधिक लोग साझेदारी से भी निवेश करते थे। पूँजीपतियों के बीच सतत प्रतिस्पर्धा बनी रहने लगी। इस होड़ में एक ही ध्येय होता – दूसरे को पीछे करके ज़्यादा माल बेचकर, या वही माल कम कीमत में बेचकर या मिलता जुलता माल ज़्यादा लुभावना बनाकर अपना मुनाफा बढ़ाना। इस प्रतिस्पर्धा के चलते पूँजी लगाने वाला हर व्यक्ति बेहतर तकनीकों, मशीनों, अधिक से अधिक सस्ते मज़दूरों, अधिक से अधिक सस्ते कच्चे माल की फिराक में रहता था– फिर ये जहाँ से भी, जैसे भी प्राप्त हो जाएँ।

इसका एक मतलब यह था कि लगातार पूँजी की मात्रा में वृद्धि करके नई–नई मशीनें बनवाना और अधिक उत्पादन करके और अधिक मात्रा में बेचना पड़ता था। इस प्रकार दिनों दिन समाज में संचित पूँजी की मात्रा बढ़ती गई, उत्पादन क्षमता बढ़ती गई और प्रकृति का दोहन भी और तेज़ी से होने लगा। नई मशीनों व तरीकों से उत्पादन बढ़ाना तभी सम्भव था जब कोई विज्ञान और टेक्नौलॉजी का उपयोग करते हुए नई–नई मशीनों व उत्पादों का आविष्कार करें। यानी इसके लिए ऐसी संस्थाएँ व लोगों की ज़रूरत थी जो पूर्णकालिक रूप में अध्ययन, शोध और खोजबीन में लगे रहें।

क्या कोई पूँजीपति इस होड़ से दूर रह सकता है? कैसे? क्यों?

नई संस्कृति

सम्पत्ति होना इतिहास में कोई नई बात नहीं थी और न ही लोगों का धनवान बनने की कोशिश करते रहने में कुछ नया था। पूँजीवाद के तहत नया यह था कि लोगों में आर्थिक लेन–देन से लाभ कमाने का एक नियमित, स्थाई, सतत रुझान व आग्रह अपने अनुरूप व्यवस्थाएँ बनाने लगा। ऐसा करने के लिए एक नए प्रकार के व्यवसायी का उद्भव जरूरी हो गया। ऐसा उद्यमी व्यक्ति जो मेहनती, चुस्त व क्रियाशील हो, कुल–कुटुम्ब के कर्तव्यों, रिवाज़ों, परंपराओं, निषेधों आदि से मुक्त हो, जो पारलौकिक रुचियों की बजाए इस लोक में कुछ अलग करने, बनाने की उत्कंठा से प्रेरित हो, व्यावहारिक व अनुशासित हो, दूरगामी नज़र रखता हो, नए–नए अवसरों को खोजने को लालायित हो।

17वीं शताब्दी से विकसित होने वाली यह पूँजीवादी संस्कृति उस समय की प्रतिष्ठित कुलीन व दरबारी संस्कृति से बुनियादी रूप से व सचेत रूप से फर्क थी। वह तार्किकता को महत्व देती थी, आस्था व विश्वासों को नहीं, शुरू से ही साक्षरता पर आधारित थी जबकि कुलीन वर्ग में कई रौबदार निरक्षरों का मिल जाना अचरज की बात नहीं थी। वह खून–पसीने की कमाई के संस्कार पर खड़ी थी जबकि कुलीन वर्ग में विश्राम व परिष्कार का आदर्श विद्यमान था और जिसमें सम्पन्नता का प्रदर्शन वांछनीय था जो पूँजीवादी संस्कृति में तब अच्छा नहीं समझा जाता था। पूँजीवादी संस्कृति में व्यक्तिवाद की धारणा मजबूत बनी और निहायत ज़रूरी भी। उसका दर्शन व्यक्ति की अपनी उपलब्धि, अधिकार और चेतना पर ज़ोर देता था।

विश्व व्यवस्था

पूँजीवाद शुरू से ही विश्व की अर्थव्यवस्था का मसला रहा, एक राष्ट्र–राज्य का नहीं। कारखाने तभी चल सकते थे जब दुनियाभर में उनमें निर्मित माल बिकने जाए। पूँजीवाद कभी भी यह इजाज़त नहीं देता कि राष्ट्रीय सीमाएँ उसकी महत्वाकांक्षाओं को सीमित करें। इस विश्वस्तरीय अर्थव्यवस्था में एक समान राजनैतिक व्यवस्था का होना ज़रूरी नहीं है। बल्कि इसके अन्तर्गत कई राजनैतिक इकाइयाँ और सांस्कृतिक व्यवस्थाएँ मौजूद रह सकती हैं। इस अर्थव्यवस्था का ज़रूरी पहलू अगर कुछ है तो यह कि इसमें उत्पादन बाजार में बेचने के उद्देश्य से होता है ताकि अधिक से अधिक लाभ कमाने के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके।

सत्रहवीं शताब्दी से यूरोप के देश जैसे हॉलैंड, इंग्लैंड, फ्रांस, स्पेन आदि दूसरे महाद्वीपों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने में लगे हुए थे। दक्षिण अमरीका, अफ्रीका, एशिया के कृषि प्रधान देशों को उपनिवेश के रूप में बदला गया ताकि वे यूरोप के देशों को धन, कच्चे माल की आपूर्ति करें तथा औद्योगिक देशों में बने माल को खरीदें। इसके फलस्वरूप उन देशों की प्राकृतिक सम्पदा, कृषि और कारीगरी पर काफी

नकारात्मक प्रभाव पड़ा।

पूँजीवाद के विकास का एक दौर ऐसा था जब दुनिया के अनेक देशों को उपनिवेश बना कर उन पर शासन किया गया। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद उपनिवेशवाद का यह दौर खत्म हुआ। अब पूँजी और व्यापार के नियमन के लिए वैश्विक स्तर पर संस्थाएँ हैं, जैसे – विश्व व्यापार संगठन।

औद्योगीकरण की एक सीमा है पर्यावरण

औद्योगीकरण एक तरह से प्रकृति के अन्धाधुन्ध दोहन पर आधारित है और यह अनिश्चित काल तक और अनिश्चित पैमाने में नहीं चल सकता है। पानी, हवा, जंगल, ऊर्जा के स्रोत आदि सीमित मात्रा में ही उपलब्ध हैं। साथ ही इस दोहन व प्रदूषण से पर्यावरण का सन्तुलन जो बिगड़ जाता है, उससे भी उत्पादन एक ऊपरी सीमा से टकरा जाता है।

इससे कई तरह की सामाजिक विसंगतियाँ भी उत्पन्न होती हैं – अकसर जो लोग पर्यावरणीय ह्रास का सामना करते हैं, वे गरीब और असहाय होते हैं। उदाहरण के लिए जंगलों के कटने से दलित और आदिवासी महिलाओं को पानी और ईंधन के लिए अधिक परेशानी झेलनी पड़ती है। आदिवासियों के इलाकों में ही खान और बाँध बनाए जाते हैं। विश्व स्तर पर भी कौन पर्यावरण को बिगाड़ता है और कौन उसका भरपाई करेगा यह एक मुद्दा बना हुआ है। औद्योगिक रूप से विकसित देश जो सबसे अधिक ऊर्जा और संसाधन की खपत करते हैं, इसका भार विकासशील देशों पर थोपना चाहते हैं। यह आज के अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों के केन्द्र में है।

आधुनिक औद्योगिक उत्पादन और शिक्षा

आइए अब औद्योगीकरण का शिक्षा के साथ जुड़े सम्बन्ध पर गौर करें। इतिहास के दौर को देखने पर हम पाते हैं कि पूँजीवादी औद्योगीकरण के प्रभाव से मध्यम वर्ग का जबरदस्त विस्तार हुआ। पूँजी के हिसाब–किताब के लिए पेशेवर तंत्र की ज़रूरत पैदा हुई – लिपिक, अकाउंटेंट, प्रबन्धक, निरीक्षक, रिपोर्टर आदि। इन्हीं की मदद से बाज़ार में होने वाले बदलावों का तुरन्त और ज़्यादा से ज़्यादा फायदा उठाने की स्थिति में रहा जा सकता था। इसीलिए शायद किसी मध्ययुगीन यूरोपीय शहर में पूँजीवाद के विकास का पहला संकेत वहाँ स्थापित होने वाले प्रारम्भिक स्कूल से मिल जाता था जिसमें मुख्य रूप से पढ़ना, लिखना व जोड़–घटाना आदि ही सिखाने पर ज़ोर होता था। नए व्यावसायिक तंत्र का सारा काम ही कागज के नियंत्रण से चला करता था। स्टाक एक्सचेंज वह नई संस्था थी जो बड़े स्तर के व्यावसायिक लेन–देन का केन्द्र बन के उभर चुकी थी।

मध्यम वर्ग के इस विस्तार के पीछे तकनीकी विकास का हाथ माना जा सकता है। इसके चलते भौतिक रूप से उत्पादन के काम के लिए लगने वाले मज़दूरों की संख्या कम हो रही थी और श्रमिक वर्ग के बहुतेरे लोगों को प्रशासनिक किस्म के कामों में लगाया जाने लगा था इसी समय राजकीय तंत्र का भी जबरदस्त फैलाव होने लगा। इन सब बातों का शिक्षा के लिए क्या निहितार्थ था? विचार करें।

जो श्रमिक कारखानों में काम कर रहे थे, उनसे शुरू में शिक्षित होने की अपेक्षा तो नहीं थी। लेकिन बहुत से मज़दूर खुद की मेहनत से साक्षर हुए थे और विभिन्न तरह के साहित्य पढ़ने में रुचि रखते थे। चूँकि उन्हें बदलते समाज में रहना था, नए नए काम धन्धों में लगना था, और पैसों के बदले बाज़ार से अपने जीविका के साधन खरीदना था, न्यूनतम साक्षरता तथा गणितीय क्षमताओं की ज़रूरत हर मज़दूर को तो थी ही। साथ–साथ मालिक भी यह महसूस करते थे कि शिक्षित मज़दूर मशीनों की बेहतर देखरेख कर पातें हैं और ज़्यादा व्यवस्थित काम भी कर पाते हैं। धीरे–धीरे जब औद्योगिक कार्य केवल शारीरिक श्रम या यांत्रिक काम न रहा तो निर्देश पढ़ना, उनके अनुरूप गणना करके मशीनों को चलाना ज़रूरी हो गया और ऐसे में निरक्षर मज़दूर काम न आते थे।

उत्पादन की ज़रूरत

अगर कारखानों में नियमानुसार अनुशासित काम होना है तो लोगों में उस तरह की मानसिकता की तैयारी करानी होती है (नियम से समय से आना, बिना सवाल किए दिए काम को लगातार करते रहना, सैकड़ों मज़दूरो के साथ काम करना, अधिकारियों व मैनेजरों व फोरमैंनों की श्रृंखला को स्वीकार करना...)। उत्पादन

की एक और ज़रूरत है – पढ़ा–लिखा और कुशल कामगार जो छपे निर्देशों का पालन करे तथा उत्पादन के मापदण्डों का पालन कर पाए। पिछले कुछ दशकों से यह देखा गया है कि कठिन मेहनत वाले कामों के लिए तो मशीनें बन गई हैं। एक से काम के लिए भी मशीनें बन गई हैं। अतः अब उत्पादन में बहुत कम श्रमिकों की ज़रूरत रह गई है। लेकिन अब ऐसे कामगारों की ज़रूरत है जो उत्पादन से सम्बन्धित जानकारियों का विश्लेषण करके निर्णय लें कि अब क्या करना है। इसे आजकल सूचना, विश्लेषण और प्रबन्धन कहते हैं। उत्पादन ऐसे भी कुछ लोगों की माँग करता है जो लगातार नई राह खोजें और सृजनशील हों।

सामाजिक नियंत्रण की ज़रूरत

अठारहवीं शताब्दी में इंग्लैंड जैसे देश में अचानक लाखों की तादात में मज़दूर गाँव छोड़कर शहरों की बस्तियों में आ बसे थे। यह तबका समाज के किसी कुलीन या अभिजात्य तबके के अधीन न होकर स्वतंत्र रहा। इस तबके के लोग खास धार्मिक भी नहीं थे और चर्च जाना या पादरियों की बातें सुनना उन्हें नागवार था। ऐसे में यह तबका व्यवस्था विरोधी, अराजकता पसन्द, और जुझारू बनते गया। मध्यम वर्ग के लोगों को यह हमेशा एक खतरे के रूप में दिखने लगा कि कभी भी यह नया तबका पूरे समाज की व्यवस्था को उखाड़ने में अपना दम न लगा दे। मध्यम वर्ग और इस नए निम्न वर्ग के बीच सांस्कृतिक सम्बन्ध बाँधने के लिए स्कूल और शिक्षा को एक कारगर उपाय के रूप में देखा जाने लगा। इसके चलते अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में सार्वजनिक शिक्षा के लिए विशेष प्रयास शुरू हुए जो आधुनिक शिक्षा व्यवस्था की नींव बनीं।

बाजार की ज़रूरत

हमने देखा था कि उद्योगों में उत्पादन बहुत बड़े पैमाने पर होता है जिन्हें बेचने के लिए पूरे देश क्या पूरी दुनिया के बाज़ार की आवश्यकता है। हम जानते हैं कि किसी भी चीज़ की माँग लोगों की संस्कृति, भावना, सोच, रूचि आदि पर निर्भर है। अतः शिक्षा ऐसी नई रूचियाँ पैदा करने व रुचियों में समरूपता लाने का एक माध्यम बन जाती है। शिक्षा हमें इस बात के लिए भी तैयार कर देती है कि हम नए–नए संचार माध्यमों से नए–नए उत्पादनों के बारे में जाने व सीखें व उनका उपयोग करने लगें। जैसे– दाँत मंजन कैसे करना, किस तरह के कपड़े पहनना, किस तरह की दवाओं का उपयोग करना आदि। आधुनिक उद्योगों के लिए बाज़ार निर्माण में स्कूली शिक्षा की बहुत अहम भूमिका है।

उपरोक्त बातों को देखते हुए क्या आप आधुनिक शिक्षा के उन तत्वों को पहचान सकते हैं जो औद्योगिक उत्पादन की जरूरतों से जुड़ें हुए हैं ?

अभ्यास कार्य

1. औद्योगीकरण की प्रक्रिया ने कैसे मज़दूर का निर्माण किया है? उनकी तीन विशेषताएँ बताइए।
2. रोज़गार की तलाश में होने वाले या मौसमी पलायन का बच्चों की शिक्षा पर क्या असर पड़ता है।
3. लुडिज़्म से आप क्या समझते हैं?
4. मज़दूर संगठन क्यों बनाए गए?
5. पुरूषों के बदले औरतों तथा बच्चों से श्रम कराना कारखना मालिक के लिए क्यों हितकर था?
6. औरतों को कारखानों में काम मिलने से उनकी दशा में कौन–कौन से अच्छे और बुरे परिवर्तन हुए?
7. पूँजीवादी प्रतिस्पर्धा के विषय में पाँच वाक्य लिखें।
8. कारखाना मालिकों को नई–नई मशीनों की जरूरत क्यों पड़ने लगी?
9. पूँजीवादी संस्कृति के विकास के लिए किस प्रकार के नए उद्यमी की जरूरत थी और क्यों?
10. सस्ते कच्चे माल की आपूर्ति और सारी दुनिया के बाज़ारों में अपना माल बेचना सुनिश्चित करने के लिए क्या–क्या किया गया है?
11. उद्योगों के विकास से पर्यावरण पर क्या प्रतिकूल असर पड़ रहा है?
12. औद्योगीकरण और आधुनिक शिक्षा के बीच क्या रिश्ता है?

13. शिक्षित व्यक्ति एक अच्छा उपभोक्ता भी होता है। इस कथन का विश्लेषण कीजिए।

दत्त कार्य

1. औद्योगीकरण और आधुनिक शिक्षा के बीच के रिश्ते पर एक निबन्ध लिखिए।

2. औद्योगीकरण के आरम्भ से लेकर अब तक मज़दूरों की स्थिति में जो बदलाव आए हैं, उनका विश्लेषण कीजिए।

परियोजना कार्य

1. हमारे देश में भी औद्योगिक मज़दूरों के अधिकारों की रक्षा के लिए विविध कानून बनाए गए हैं। किसी वकील की सहायता से अथवा किसी अन्य स्रोत से इन कानूनों की सूची बनाएँ तथा उनमें से किसी एक कानून के उद्देश्यों तथा प्रावधानों का विस्तार से विश्लेषण करें।

2. बाल श्रम के निवारण के लिए भारत सरकार ने बाल श्रम (प्रतिबन्ध एवं विनियमन) अधिनियम, 1986 बनाया है। इसका अध्ययन करके बताएँ कि,

- बाल श्रम की परिभाषाा क्या है?
- उससे आप कितने सहमत हैं? और क्यों?
- बाल श्रम रोका जाना ज़रूरी है क्या? क्यों?
- आपके खयाल से बाल श्रम कानून में किसी बदलाव की जरूरत हो तो कारण सहित उसका विवरण दें।

सहायक पठन सामग्री

1. बाल श्रम (प्रतिबन्ध एवं विनियम) अधिनियम, 1986 [child labour (prohibition and regulation) Act, 1986]

2. कारखाना अधिनियम, 1948 [the factories Act, 1948]

3. The Mines Act 1952

4. बन्धुआ मज़दूर प्रणाली (उत्पादन) अधिनियम, 1976 [the bonded labour system abolition Act]

5. भगत सिंह और उनके साथियों के दस्तावेज, सम्पादन – जगमोहन सिंह और चमन लाल, राजकमल प्रकाशन

फिल्में

1. दो बीघा ज़मीन, 1953, हिन्दी, निर्देशक – बिमल राय।
2. गमन, 1978, हिन्दी, निर्देशक – मुज़फ्फर अली।
3. मॉर्डन टाइम्स, 1936, अँग्रेज़ी, निर्देशक – चार्ली चैपलिन।
4. द बायसिकल थीफ, 1948, इतालवी, निर्देशक – विटोरियो दे सिका।

इकाई – 2

आधुनिक विश्व की विशेषताएं

भाग दो

पठन सामग्री क्र. 4 राष्ट्रवाद

पठन सामग्री क्र. 5 लोकतंत्र क्या? लोकतंत्र क्यों?

पठन सामग्री क्र. 6 वैश्वीकरण और शिक्षा

पठन सामग्री क्र. 4

राष्ट्रवाद

अध्याय की रूपरेखा

सामान्य परिचय

अध्याय के उद्देश्य

शीर्षक–उपशीर्षक

–साम्राज्य बनाम राष्ट्र–राज्य

–राष्ट्रवाद का परिचय

–राष्ट्र और राष्ट्रवाद

साझा विश्वास

इतिहास

साझे राजनैतिक आदर्श

साझी आर्थिक व्यवस्था

–साझी राजनैतिक पहचान का महत्व

–राष्ट्रीय आत्मनिर्णय

–राष्ट्रवाद और बहुलवाद

–राष्ट्रवाद पर टैगोर की समालोचना

अभ्यास कार्य

दत्त कार्य

परियोजना कार्य

सहायक पठन सामग्री फिल्में

सामान्य परिचय

राष्ट्र क्या है? राष्ट्र जिन आधारों पर बनता है, उसमें जो तत्व समाहित होते हैं, उनकी चर्चा हम इस पाठ में करेंगे। राष्ट्रवाद की भी पड़ताल हम इसके भीतर करेंगे। इसका स्वरूप कैसा है और इसके समक्ष सवाल क्या–क्या हैं। खासतौर पर आत्मनिर्णय का सवाल। इस पाठ में हमें कुछ जवाब भी मिलेंगे और कुछ सवाल भी उठेंगे, शायद शाला की भूमिका को लेकर भी।

अध्याय के उद्देश्य

राष्ट्र–राज्य और राष्ट्रवाद की अवधारणा से परिचय पाना।

राष्ट्र–राज्य में नागरिक की भूमिका समझना।

राष्ट्र–राज्य बनने की प्रक्रिया से परिचय पाना।

राष्ट्र–राज्य बनने के आधार समझना।

आत्मनिर्णय का अधिकार और उसके संघर्ष व सम्भावित समाधान।

राजघरानों का राज्य, साम्राज्य बनाम राष्ट्र–राज्य

प्राचीन और मध्यकाल में दुनिया भर में जो राज्य बने वे किसी न किसी राजवंश की सत्ता से जुड़े थे – इसीलिए हम उन राज्यों को मौर्य साम्राज्य, गुप्त साम्राज्य, मुगल साम्राज्य या हैप्सबर्ग साम्राज्य के नाम से पुकारते हैं। इन राज्यों में मान्यता यह थी कि यह राज्य इस विशेष वंश या घराने का है और उसके शान और शौकत के लिए बना है और राजकर्मी और प्रजा उनके प्रति वफादार रहें। एक तरफ राजवंश और दूसरी तरफ उसकी प्रजा। राज्य की सीमा का निर्धारण कोई सांस्कृतिक या भाषाई पहचान या भौगोलिक कारण से नहीं बल्कि उस राज परिवार की सैनिक शक्ति के आधार पर तय होता था। लेकिन राष्ट्र–राज्य इससे सर्वथा भिन्न हैं। देखें कैसे।

राष्ट्र–राज्य नागरिकों के नाम से बनता है – जो लोग किन्हीं शर्तों को पूरा करेंगे वे इस राष्ट्र के नागरिक कहलाएंगे और उनकी जरूरत को पूरा करने के लिए यह राज्य बना है। नागरिकों की सहभागिता के आधार पर और उनके हितों की रक्षा के लिए राष्ट्र–राज्य बनता है। राजशाही की प्रजा से राष्ट्र–राज्य के नागरिक तक की यात्रा काफी संघर्षपूर्ण रही है। यह एक प्रकार का राष्ट्रवादी आंदोलन था।

राष्ट्र–राज्य में नागरिक इतना महत्वपूर्ण क्यों हो गया? सोचें और चर्चा करें।

आधुनिक समय में एक और तरह का राज्य बना जिसे हम साम्राज्य कह सकते हैं – जैसे ब्रिटिश

साम्राज्य, या जर्मन साम्राज्य या रूसी साम्राज्य। ये वास्तव में ऐसे ढांचे थे जिनके अन्तर्गत कई देश व राष्ट्र समाहित थे, जिन पर कोई एक केन्द्रीय राज्य (ब्रिटेन, जर्मनी या रूस) शासन करता था। राष्ट्रवादी आंदोलनों ने ऐसे साम्राज्यों का विरोध किया और स्वतंत्र राष्ट्र–राज्यों के निर्माण के लिए संघर्ष किया।

राष्ट्र–राज्य बीसवीं सदी में आधुनिक विश्व की राजनैतिक व्यवस्था के आधार बन गये। साथ–साथ ये राज्य लगातार अपने में अधिकार, ताकत और सत्ता केन्द्रित करते गये और नागरिक, जिसके नाम पर वे राज्य चलते हैं अक्सर गौण हो जाता है। इन्हीं कुछ बातों पर हम इस पाठ में चर्चा करेंगे।

राष्ट्रवाद का परिचय

राष्ट्रवाद शब्द के प्रति आम समझ क्या है? अगर मोटे तौर पर जनता की राय लें तो हम इस सिलसिले में देशभक्ति, राष्ट्रीय ध्वज, देश के लिए बलिदान जैसी बातें सुनेंगे। दिल्ली में गणतंत्र दिवस की परेड भारतीय राष्ट्रवाद का बेजोड़ प्रतीक है। यह प्रतीक सत्ता और शक्ति के साथ विविधता की भावना को भी प्रदर्शित करता है। कई लोग इस विविधता को भारतीय राष्ट्र से जोड़ते हैं। लेकिन अगर हम गहराई में जाने की कोशिश करें तो पाएँगे कि राष्ट्रवाद की सुस्पष्ट और सर्वमान्य परिभाषा करना आसान नहीं है। इसका यह मतलब नहीं है कि हमें अपना प्रयास छोड़ देना चाहिए। राष्ट्रवाद का अध्ययन करना इसलिए जरूरी है क्योंकि वैश्विक मामलों में यह बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

एक सूची बनाएँ कि राष्ट्र बनाने के लिए क्या–क्या जरूरी है। साथियों के सुझाव लेकर इस सूची में और भी बातों को शामिल करने का प्रयास करें।

अब दूसरे चरण में विचार करें कि इस सूची में ऐसा क्या–क्या है जिसके बिना भी कोई राष्ट्र हो सकता है और उन बातों को काटते चलें।

अन्त में देखें कि अब सूची कितनी लम्बी है और कितनी काट दी गईं। इस पूरी प्रक्रिया की अपने मेंटर से चर्चा करें।

पिछली दो शताब्दियों के दौरान राष्ट्रवाद एक ऐसे सम्मोहक राजनैतिक सिद्धांत के रूप में उभरा है जिसने इतिहास रचने में योगदान दिया है। इसने प्रगाढ़ निष्ठाओं के साथ–साथ गहरे विद्वेषों को भी प्रेरित किया है। इसने जनता को जोड़ा है तो विभाजित भी किया है। इसने अत्याचारी शासन से मुक्ति दिलाने में मदद की तो इसके साथ ही यह विरोध, कटुता और युद्धों का कारण भी रहा है। साम्राज्यों और राष्ट्रों के ध्वस्त होने का यह भी एक कारण रहा है। राष्ट्रवादी संघर्षों ने राष्ट्रों और साम्राज्यों की सीमाओं के निर्धारण–पुनर्निर्धारण में योगदान किया है। आज भी दुनिया का एक बड़ा भाग विभिन्न राष्ट्र–राज्यों में बँटा हुआ है। हालाँकि राष्ट्रों की सीमाओं के पुनर्संयोजन की प्रक्रिया अभी खत्म नहीं हुई है और मौजूदा राष्ट्रों के अंदर भी अलगाववादी संघर्ष आम बात है।

राष्ट्रवाद कई चरणों से गुजर चुका है। उदाहरण के लिए, उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप में इसने कई छोटी–छोटी रियासतों के एकीकरण से वृहत्तर राष्ट्र–राज्यों की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया। आज के जर्मनी और इटली का गठन एकीकरण और सुदृढ़ीकरण की इसी प्रक्रिया के जरिए हुआ था। लातिनी अमेरिका में बड़ी संख्या में नए राज्य भी स्थापित किए गए थे। राज्य की सीमाओं के सुदृढ़ीकरण के साथ स्थानीय निष्ठाएँ और बोलियाँ भी उत्तरोत्तर राष्ट्रीय निष्ठाओं एवं सर्वमान्य जनभाषाओं के रूप में विकसित हुईं। नए राष्ट्रों के लोगों ने एक नई राजनैतिक पहचान अर्जित की, जो राष्ट्र–राज्य की सदस्यता पर आधारित थी। पिछली शताब्दी में हमने अपने देश को सुदृढ़ीकरण की ऐसी ही प्रक्रिया से गुजरते देखा है।

लेकिन राष्ट्रवाद बड़े–बड़े साम्राज्यों के पतन में हिस्सेदार भी रहा है। यूरोप में बीसवीं शताब्दी के आरंभ में ऑस्ट्रियाई–हंगेरियाई और रूसी साम्राज्य तथा इनके साथ एशिया और अफ्रीका में ब्रिटिश, फ्रांसीसी, डच और पुर्तगाली साम्राज्य के विघटन के मूल में राष्ट्रवाद ही था। भारत तथा अन्य पूर्व उपनिवेशों के औपनिवेशिक शासन से स्वतंत्र होने के संघर्ष भी राष्ट्रवादी संघर्ष थे। ये संघर्ष विदेशी नियंत्रण से स्वतंत्र राष्ट्र–राज्य स्थापित करने की आकांक्षा से प्रेरित थे।

राष्ट्रों की सीमाओं के पुनर्निर्धारण की प्रक्रिया अभी जारी है। 1960 के दशक से ही, सीधे तौर पर सुस्थिर राष्ट्र–राज्य भी कुछ समूह या अंचलों द्वारा उठाई गई राष्ट्रवादी माँगों का सामना करते रहे हैं। इन

भूमण्डलीकरण के इस दौर में दुनिया सिकुड़ रही है। हम एक विश्वग्राम में रह रहे हैं। राष्ट्र अब अप्रसांगिक हो चले हैं।

ऐसा नहीं है। राष्ट्रवाद अब भी प्रासंगिक है। आप इसे तब देख सकते हो जब भारतीय क्रिकेट टीम बाहर खेलने जाती है या तब जब हम बाहर बसे हुए भारतीयों को बालीवुड की फिल्में देखते हुए पाते हैं।

माँगों में पृथक राज्य की माँग भी शामिल है। आज दुनिया के अनेक भागों में हम ऐसे राष्ट्रवादी संघर्षों को देख सकते हैं जो मौजूदा राष्ट्रों के अस्तित्व के लिए खतरे पैदा कर रहे हैं। ऐसे पृथकतावादी आंदोलन अन्य जगहों के साथ–साथ कनाडा के क्यूबेकवासियों, उत्तरी स्पेन के बास्कवासियों, तुर्की और इराक के कुर्दों तथा श्रीलंका के तमिलों द्वारा भी चलाए जा रहे हैं। भारत के कुछ पृथकतावादी समूह भी ऐसी ही भाषा बोलते हैं। आज अरबी राष्ट्रवाद में तमाम अरबी देशों को एक अखिल अरब संघ एकताबद्ध करने की उम्मीद पाल सकता है। लेकिन बास्क या कुर्द जैसे पृथकतावादी आंदोलन तो मौजूदा राज्यों के विखंडन के लिए ही संघर्षरत हैं।

हमारे बीच इस सवाल पर सहमति हो सकती है कि दुनिया में राष्ट्रवाद आज भी प्रभावी शक्ति है। लेकिन राष्ट्र या राष्ट्रवाद जैसे शब्दों की परिभाषा के संबंध में किसी सहमति पर पहुँचना बहुत कठिन है। आखिर राष्ट्र क्या है? लोग राष्ट्रों का निर्माण क्यों करते हैं और राष्ट्र क्या करने की तीव्र इच्छा जगाते हैं? लोग अपने राष्ट्र की खातिर त्याग करने और प्राण तक न्यौछावर करने के लिए क्यों तैयार रहते हैं? देशभक्ति के दावे राज्यत्व (राजकीय शक्ति) के दावों से क्यों और कैसे जुड़ जाते हैं? क्या राष्ट्रों को पृथक रहने या राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का अधिकार प्राप्त है? क्या पृथक राज्यत्व को स्वीकार किए बगैर राष्ट्रवाद के दावे को तुष्ट किया जा सकता है? इस अध्याय में हम इनमें से कुछ मुद्दों की पड़ताल करेंगे।

राष्ट्र और राष्ट्रवाद

राष्ट्र जनता का कोई आकस्मिक समूह नहीं है। लेकिन यह मानव समाज में पाए जाने वाले अन्य समूहों अथवा समुदायों से अलग है। यह परिवार से भी अलग है। परिवार तो प्रत्यक्ष संबंधों पर आधारित होता है जिसका प्रत्येक सदस्य दूसरे सदस्यों के व्यक्तित्व और चरित्र के बारे में व्यक्तिगत जानकारी रखता है। यह जनजातीय, जातीय और अन्य सगोत्रीय समूहों से भी अलग है। इन समूहों में विवाह और वंश परंपरा सदस्यों को आपस में जोड़ती है। इसीलिए यदि हम सभी सदस्यों को व्यक्तिगत रूप से नहीं भी जानते हों तो भी जरूरत पड़ने पर हम उन सूत्रों को ढूँढ निकाल सकते हैं जो हमें आपस में जोड़ते हैं। लेकिन राष्ट्र के सदस्य के रूप में हम अपने राष्ट्र के अधिकतर सदस्यों को सीधे तौर पर न कभी जान पाते हैं और न ही उनके साथ वंशानुगत नाता जोड़ने की जरूरत पड़ती है। फिर भी राष्ट्रों का अस्तित्व है, लोग उनमें रहते हैं और उनका आदर करते हैं।

आमतौर पर यह माना जाता है कि राष्ट्रों का निर्माण ऐसे समूह द्वारा किया जाता है जो कुल या भाषा अथवा धर्म या फिर जातीयता जैसी कुछेक निश्चित पहचान का सहभागी होता है। लेकिन ऐसे निश्चित विशिष्ट गुण वास्तव में हैं ही नहीं जो सभी राष्ट्रों में समान रूप से मौजूद हों। कई राष्ट्रों की अपनी कोई एक सामान्य भाषा नहीं है। कनाडा का उदाहरण सामने है। कनाडा में अंग्रेजी और फ्रांसीसी भाषा–भाषी लोग साथ रहते हैं। भारत में भी अनेक भाषाएँ हैं जो विभिन्न क्षेत्रों में और भिन्न–भिन्न समुदायों द्वारा बोली जाती हैं। बहुत से राष्ट्रों में उनको जोड़ने वाला कोई सामान्य धर्म भी नहीं है। नस्ल या कुल जैसी अन्य विशिष्टताओं के लिए भी यही कहा जा सकता है।

तब वह क्या है, जो राष्ट्र का निर्माण करता है? राष्ट्र बहुत हद तक एक 'काल्पनिक' समुदाय होता है, जो अपने सदस्यों के सामूहिक विश्वास, आकांक्षाओं और कल्पनाओं के सहारे एक सूत्र में बँधा होता है। यह कुछ खास मान्यताओं पर आधारित होता है जिन्हें लोग उस समग्र समुदाय के लिए गढ़ते हैं, जिससे वे अपनी पहचान कायम करते हैं। आइए, हम राष्ट्र के बारे में लोगों की कुछ मान्यताओं को पहचानने और समझने की कोशिश करें।

साझा विश्वास – पहला, राष्ट्र विश्वास के जरिए बनता है। राष्ट्र पहाड़, नदी या भवनों की तरह नहीं होते, जिन्हें हम देख सकते हैं और जिनका स्पर्श महसूस कर सकते हैं। वे ऐसी चीजें भी नहीं हैं जिनका लोगों के विश्वासों से स्वतंत्र अस्तित्व हो। किसी समाज के लोगों को राष्ट्र की संज्ञा देना उन के शारीरिक विशेषताओं या आचरण पर टिप्पणी करना नहीं है। यह समूह के भविष्य के लिए सामूहिक पहचान और दृष्टि का प्रमाण है, जो स्वतंत्र राजनैतिक अस्तित्व का आकांक्षी है। इस मायने में राष्ट्र की तुलना किसी टीम से की जा सकती है। जब हम टीम की बात करते हैं तो हमारा मतलब लोगों के ऐसे समूह से है, जो एक साथ काम करते या खेलते हों और इससे भी ज्यादा जरूरी है कि वे स्वयं को एकीकृत समूह मानते हों। अगर वे अपने बारे में इस तरह नहीं सोचते तो एक टीम की उनकी हैसियत जाती रहेगी और वे खेल खेलने या काम करने वाले महज अलग–अलग व्यक्ति रह जाएँगे। एक राष्ट्र का अस्तित्व तभी कायम रहता है जब उसके सदस्यों को यह विश्वास हो कि वे एक–दूसरे के साथ हैं।

इतिहास – दूसरा, जो लोग अपने को एक राष्ट्र मानते हैं उनके भीतर अपने बारे में बहुधा स्थायी ऐतिहासिक पहचान की भावना होती है। यानी राष्ट्र खुद को इस रूप में देखते हैं जैसे वे बीते अतीत के साथ–साथ आगत भविष्य को समेटे हुए हों। वे देश की स्थायी पहचान का खाका प्रस्तुत करने के लिए साझी स्मृतियों, किवदंतियों और ऐतिहासिक अभिलेखों की रचना के जरिये अपने लिए इतिहास बोध निर्मित करते हैं। इसी प्रकार भारत के राष्ट्रवादी यह दावा करना चाहते थे कि एक सभ्यता के बतौर भारत का लंबा और अटूट इतिहास रहा है और यह सभ्यतामूलक निरंतरता और एकता भारतीय राष्ट्र की बुनियाद है। इसके लिये उन्होंने देश की प्राचीन सभ्यता और सांस्कृतिक विरासत तथा अन्य उपलब्धियों का साक्ष्य प्रस्तुत किया। उदाहरणस्वरूप नेहरू ने अपनी किताब 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' में लिखा है– ''हालाँकि बाहरी रूप में लोगों में विविधता और अनगिनत विभिन्नताएँ थीं, लेकिन हर जगह एकात्मकता की वह जबर्दस्त छाप थी जिसने हमें युगों तक साथ जोड़े रखा, चाहे हमें जो भी राजनैतिक भविष्य या दुर्भाग्य झेलना पड़ा हो।''

भूक्षेत्र – तीसरा, बहुत सारे राष्ट्रों की पहचान एक खास भौगोलिक क्षेत्र से जुड़ी हुई है। किसी खास भूक्षेत्र पर लंबे समय तक साथ–साथ रहना और उससे जुड़ी साझे अतीत की यादें लोगों को एक सामूहिक पहचान का बोध देती हैं। ये उन्हें एक होने का एहसास भी देती हैं। इसीलिए यह आश्चर्यजनक नहीं है कि जो लोग स्वयं को एक राष्ट्र के रूप में देखते हैं एक गृहभूमि की बात करते हैं। ये लोग जिस भूक्षेत्र पर अपना अधिकार जमाते हैं, जिस जगह रहते हैं, उस पर अपना दावा पेश करते हैं और उसे बहुत महत्व देते हैं। राष्ट्र अपनी–अपनी गृहभूमि का विभिन्न तरीकों से बखान करते हैं। जैसे, कोई इसे मातृभूमि या पितृभूमि कहता है तो कोई पवित्र भूमि। उदाहरण के लिए, यहूदी लोगों ने अपने इतिहास में ज्यादातर समय दुनिया के विभिन्न हिस्सों में बिखरे–फैले रहने के बावजूद, हमेशा दावा किया कि उनका मूल गृहस्थल फिलीस्तीन, उनका 'स्वर्ग', है। भारतीय राष्ट्र की पहचान भारतीय उपमहाद्वीप की नदियों, पर्वतों और अंचलों से है। चूँकि एक ही भूक्षेत्र पर एक से अधिक समूह का दावा हो सकता है, (जैसे फिलीस्तीन और इज़रायली–यहूदी) लिहाजा गृहभूमि की आकांक्षा दुनिया भर में संघर्ष का एक बड़ा कारण रही है।

साझे राजनैतिक आदर्श – चौथा, हालाँकि अपना भूक्षेत्र और साझी ऐतिहासिक पहचान लोगों में एक होने का बोध पैदा करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं लेकिन भविष्य के बारे में सामूहिक दृष्टिकोण और अपना स्वतंत्र राजनैतिक अस्तित्व बनाने की सामूहिक चाहत ही वह मूल बात है, जो राष्ट्र को बाकी समूहों से अलग करती है। राष्ट्र के सदस्यों की इस बारे में एक साझा दृष्टि होती है कि वे किस तरह का राज्य बनाना चाहते हैं। बाकी बातों के अलावा वे लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता और उदारवाद जैसे मूल्यों और सिद्धांतों को स्वीकार करते हैं। असल में ये ही वे शर्तें हैं जिसके आधार पर वे साथ–साथ आना और रहना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में यह विचार राष्ट्र के रूप में उनकी राजनैतिक पहचान को बताते हैं।

लोकतंत्र में कुछ राजनैतिक मूल्यों और आदर्शों के लिए साझी प्रतिबद्धता ही किसी राजनैतिक समुदाय

या राष्ट्र का सर्वाधिक वांछित आधार होता है। इसके अंतर्गत राजनैतिक समुदाय के सदस्य कुछ दायित्वों से बँधे होते हैं। ये दायित्व सभी लोगों के नागरिकों के रूप में अधिकारों को पहचान लेने से पैदा होते हैं। अगर राष्ट्र के नागरिक अपने सहनागरिकों के प्रति अपनी जिम्मेदारियों को जान और मान लेते हैं तो इससे राष्ट्र मजबूत ही होता है। हम यहाँ तक कह सकते हैं कि आपसी जिम्मेदारियों के इस परिप्रेक्ष्य को मान लेना राष्ट्र के प्रति वफादारी की सबसे कड़ी परीक्षा है।

साझा आर्थिक व्यवस्था – जब शुरू में इंग्लैंड या जर्मनी में राष्ट्र–राज्य बने तब वहाँ के निवासी खासकर व्यापारी व उद्योगपति यह चाहते थे कि सामन्ती प्रणाली की विखण्डित अर्थव्यवस्था की जगह एक राष्ट्रव्यापी व्यवस्था बने। उदाहरण के लिए, एक राष्ट्र में एक मुद्रा का चलन हो, मापन के एक से मापदण्ड हों (वजन आदि का), एक ही कानून हो, एक ही लगान व्यवस्था हो आदि। इससे पहले हर जमींदारी या रियासत में अलग कानून, अलग मुद्रा, अलग मापन, आदि के कारण व्यापार पर बुरा असर पड़ता था। राष्ट्र–राज्य की कल्पना में यह भी निहित है कि राज्य उस राष्ट्र के उद्योग, कृषि व व्यापार के हितों की रक्षा के लिए काम करे जैसे उस देश में दूसरे देश के सस्ते माल बिकने न दे ताकि उस देश के उद्योगों को पनपने का मौका मिले (स्वदेशी की भावना)। और आगे बढ़कर राज्य से अपेक्षा थी कि वह दूसरे देशों पर अपना साम्राज्य स्थापित करे ताकि सस्ता कच्चा माल मिल सके या बाजार कायम कर सके। इस प्रकार राष्ट्र–राज्य औद्योगीकरण में मदद कर सकता था।

साझी राजनैतिक पहचान का महत्व

बहुत से लोगों का मानना है कि हम जैसा राज्य या समाज बनाना चाहते हैं उसके बारे में साझी राजनैतिक दृष्टि व्यक्तियों को एक राष्ट्र के रूप में बांधने के लिए पर्याप्त नहीं होती। इसके स्थान पर वह एक समान भाषा या जातीय वंश परंपरा जैसी साझी सांस्कृतिक पहचान चाहते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है कि एक ही भाषा बोलना आपसी संवाद को काफी आसान बना देता है। समान धर्म होने पर बहुत सारे विश्वास और सामाजिक रीतिरिवाज साझे हो जाते हैं। एक जैसे त्यौहार मनाना, एक जैसे मौकों पर छुट्टियाँ चाहना और एक जैसे प्रतीकों को धारण करना लोगों को करीब ला सकता है, लेकिन साथ ही यह उन मूल्यों के लिए खतरा भी उत्पन्न कर सकता है जिन्हें हम लोकतंत्र में महत्वपूर्ण मानते हैं।

इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि दुनिया के सभी बड़े धर्म अंदरूनी तौर से विविधता से भरे हुए हैं। वे अपने समुदाय के अंदर चलने वाले संवाद के कारण ही बने और बढ़े हैं। परिणामस्वरूप धर्म के अंदर बहुत से पंथ बन जाते हैं और धार्मिक ग्रंथों और नियमों की उनकी व्याख्याएँ काफी अलग–अलग होती हैं। अगर हम इन विभिन्नताओं की अवहेलना करें और एक समान धर्म के आधार पर एक पहचान स्थापित कर दें तो आशंका है कि हम बहुत ही वर्चस्ववादी और दमनकारी समाज का निर्माण कर दें। दूसरा कारण यह है कि अधिकतर समाज सांस्कृतिक रूप से विविधता से भरे हैं। एक ही भूक्षेत्र में विभिन्न धर्म और भाषाओं के लोग साथ–साथ रहते हैं। किसी राज्य की सदस्यता की शर्त के रूप में किसी खास धार्मिक या भाषायी पहचान को आरोपित कर देने से कुछ समूह निश्चित रूप से शामिल होने से रह जाएँगे। इससे शामिल नहीं किए गए समूह की धार्मिक स्वतंत्रता बाधित होगी या राष्ट्रीय भाषा नहीं बोलने वाले समूहों की हानि होगी। दोनों स्थितियों में 'समान बर्ताव और सबके लिए स्वतंत्रता' के उस आदर्श में भारी कटौती होगी, जिसे हम लोकतंत्र में अमूल्य मानते हैं। इन्हीं कारणों से यह बेहतर होगा कि राष्ट्र की कल्पना राजनैतिक शब्दावली में की जाए, न कि सांस्कृतिक पदों में। इसका मतलब यह है कि लोकतंत्र में किसी खास धर्म, नस्ल या भाषा से संबद्धता की जगह एक मूल्य समूह के प्रति निष्ठा की जरूरत होती है। इस मूल्य–समूह को देश के संविधान में भी दर्ज किया जा सकता है।

ऊपर कुछ स्थितियों की पहचान की गई है जिनके जरिए राष्ट्र अपनी सामूहिक पहचान को व्यक्त करते हैं। हमने यह भी देखा कि क्यों लोकतांत्रिक राज्य इस पहचान को साझे राजनैतिक आदर्शों के आधार पर गढ़ते हैं। लेकिन एक महत्वपूर्ण प्रश्न अनुत्तरित रह गया है कि आखिर लोग खुद को राष्ट्र के रूप में क्यों निरूपित करते हैं? विभिन्न राष्ट्रों की कुछ आकांक्षाएँ क्या हैं? आगे के दो खंडों में हम इन प्रश्नों पर विचार करने की कोशिश करेंगे।

राष्ट्र बनने के प्रमुख आधार क्या हैं?

राष्ट्र–राज्य के आधार के रूप में भाषा, संस्कृति और धर्म क्यों उचित नहीं हैं?

राष्ट्रीय आत्मनिर्णय

बाकी सामाजिक समूहों से अलग राष्ट्र अपना शासन अपने आप करने और अपने भविष्य को तय करने का अधिकार चाहते हैं। दूसरे शब्दों में वे आत्मनिर्णय का अधिकार माँगते हैं। आत्मनिर्णय के अपने दावे में राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय समुदाय से माँग करता है कि उसके पृथक राजनैतिक इकाई या राज्य के दर्जे को मान्यता और स्वीकार्यता दी जाए। अक्सर ऐसी माँग उन लोगों की ओर से आती है जो एक लंबे समय से किसी निश्चित भू–भाग पर साथ–साथ रहते आए हों और जिनमें साझी पहचान का बोध हो। कुछ मामलों में

बास्क में आत्मनिर्णय की माँग

राष्ट्रीय आत्मनिर्णय की माँग दुनिया के विभिन्न भागों में उठ रही है। आइए, ऐसे एक मामले पर नजर डालें। बास्क स्पेन का एक पहाड़ी और समृद्ध क्षेत्र है। इस क्षेत्र को स्पेनी सरकार ने स्पेन राज्यसंघ के अंतर्गत 'स्वायत्त' क्षेत्र का दर्जा दे रखा है, लेकिन बास्क राष्ट्रवादी आंदोलन के नेतागण इस स्वायत्तता से संतुष्ट नहीं हैं। वे चाहते हैं कि बास्क स्पेन से अलग होकर एक स्वतंत्र देश बन जाये। इस आंदोलन के समर्थकों ने अपनी माँग पर जोर डालने के लिए संवैधानिक और हाल तक हिंसक तरीकों का इस्तेमाल किया है।

बास्क राष्ट्रवादियों का कहना है कि उनकी संस्कृति स्पेनी संस्कृति से बहुत भिन्न है। उनकी अपनी भाषा है, जो स्पेनी भाषा से बिल्कुल नहीं मिलती है। हालाँकि आज बास्क के मात्र एक–तिहाई लोग उस भाषा को समझ पाते हैं। बास्क क्षेत्र की पहाड़ी भूसंरचना उसे शेष स्पेन से भौगोलिक तौर पर अलग करती है। रोमन काल से अब तक बास्क क्षेत्र ने स्पेनी शासकों के समक्ष अपनी स्वायत्तता का कभी समर्पण नहीं किया। उसकी न्यायिक, प्रशासनिक एवं वित्तीय प्रणालियाँ उसकी अपनी विशिष्ट व्यवस्था के जरिये संचालित होती थीं। आधुनिक बास्क राष्ट्रवादी आंदोलन की शुरुआत तब हुई जब उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में स्पेनी शासकों ने उसकी विशिष्ट राजनैतिक–प्रशासनिक व्यवस्था को समाप्त करने की कोशिश की। बीसवीं सदी में स्पेनी तानाशाह फ्रैंको ने इस स्वायत्तता में और कटौती कर दी। उसने बास्क भाषा को सार्वजनिक स्थानों, यहाँ तक कि घर में भी बोलने पर पाबंदी लगा दी थी। ये दमनकारी कदम अब वापस लिये जा चुके हैं। लेकिन बास्क आंदोलनकारियों का स्पेनी शासन के प्रति संदेह और क्षेत्र में बाहरी लोगों के प्रवेश का भय बरकरार है। उनके विरोधियों का कहना है कि बास्क अलगाववादी एक ऐसे मुद्दे का राजनैतिक फायदा उठाने की कोशिश कर रहे हैं जिसका समाधान हो चुका है।

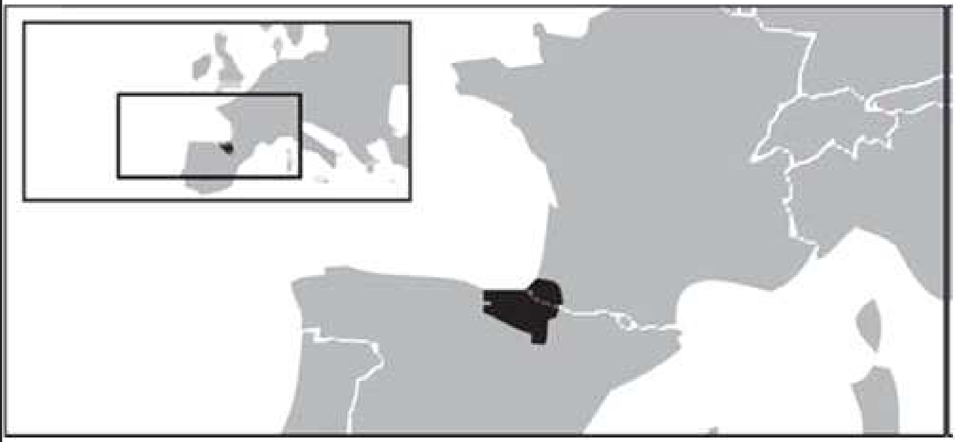

क्या आपके विचार में बास्क राष्ट्रवादियों की अलग राष्ट्र की माँग जायज है? क्या बास्क एक राष्ट्र है? इस सवाल का उत्तर देने के पहले आप और किन बातों की जानकारी चाहेंगे?

क्या आप दुनिया के दूसरे भागों के ऐसे उदाहरणों के बारे में विचार कर सकते हैं? क्या आप अपने देश के ऐसे क्षेत्रों और समूहों के बारे में विचार कर सकते हैं जहाँ इस तरह की माँग की जा रही है?

आत्म–निर्णय के ऐसे दावे एक स्वतंत्र राज्य बनाने की उस इच्छा से भी जुड़े होते हैं। इन दावों का संबंध किसी समूह की संस्कृति के संरक्षण से होता है।

दूसरी तरह के बहुत से दावे उन्नीसवीं सदी के यूरोप में सामने आए। उस समय 'एक संस्कृति–एक राज्य' की मान्यता ने जोर पकड़ा। परिणामस्वरूप पहले विश्वयुद्ध के बाद राज्यों की पुनर्व्यवस्था में 'एक संस्कृति–एक राज्य' के विचार को आजमाया गया। वर्साय की संधि से बहुत–से छोटे और नव स्वतंत्र राज्यों का गठन हुआ लेकिन उस समय उठायी जा रही आत्मनिर्णय की सभी माँगों को संतुष्ट करना वास्तव में असंभव था। इसके अलावा 'एक संस्कृति–एक राज्य' की माँगों को संतुष्ट करने से राज्यों की सीमाओं में बदलाव हुए। इससे सीमाओं के एक ओर से दूसरी ओर बहुत बड़ी जनसंख्या का विस्थापन हुआ। इसके परिणामस्वरूप लाखों लोग अपने घरों से उजड़ गए और उस जगह से उन्हें बाहर धकेल दिया गया जहाँ पीढ़ियों से उनका घर था। बहुत सारे लोग सांप्रदायिक हिंसा के भी शिकार बने। अलग–अलग सांस्कृतिक समुदायों को अलग–अलग राष्ट्र–राज्य मिले। इसे ध्यान में रखकर सीमाओं को बदला गया। इस कोशिश के कारण मानव जाति को भारी कीमत चुकानी पड़ी। इस प्रयास के बावजूद यह सुनिश्चित करना संभव नहीं हो सका कि नवगठित राज्यों में केवल एक ही नस्ल के लोग रहें। वास्तव में अधिकतर राज्यों की सीमाओं के अंदर एक से अधिक नस्ल और संस्कृति के लोग रहते थे। ये छोटे–छोटे समुदाय राज्य के अंदर अल्पसंख्यक थे और अक्सर नुकसानदेह स्थितियों में रहते थे। इस विकास का सकारात्मक पहलू यह था कि उन बहुत सारे राष्ट्रवादी समूहों को राजनैतिक मान्यता प्रदान की गयी जो स्वयं को एक अलग राष्ट्र के रूप में देखते थे और अपने भविष्य को तय करने तथा अपना शासन स्वयं चलाना चाहते थे। लेकिन राज्यों के भीतर अल्पसंख्यक समुदायों की समस्या ज्यों की त्यों बनी रही।

जब एशिया एवं अफ्रीका औपनिवेशिक प्रभुत्व के खिलाफ संघर्ष कर रहे थे, तब राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों ने राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार की भी घोषणा की थी। राष्ट्रीय आंदोलनों का मानना था कि राजनैतिक स्वाधीनता राष्ट्रीय समूहों को सम्मान एवं मान्यता प्रदान करेगी और साथ ही वहाँ के लोगों के सामूहिक हितों की रक्षा भी करेगी। अधिकांश राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन राष्ट्र के लिए न्याय, अधिकार और समृद्धि हासिल करने के लक्ष्य से प्रेरित थे। हालाँकि यहाँ भी प्रत्येक सांस्कृतिक समूह जिनमें से कुछ पृथक राष्ट्र होने का दावा करते थे – के लिए राजनैतिक स्वाधीनता तथा राज्यसत्ता सुनिश्चित करना लगभग असंभव साबित हुआ। इस क्षेत्र के अनेक देश आबादी के देशांतरण, सीमाओं पर युद्ध और हिंसा की चपेट में आते रहे। इस प्रकार, हम उन राष्ट्र–राज्यों को विरोधाभासी स्थिति में पाते हैं जिन्होंने संघर्षों की बदौलत स्वाधीनता प्राप्त की।

वस्तुतः आज दुनिया की सारी राज्यसत्ताएँ इस दुविधा में फँसी हैं कि आत्मनिर्णय के आंदोलनों से कैसे निपटा जाए और इसने राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार पर सवाल खड़े कर दिये हैं। बहुत–से लोग यह महसूस करने लगे हैं कि समाधान नए राज्यों के गठन में नहीं वरन् वर्तमान राज्यों को अधिक लोकतांत्रिक और समतामूलक बनाने में है। समाधान यह सुनिश्चित करने में है कि अलग–अलग सांस्कृतिक और नस्लीय पहचानों के लोग देश में समान नागरिक और साथियों की तरह सह–अस्तित्वपूर्वक रह सकें। यह न केवल आत्मनिर्णय के नए दावों के उभार से पैदा होने वाली समस्याओं के समाधान के लिए वरन् मजबूत और एकताबद्ध राज्य बनाने के लिए जरूरी होगा। जो राष्ट्र–राज्य अपने शासन में अल्पसंख्यक समूहों के अधिकारों और सांस्कृतिक पहचान की कद्र नहीं करता उसके लिए अपने सदस्यों की निष्ठा प्राप्त करना मुश्किल होता है।

आत्मनिर्णय की माँगों का राष्ट्र के भीतर समाधान करने के क्या उपाय हो सकते हैं?

राष्ट्रवाद और बहुलवाद

'एक संस्कृति–एक राज्य' के विचार को त्यागते ही यह जरूरी हो जाता है कि ऐसे तरीकों के बारे में सोचा जाए जिसमें विभिन्न संस्कृतियाँ और समुदाय एक ही देश में फल–फूल सकें। इस लक्ष्य को पाने के लिए ही अनेक लोकतांत्रिक देशों ने सांस्कृतिक रूप से अल्पसंख्यक समुदायों की पहचान को स्वीकार करने और संरक्षित करने के उपायों को शुरू किया है। भारतीय संविधान में धार्मिक, भाषायी और सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के लिए विस्तृत प्रावधान हैं।

विभिन्न देशों में इन समूहों को जो अधिकार प्रदान किये गये हैं, उनमें शामिल हैं – अल्पसंख्यक समूहों

एवं उनके सदस्यों की भाषा, संस्कृति एवं धर्म के लिए संवैधानिक संरक्षण के अधिकार। कुछ मामलों में इन समूहों को विधायी संस्थाओं और अन्य राजकीय संस्थाओं में प्रतिनिधित्व का अधिकार भी होता है। इन अधिकारों को इस आधार पर न्यायोचित ठहराया जा सकता है कि ये अधिकार इन समूहों के सदस्यों के लिए कानून द्वारा समान व्यवहार एवं सुरक्षा के साथ ही समूह की सांस्कृतिक पहचान के लिए भी सुरक्षा का प्रावधान करते हैं। इसके अलावा, इन समूहों को राष्ट्रीय समुदाय के एक अंग के बतौर भी मान्यता देनी होती है। इसका मतलब यह कि राष्ट्रीय पहचान को समावेशी रीति से परिभाषित करना होगा जो राष्ट्र–राज्य के तमाम सदस्यों की महत्ता और अद्वितीय योगदान को मान्यता दे सके।

हालाँकि यह उम्मीद की जाती है कि समूहों को मान्यता और संरक्षण प्रदान करने से उनकी आकांक्षाएँ संतुष्ट होंगी, फिर भी, हो सकता है कि कुछ समूह पृथक राज्य की माँग पर अडिग रहें। यह विरोधाभासी भी प्रतीत हो सकता है कि जहाँ दुनिया में भूमंडलीकरण का दौर जारी है वहीं राष्ट्रीय आकांक्षाएँ अभी भी बहुत सारे समूह और समुदायों को उद्वेलित कर रही हैं। ऐसी माँगों से लोकतांत्रिक ढंग से निपटने के लिए यह जरूरी है कि संबंधित देश अत्यंत उदारता एवं दक्षता का परिचय दें।

कुल मिलाकर, राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार को आमतौर पर इस रूप में समझा जाता था कि इसमें राष्ट्रीयताओं के लिए स्वतंत्र राज्य का अधिकार भी सम्मिलित है। लेकिन यह असंभव है कि प्रत्येक राष्ट्रीय समूह को स्वतंत्र राज्य प्रदान किया जाए। साथ ही, यह संभवतः अवांछनीय भी होगा। यह ऐसे राज्यों के गठन की ओर ले जा सकता है जो आर्थिक और राजनैतिक क्षमता की दृष्टि से बेहद छोटे हों और अव्यावहारिक हों। हम ऐसी दुनिया में रह रहे हैं जो समूहों की पहचान को मान्यता देने के महत्व के प्रति काफी सचेत हैं। आज हम ऐसे बहुत से संघर्षों के साक्षी हैं जो समूह की पहचान की मान्यता के लिए चल रहे हैं तथा राष्ट्रवाद की भाषा का इस्तेमाल कर रहे हैं। इस बात की जरूरत है कि हम राष्ट्रीय पहचान के उनके दावों की सत्यता को स्वीकार करें लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि हम राष्ट्रवाद के असहिष्णु और एकजातीय स्वरूपों के साथ कोई सहानुभूति बरतें।

भारत और भारत से बाहर आत्मनिर्णय के अधिकार की माँग कर रहे विभिन्न समूहों से संबंधित समाचार पत्र–पत्रिकाओं की कतरनों को इकट्ठा करो। निम्न मामलों पर अपनी राय बनाओ।

इन माँगों के पीछे क्या कारण हैं?

इनके संघर्ष की प्रकृति क्या है?

क्या उनकी माँग जायज है?

आप क्या सोचते हैं ? संभव समाधान क्या हो सकता है?

राष्ट्रवाद पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की समालोचना

राष्ट्रवाद हमारा अंतिम आध्यात्मिक मंजिल नहीं हो सकता। मेरी शरणस्थली तो मानवता है। मैं हीरों की कीमत पर शीशा नहीं खरीदूँगा और जब तक मैं जीवित हूँ देशभक्ति को मानवता पर कदापि विजयी नहीं होने दूँगा। यह रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था। वे औपनिवेशिक शासन के विरोधी थे और भारत की स्वाधीनता के अधिकार का दावा करते थे। वे महसूस करते थे कि उपनिवेशों के ब्रितानी प्रशासन में 'मानवीय संबंधों' की गरिमा बरकरार रखने की गुंजाइश नहीं है। यह एक ऐसा विचार है जिसे ब्रितानी सभ्यता में भी स्थान मिला है। टैगोर पश्चिमी साम्राज्यवाद का विरोध करने और पश्चिमी सभ्यता को खारिज करने के बीच फर्क करते थे। भारतीयों को अपनी संस्कृति और विरासत में गहरी आस्था होनी ही चाहिए लेकिन उन्हें बाहरी दुनिया से मुक्त भाव से सीखने और लाभान्वित होने का प्रतिरोध नहीं करना चाहिए।

टैगोर जिसे 'देशभक्ति' कहते थे, उसकी समालोचना उनके लेखन का स्थायी विषय था। वे देश के स्वाधीनता आंदोलन में मौजूद संकीर्ण राष्ट्रवाद के कटु आलोचक थे। उन्हें भय था कि तथाकथित भारतीय परंपरा के पक्ष में पश्चिम को खारिज करने का विचार यहीं तक सीमित रहने वाला नहीं है। यह अपने देश में मौजूद ईसाई, यहूदी, पारसी और इस्लाम समेत तमाम विदेशी प्रभावों के खिलाफ आसानी से आक्रामक भी हो सकता है।

राष्ट्र–राज्य और शिक्षा

जैसे राष्ट्र–राज्य संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों में बनते गये, वे साथ–साथ सार्वजनिक सार्वभौमिक प्राथमिक शिक्षण की व्यवस्था भी बनाते चले। राष्ट्र–राज्य तो चन्द लोगों के जुनून से बन जाता लेकिन हर नागरिक में राष्ट्रीयता का भाव बने और सोच में साझापन व सामंजस्य बने और नए राज्य के प्रति वफादारी जगे, इसके लिये शासन ने व्यापक स्कूली तंत्र स्थापित किया। इन शालाओं के माध्यम से हम सब एक हैं की भावना – राष्ट्रीय भावना, राष्ट्र भाषा (मानक अंग्रेजी, मानक फ्रेंच, जर्मन आदि जो पहले आबादी का मात्र छोटा हिस्सा बोलता था) राष्ट्रीय इतिहास, आदि को विकसित किया गया। जो राष्ट्र–राज्य बने उनमें से कुछ अधिक लोकतांत्रिक थे जैसे कि संयुक्त राज्य अमेरिका जबकि कुछ अन्य काफी कम लोकतांत्रिक रहे जैसे जर्मनी। यह अंतर उनके शाला व्यवस्था पर भी अमिट छाप छोड़ गया। इसके बारे में हम आगे के अध्यायों में और विस्तार से पढ़ेंगे।

अभ्यास कार्य

1. राष्ट्र किस प्रकार परिवार, जाति, धर्म जैसे अन्य सामूहिक व्यवस्थाओं से अलग है?

2. वंश, भाषा, धर्म या नस्ल में से कोई भी पूरे विश्व में राष्ट्रवाद के लिए साझा कारण होने का दावा नहीं कर सकता। टिप्पणी कीजिए।

3. राष्ट्रवादी भावनाओं को प्रेरित करने वाले कारकों पर उदाहरण सहित रोशनी डालिए।

4. संघर्षरत राष्ट्रवादी आकांक्षाओं के साथ बर्ताव करने में तानाशाही की अपेक्षा लोकतंत्र अधिक समर्थ होता है। कैसे?

5. आपकी राय में राष्ट्रवाद की सीमाएँ क्या हैं?

6. दुनिया के अनेक राष्ट्रों में अलगाववाद की माँग के प्रमुख कारण क्या हैं?

7. राष्ट्र की समृद्धि और विकास में विविधता और लोकतंत्र की भूमिका को संक्षेप में समझाएँ।

8. आत्मनिर्णय के अधिकार से आप क्या समझते हैं?

दत्त कार्य

1. राष्ट्र–राज्यों के बनने के विविध आधारों का उदाहरण सहित परिचय दें।

2. राष्ट्र–राज्य में नागरिक की भूमिका के महत्व पर प्रकाश डालिए।

3. हम देख चुके हैं कि राष्ट्रवाद लोगों को जोड़ भी सकता है और तोड़ भी सकता है। उन्हें मुक्त कर सकता है और उनमें कटुता और संघर्ष भी पैदा कर सकता है। उदाहरणों के साथ उत्तर दीजिए।

परियोजना कार्य

1. देश या दुनिया के किसी हिस्से में चल रहे आत्मनिर्णय के आन्दोलन पर सामग्री जुटाएँ और उस सामग्री के आधार पर लगभग 500 शब्दों में एक लेख लिखें।

2. निम्न में से कोई एक पुस्तक पढ़कर उसकी समीक्षा लिखिए – तमस, ट्रेन टू पाकिस्तान

4. भारत के संविधान में धार्मिक, भाषाई और सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के लिए जो प्रावधान किए हैं, उनकी सूची बनाएँ और उनके आधार पर यह बताते हुए एक लेख लिखें कि संविधान में कैसे भारत की कल्पना की गई है।

सहायक पठन सामग्री

1. तमसः भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन

2. ट्रेन टू पाकिस्तानः खुशवन्त सिंह

फिल्में

1. अर्थः हिन्दीः 1998ः निर्देशक – दीपा मेहताः 2. गरम हवाः हिन्दीः 1973ः निर्देशक – एम.एस. सथ्यूः 3. ट्रेन टू पाकिस्तानः हिन्दीः 1998ः निर्देशक – पामेला रुक्सः

पठन सामग्री क्र. 5

लोकतंत्र क्या? लोकतंत्र क्यों?

अध्याय की रूपरेखा

सामान्य परिचय
अध्याय के उद्देश्य
शीर्षक–उपशीर्षक
–लोकतंत्र क्या है? एक सरल परिभाषा
–लोकतंत्र की विशेषताएँ
फैसले निर्वाचित नेताओं के हाथ
जवाबदेही का मामला
स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव
एक व्यक्ति–एक वोट
जनता की भागीदारी
नागरिक अधिकार व स्वतंत्रता
कानून और अल्पमतों की रक्षा
परिभाषाओं का सारांश
–लोकतंत्र ही क्यों?
लोकतंत्र के खिलाफ़ तर्क
लोकतंत्र के पक्ष में तर्क
–लोकतंत्र का वृहत्तर अर्थ
–लोकतंत्र और शिक्षा
अभ्यास कार्य
परियोजना कार्य

सामान्य परिचय

लोकतंत्र क्या है? इसकी विशेषताएँ क्या हैं? इस पठन सामग्री में हम बहुत सरल परिभाषा से शुरुआत करेंगे फिर हम बारी–बारी से इन बिंदुओं का व्यावहारिक अर्थ जानेंगे। यहाँ हमारा उद्देश्य किसी भी सरकार के लोकतांत्रिक होने की न्यूनतम विशेषताओं को चिन्हित करना है। यह अध्याय पढ़ लेने के बाद हम लोकतांत्रिक और गैर–लोकतांत्रिक शासन में अंतर कर सकते हैं। अध्याय के अंत में हम इस न्यूनतम लक्ष्य से आगे बढ़कर लोकतंत्र की वृहत्तर परिभाषा पर आएँगे।

अध्याय के उद्देश्य

इस पाठ को पढ़कर हम समझ पायेंगे कि समकालीन दुनिया में लोकतंत्र ही सबसे लोकप्रिय शासन पद्धति है। ऐसा क्यों है? कौन–सी चीज इसे दूसरी व्यवस्थाओं से बेहतर बनाती है? क्या यही शासन की सर्वोत्तम व्यवस्था है?

लोकतंत्र क्या है? एक सरल परिभाषा

आइए, खुद को लोकतांत्रिक बताने का दावा करने वाली सरकारों के बीच की समानताओं और असमानताओं से जुड़ी बातों पर चर्चा कर उन पर गौर करें। हम एक सरल परिभाषा से शुरुआत कर सकते हैं। **लोकतंत्र शासन का एक ऐसा रूप है जिसमें शासकों का चुनाव लोग करते हैं।**

यह एक उपयोगी शुरुआत है। यह परिभाषा बहुत स्पष्ट ढंग से लोकतांत्रिक और गैर–लोकतांत्रिक शासन व्यवस्थाओं में अंतर कर देती है। म्यांमार के सैनिक शासकों का चुनाव लोगों ने नहीं किया है। जिन लोगों का सेना पर नियंत्रण था वे देश के शासक बन गए। शासक के फैसलों में लोगों की कोई भागीदारी नहीं है। चिली देश के पिनोशे जैसे तानाशाहों का चुनाव लोग नहीं करते। यही बात राजशाहियों पर भी लागू होती है। नेपाल के भूतपूर्व राजा और सऊदी अरब के शाह लोगों द्वारा शासक नहीं चुने गए थे बल्कि राजपरिवार में जन्म लेने के कारण उन्होंने यह हक पाया है।

लेकिन यह सरल परिभाषा पूर्ण या पर्याप्त नहीं है। इससे हमें यह समझ में आता है कि लोकतंत्र का मतलब लोगों का शासन है। पर इस परिभाषा का प्रयोग यदि हमने बिना सोचे–समझे किया तो फिर उन सभी सरकारों को लोकतांत्रिक कहना पड़ेगा जो चुनाव करवाती हैं और फिर हम सही नतीजे पर नहीं पहुँच पाएँगे। समकालीन दुनिया की हर सरकार, चाहे वह लोकतांत्रिक हो या न हो, खुद को लोकतांत्रिक कहना, कहलाना चाहती हैं। इसलिए हमें विकसित लोकतंत्र और दिखावटी लोकतंत्र वाली सरकारों के बीच सावधानीपूर्वक फर्क करना होगा। यह काम हम तभी कर पाएँगे जब हम इस परिभाषा के एक–एक शब्द को सावधानी से समझें और लोकतांत्रिक सरकार की विशेषताओं को जानें।

लोकतंत्र की विशेषताएँ

हमने इस सरल परिभाषा के साथ शुरुआत की है कि लोकतंत्र शासन का एक रूप है जिसमें जनता शासकों का चुनाव करती है। इससे अनेक सवाल उठ खड़े होते हैंः

इस परिभाषा के अनुसार शासक कौन हैं? किसी सरकार को लोकतांत्रिक कहे जाने के लिए उसके किन अधिकारियों का चुना हुआ होना आवश्यक है। लोकतंत्र में वे कौन–से फैसले हैं जो बिना चुने हुए अधिकारी भी ले सकते हैं?

किस तरह के चुनाव को लोकतांत्रिक चुनाव कहते हैं? किसी चुनाव को लोकतांत्रिक कहने के लिए किन शर्तों को पूरा किया जाना जरूरी है?

कौन लोग शासकों का चुनाव कर सकते हैं या खुद शासक चुने जा सकते हैं? क्या इसमें प्रत्येक नागरिक का बराबरी की हैसियत से भाग लेना जरूरी है? क्या कोई लोकतांत्रिक व्यवस्था अपने कुछ नागरिकों को इस अधिकार से वंचित कर सकती है?

सरकार के किस स्वरूप को लोकतांत्रिक कहेंगे? क्या चुने हुए शासक लोकतंत्र में अपनी मर्जी से सब कुछ कर सकते हैं या लोकतांत्रिक सरकार के लिए कुछ लक्ष्मण रेखाओं में बंधकर काम करना जरूरी है? क्या लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था को नागरिकों के कुछ अधिकारों का आदर करना चाहिए?

आइए, कुछ उदाहरणों के साथ इन सब पर बारी–बारी से विचार करें।

1. प्रमुख फैसले निर्वाचित नेताओं के हाथ

लोकतंत्र ऐसी व्यवस्था है जिसमें शासन को लोगों से अधिकार प्राप्त होता है और वह लोगों के प्रति जवाबदेह है। यह आमतौर पर चुनावी प्रक्रिया से सुनिश्चित किया जाता है जिसमें शासन का नेतृत्व लोगों द्वारा निश्चित कालावधि (तीन से पाँच साल) पर चुना जाता है।

पाकिस्तान में जनरल परवेज मुशर्रफ़ ने अक्टूबर 1999 में सैनिक तख्तापलट की अगुवाई की। उन्होंनें लोकतांत्रिक ढंग से चुनी हुई सरकार को उखाड़ फेंका और खुद को देश का 'मुख्य कार्यकारी' घोषित किया। बाद में उन्होंने खुद को राष्ट्रपति घोषित किया और 2002 में एक जनमत संग्रह कराके अपना कार्यकाल पाँच साल के लिए बढ़वा लिया। अगस्त 2002 में उन्होंने 'लीगल फ्रेमवर्क ऑर्डर' के ज़रिए पाकिस्तान के संविधान को बदल डाला। इस ऑर्डर के अनुसार राष्ट्रपति, राष्ट्रीय और प्रांतीय असेंबलियों को भंग कर सकता था। इस कानून के पास हो जाने के बाद राष्ट्रीय और प्रांतीय असेंबलियों के लिए चुनाव कराए गए। इस प्रकार पाकिस्तान में चुनाव भी हुए, चुने हुए प्रतिनिधियों को कुछ अधिकार भी मिले लेकिन सर्वोच्च सत्ता सेना के अधिकारियों और जनरल मुशर्रफ के पास बनी रही।

स्पष्ट है कि जनरल मुशर्रफ के शासन वाले पाकिस्तान को लोकतंत्र न कहने के अनेक ठोस कारण हैं। लेकिन यहाँ सिर्फ एक कारण पर ही चर्चा करते हैं। क्या हम कह सकते हैं कि पाकिस्तान के लोगों ने अपने शासकों का चुनाव किया? लोगों ने राष्ट्रीय और प्रांतीय असेंबलियों के लिए अपने प्रतिनिधियों का चुनाव तो किया। लेकिन चुने हुए प्रतिनिधि वास्तविक शासक नहीं थे। वे अंतिम फैसला नहीं कर सकते थे। अंतिम फैसला सेना के अधिकारियों और जनरल मुशर्रफ के हाथ में था जो जनता द्वारा नहीं चुने गए थे। ऐसा तानाशाही और राजशाही वाली अनेक शासन व्यवस्थाओं में होता है। वहाँ औपचारिक रूप से चुनी हुई संसद और सरकार तो होती है पर असली सत्ता उन लोगों के हाथ में होती है जिन्हें जनता नहीं चुनती। क्या इसे ''लोगों'' का शासन कहा जा सकता है?

2. जवाबदेही का मामला

सबसे अहम, चुने हुए लोगों की सभा होती है जिसके समक्ष शासन के पदाधिकारियों (मंत्री आदि) को अपने काम का ब्यौरा देना होता है और उनकी स्वीकृति लेनी होती है। दूसरा, हर नागरिक को यह अधिकार होता है कि वह शासन के काम के बारे में सूचना प्राप्त कर सके और शासन बाध्य होता है उस जानकारी को उपलब्ध कराने के लिए। तीसरा, निश्चित समय सीमा के बाद फिर से चुनाव होंगे जब मंत्रियों को फिर से जनादेश लेने के लिए लोगों के सामने आना होता है। लोग तब उनसे सवाल–जवाब कर सकते हैं और

संतुष्ट न होने पर उन्हें चुनाव में नकार सकते हैं। एक स्वस्थ लोकतंत्र में विधान सभाओं में चर्चा, नागरिकों का सूचना का अधिकार तथा निश्चित समयावधि में चुनाव होना आवश्यक है।

विचार के लिये कुछ सवालः क्या वास्तव में करोड़ों लोगों का शासन पर कोई वास्तविक नियंत्रण हो सकता है? क्या लोकतंत्र का यही मतलब है कि लोगों पर चुने हुए प्रतिनिधि शासन करेंगे या फिर लोगों द्वारा खुद पर शासन? लोग वास्तव में शासन की प्रक्रियाओं में कैसे भाग ले सकते हैं?

3. स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनावी मुकाबला

चीन की संसद के लिए प्रति पाँच वर्ष बाद नियमित रूप से चुनाव होते हैं। इस संसद को देश का राष्ट्रपति नियुक्त करने का अधिकार है। इसमें पूरे चीन के करीब 3000 सदस्य आते हैं। चुनाव लड़ने से पहले सभी उम्मीदवारों को चीनी कम्युनिस्ट पार्टी से मंजूरी लेनी होती है। 2002–03 में हुए चुनावों में सिर्फ कम्युनिस्ट पार्टी और उससे संबद्ध कुछ छोटी पार्टियों के सदस्यों को ही चुनाव लड़ने की अनुमति मिली। सरकार सदा कम्युनिस्ट पार्टी की ही बनती है। क्या यह लोकतांत्रिक व्यवस्था है?

1930 में आजाद होने के बाद से मैक्सिको में हर छः वर्ष बाद राष्ट्रपति चुनने के लिए चुनाव कराए जाते हैं। देश में कभी भी फौजी शासन या तानाशाही नहीं आई। लेकिन सन् 2000 तक हर चुनाव में एक पार्टी को ही जीत मिलती रही। विपक्षी दल चुनाव में हिस्सा तो लेते थे पर उन्हे कभी भी जीत हासिल नहीं होती थी। सरकारी दफ्तरों में काम करने वाले सभी लोगों के लिए पार्टी की बैठकों में जाना अनिवार्य था। सरकारी स्कूलों के अध्यापक अपने छात्र–छात्राओं के माँ–बाप से सम्बंधित पार्टी के लिए वोट देने को कहते थे। मीडिया भी जब–तब विपक्षी दलों की आलोचना करने के अलावा उनकी गतिविधियों को नजरअंदाज ही करती थी। कई बार एकदम अंतिम क्षणों में मतदान केंद्रों को एक जगह से हटाकर दूसरी जगह कर दिया जाता था जिससे अनेक लोग वोट ही नहीं डाल पाते थे।

क्या हम ऊपर वर्णित चुनावों को लोगों द्वारा अपना शासक चुनने का उदाहरण मान सकते हैं? इन उदाहरणों को पढ़ने के बाद तो यही लगता है कि हम ऐसा नहीं कह सकते। यहाँ काफी सारी समस्याएँ हैं। चीन के चुनावों में लोगों के सामने कोई वास्तविक और गंभीर विकल्प ही नहीं होता। लोगों को शासक दल या उसके द्वारा स्वीकृत उम्मीदवारों को ही वोट देना होता है। क्या हम इसे मनपसंद चुनाव कह सकते हैं? मैक्सिको के मामले में ऐसा लगता है कि कहने को विकल्प होते हुए भी असल में वहाँ की जनता के पास कोई दूसरा विकल्प न था। किसी भी तरह वहाँ शासक दल को पराजित नहीं किया जा सकता था, लोगों के चाहने पर भी नहीं। वहाँ हुए चुनाव निष्पक्ष नहीं थे।

इस प्रकार अब हम लोकतंत्र की अपनी समझ में एक अन्य विशेषता या गुण को जोड़ सकते हैं कि लोकतंत्र के लिए सिर्फ चुनाव कराना ही पर्याप्त नहीं होता। चुनाव में एक से ज्यादा असली राजनैतिक विकल्पों के बीच चुनने की स्थिति भी होनी चाहिए। लोगों के पास यह विकल्प रहना चाहिए कि वे चाहें तो शासक दल को गद्दी से उतार दें। इस प्रकार, लोकतंत्र निष्पक्ष और स्वतंत्र चुनावों पर आधारित होना चाहिए ताकि सत्ता में बैठे लोगों के लिए जीत–हार के समान अवसर हों।

4. एक व्यक्ति–एक वोट–एक मोल

लोकतंत्र के लिए होने वाला संघर्ष सार्वभौम वयस्क मताधिकार के साथ जुड़ा हुआ होता है। अब इस सिद्धांत को लगभग पूरी दुनिया में मान लिया गया है। पर किसी व्यक्ति को मतदान के समान अधिकार से वंचित करने के उदाहरण भी कम नहीं हैं:

- सऊदी अरब में औरतों को वोट देने का अधिकार नहीं है।
- एस्टोनिया ने अपने यहाँ नागरिकता के नियम कुछ इस तरह से बनाए हैं कि रूसी अल्पसंख्यक समाज के लोगों को मतदान का अधिकार हासिल करने में मुश्किल होती है।
- फिजी की चुनाव प्रणाली में वहाँ के मूल निवासियों के वोट का महत्व भारतीय मूल के फिजी नागरिक के वोट से ज्यादा है।

लोकतंत्र राजनैतिक समानता के बुनियादी सिद्धांत पर आधारित है। इस प्रकार हम लोकतंत्र की तीसरी विशेषता को जान लेते हैंः लोकतंत्र में हर वयस्क नागरिक का एक वोट होना चाहिए और हर वोट का एक समान मूल्य होना चाहिए।

5. सार्वजनिक जीवन में जनता की भागीदारी

आमतौर पर लोकतंत्र का मतलब केवल चुनाव से लगाया जाता है। लेकिन लोकतंत्र तभी वास्तविक हो सकता है जब आम लोग नीतियों के बनने में तथा उनके क्रियान्वयन में भी भागीदार रहें। यह तभी संभव है जब हर महत्वपूर्ण नीति और कानून व्यापक सार्वजनिक बहस और सलाह मशविरे के बाद बने जिसमें आम लोग स्वतंत्र मंचों के माध्यम से अपनी अपनी राय व जरूरतों को व्यक्त कर पायें और उन सबका सामंजस्य बनाते हुए कानून बने। यह आसान नहीं है। हाल में भारत में लोकपाल विधेयक के संदर्भ में इस तरह की जनभागीदारी कुछ हद तक देखने को मिली है। अक्सर चुनी हुई सरकार खुद इस तरह के सार्वजनिक बहस को बढ़ावा देना नहीं चाहती। ऐसे में लोग भी सार्वजनिक काम में रुचि लेना बंद कर देते हैं और उदासीन हो जाते हैं। यह उदासीनता चुनाव में लोगों की भागीदारी में दिखती है। उदाहरण के लिए, 2012 के अमेरिकी राष्ट्रपति के चुनाव में 40 प्रतिशत से अधिक लोगों ने वोट ही नहीं डाला हालाँकि अमेरिका को लोकतंत्र की मिसाल के रूप में पेश किया जाता है। आपके अनुसार सार्वजनिक जीवन में लोगों की भागीदारी कम क्यों होती है? क्या जानकारी की कमी के कारण, या अरूचि के कारण, या इसलिए कि लोग सोचते हैं कि निर्णयों में उनके विचारों का कोई वास्तविक महत्व नहीं है।

6. नागरिक अधिकार व स्वतंत्रता का महत्व

शासकों के लिए बार–बार जनादेश पाना लोकतंत्र की एक जरूरत है पर इतना ही पर्याप्त नहीं है। लोकप्रिय नेता भी अलोकतांत्रिक हो सकते हैं। लोकप्रिय नेता भी तानाशाह हो सकते हैं। अगर हम लोकतंत्र को परखना चाहते हैं तो चुनावों पर नजर डालना जरूरी है। पर उतना ही जरूरी है कि चुनाव के पहले और बाद की स्थितियों पर भी नजर डाली जाए। चुनाव के पहले सत्ता पक्ष के विरोधी समूहों के कामकाज समेत सभी तरह की राजनैतिक गतिविधियों के लिए पर्याप्त गुंजाइश रहनी चाहिए। इसके लिए जरूरी है कि सरकार नागरिकों के कुछ बुनियादी अधिकारों का आदर करे। उनको सोचने की, अपनी राय बनाने की, सार्वजनिक रुप से अपने विचार व्यक्त करने की, संगठन बनाने की, विरोध करने और अन्य राजनैतिक गतिविधियाँ करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। कानून की नजर में सभी लोगों की समानता होनी चाहिए। इन अधिकारों की रक्षा स्वतंत्र न्यायपालिका को करनी चाहिए जिसके आदेशों का पालन सब लोग करते हों।

अक्सर सरकारें लोगों की स्वतंत्रता तथा जानकारी के अधिकारों पर पाबंदी लगा देती हैं। कई देशों में शासकीय निर्णय गुप्त रूप से लिए जाते हैं तथा सरकार उन पर सार्वजनिक चर्चा व बहस पर रोक लगा देती है। पत्र–पत्रिकाओं तथा पुस्तकों पर सेंसरशिप लगाकर विचारों के खुले आदान–प्रदान पर रोक लगा दी जाती है और लोगों से स्वतंत्र संगठन बनाने का अधिकार भी छीन लेती हैं। उदाहरण के लिए, सोवियत रूस में हालाँकि सब को मताधिकार प्राप्त था तथा निश्चित समयावधि पर चुनाव भी होते थे लेकिन स्वतंत्र पत्रिका, सूचना तथा संगठन के अधिकार नहीं थे जिसके कारण वहाँ शासन करने वाली पार्टी के विकल्प में कोई अन्य पार्टी उभर ही नहीं सकी।

7. समता और लोकतंत्र

लोकतंत्र का यह सिद्धांत कि हरेक व्यक्ति के मत का समान वजन हो, वास्तव में तभी संभव है जब लोगों के बीच हैसियत और संसाधन की असमानता कम हो। घर पर ही देखा जाए तो पाया जाता है कि कहीं–कहीं घर के पुरुष मुखिया निर्णय लेते हैं कि घर के सारे लोग किसे वोट देंगे। घर के अंदर पुरुष और महिलाओं की तथा पिता और पुत्रों की असमान परिस्थिति का असर चुनावों में भी होता है। यह अक्सर देखा जा सकता है कि कुछ लोग दूसरों की जीविका के साधनों पर अधिकार जमाए बैठे हैं (जैसे जमींदार, कारखानों के मालिक आदि)। जो लोग उन पर आश्रित हैं वे किस हद तक स्वतंत्र रूप में चुनावों में वोट डाल सकते हैं। और तो और जब सरकारें बन जाती हैं, उन तक तब एक आम गरीब नागरिक की तुलना में समाज के हैसियत वालों की पहुँच कहीं अधिक होती है और वे सरकार को मनवाने के कई तरीके अपना सकते हैं। अतः स्वस्थ लोकतंत्र तब ही पनप सकता है जब लोगों के बीच ज्यादा से ज्यादा समानता हो।

8. कानून और अल्पमतों की रक्षा

एक लोकतांत्रिक सरकार सिर्फ इस कारण से मनमानी नहीं कर सकती कि उसने चुनाव जीता है। उसे भी कुछ बुनियादी तौर–तरीकों व स्थापित कानूनों का पालन करना होता है। शासन का हर प्रमुख फैसला

लंबे विचार–विमर्श के बाद लेना होता है। हर पदाधिकारी को उस पद के साथ जुड़े अधिकार और जिम्मेदारियाँ संविधान द्वारा दी जाती हैं। ये सभी न सिर्फ जनता के प्रति उत्तरदायी हैं बल्कि अन्य स्वतंत्र अधिकारियों के प्रति भी उनकी जवाबदेही होती है।

इनमें प्रमुख है न्यायालय, जिसकी स्वतंत्रता का सम्मान करना और उसके आदेशों का पालन करना शासन का दायित्व होता है। चुनी गई सरकार का एक और दायित्व है अल्पमत वाले समूहों को दी गई कुछ गारंटियों का आदर। जो लोग आज अल्पमत में हैं उन्हें अपने विचारों को खुलकर प्रसारित करने तथा लोगों को मनवाने का अवसर हो तभी देश में विकल्प की सम्भावनाएँ बनेंगी। इस प्रकार हम लोकतंत्र की एक और विशेषता को रेखांकित कर सकते हैं – एक लोकतांत्रिक सरकार संवैधानिक कानूनों और नागरिक अधिकारों द्वारा खींची लक्ष्मण रेखाओं के भीतर ही काम करती है।

परिभाषाओं का सारांश

आइए, अब तक हुई चर्चा को समेटें। हमने लोकतंत्र की इस सरल–सी परिभाषा से बात शुरू की थी कि लोकतंत्र सरकार का एक ऐसा रूप है जिसमें शासकों का चुनाव लोग करते हैं। हमने पाया कि जब तक हम इसके कुछ प्रमुख शब्दों के बारे में और स्पष्ट न हो जाएँ, यह परिभाषा पर्याप्त नहीं है। अनेक उदाहरणों के जरिए हमने शासन के एक तरीके के रूप में लोकतंत्र की चार विशेषताओं को रेखांकित किया। इनके अनुसार लोकतंत्र शासन का एक ऐसा रूप है जिसमें:

– **लोगों द्वारा चुने गए शासक ही सारे प्रमुख फैसले करते हैं;**

– **चुनाव लोगों के लिए निष्पक्ष अवसर और इतने विकल्प उपलब्ध कराता है कि वे चाहें तो मौजूदा शासकों को बदल सकते हैं;**

– **यह विकल्प और अवसर सभी लोगों को समान रूप से उपलब्ध हैं; और**

– **इस चुनाव से बनी सरकार संविधान द्वारा तय बुनियादी कानूनों और नागरिक अधिकारों के दायरे को मानते हुए काम करती है।**

लोकतंत्र ही क्यों?

लोकतंत्र के खिलाफ तर्क

लोकतंत्र के खिलाफ अधिकांश तर्क जो हम आमतौर पर सुनते हैं वे कुछ इस प्रकार के होते हैं:

– लोकतंत्र में नेता बदलते रहते हैं इससे अस्थिरता पैदा होती है।

– लोकतंत्र का मतलब सिर्फ राजनैतिक लड़ाई और सत्ता का खेल है। यहाँ नैतिकता की कोई जगह नहीं होती।

– लोकतांत्रिक व्यवस्था में इतने सारे लोगों से बहस और चर्चा करनी पड़ती है कि हर फैसले में देरी होती है।

– चुने हुए नेताओं को लोगों के हितों का पता ही नहीं होता। इसके चलते खराब फैसले होते हैं।

– लोकतंत्र में चुनावी लड़ाई महत्वपूर्ण और खर्चीली होती है, इसीलिए इसमें भ्रष्टाचार होता है।

– सामान्य लोगों को पता नहीं होता कि उनके लिए क्या चीज अच्छी है और क्या चीज बुरी; इसीलिए उन्हें किसी चीज का फैसला नहीं करना चाहिए।

निश्चित रूप से लोकतंत्र सभी समस्याओं को खत्म करने वाली जादू की छड़ी नहीं है। लोकतंत्र ने हमारे देश में या दुनिया के अन्य हिस्सों में भी गरीबी नहीं मिटाई है। सरकार के स्वरूप के तौर पर लोकतंत्र सिर्फ इसी बुनियादी चीज को देखता है कि लोग अपने बारे में खुद फैसले करें। इससे इस बात की गारंटी नहीं हो जाती कि उनके सभी फैसले अच्छे ही होंगे। लोग गलतियाँ भी कर सकते हैं। इन फैसलों में लोगों को भागीदार बनाने से फैसलों में देरी होती है। यह भी सही है कि लोकतंत्र में जल्दी–जल्दी नेतृत्व परिवर्तन होता है। कई बार बड़े फैसलों और सरकार की कार्यकुशलता पर भी इसका बुरा असर होता है।

इन तर्कों से यह लगता है कि हम लोकतंत्र का जो रूप देखते हैं वह सरकार का आदर्श स्वरूप नहीं हो सकता है। पर वास्तविक जीवन में हमारे सामने यह सवाल नहीं होता। वहाँ सवाल यह होता है कि क्या हमारे पास सरकार के स्वरूपों के जो विकल्प उपलब्ध हैं उनमें लोकतंत्र किसी भी दूसरे से बेहतर है?

लोकतंत्र के पक्ष में तर्क

चीन में 1958–61 के दौरान पड़ा अकाल विश्व इतिहास का अब तक का ज्ञात सबसे भयावह अकाल था। इसमें करीब तीन करोड़ लोग भूख से मरे। उन दिनों भारत की आर्थिक स्थिति चीन से कोई बहुत अच्छी नहीं थी। फिर भी भारत में चीन के समान अकाल और भुखमरी की स्थिति नहीं आई। अर्थशास्त्रियों का मानना है कि ऐसा दोनों देशों की सरकारी नीतियों के अंतर के कारण हुआ। भारत में लोकतांत्रिक व्यवस्था होने से भारत सरकार ने खाद्य सुरक्षा के मामले में जिस तरह से काम किया है वैसा करने की जरूरत चीनी सरकार ने महसूस नहीं की। अर्थशास्त्रियों का यह भी कहना है कि किसी भी स्वतंत्र और लोकतांत्रिक देश में कभी भी बड़ा अकाल और बड़ी संख्या में भुखमरी नहीं हुई है। अगर चीन में भी बहुदलीय चुनावी व्यवस्था होती, विपक्षी दल होता और सरकार की आलोचना कर सकने वाली स्वतंत्र मीडिया होती तो इतने सारे लोग भूख से नहीं मर सकते थे।

यह उदाहरण लोकतंत्र को सर्वश्रेष्ठ शासन पद्धति बताने वाली विशेषताओं में से एक को बहुत स्पष्ट ढंग से सामने लाता है। लोगों की जरूरत के अनुरूप आचरण करने के मामले में लोकतांत्रिक शासन प्रणाली किसी भी अन्य प्रणाली से बेहतर है। गैर–लोकतांत्रिक सरकार लोगों की जरूरतों पर ध्यान दे भी सकती है और नहीं भी, और यह सब सरकार चलाने वालों की मर्जी पर निर्भर करेगा। अगर शासकों को कुछ करने की जरूरत नहीं लगती तो उनको लोगों की इच्छा के अनुरूप काम करने की जरूरत नहीं है। पर लोकतंत्र में यह जरूरी है कि शासन करने वाले, आम लोगों की जरूरतों पर तत्काल ध्यान दें। लोकतांत्रिक शासन पद्धति दूसरों से बेहतर है क्योंकि यह शासन का अधिक जवाबदेही वाला स्वरूप है।

गैर–लोकतांत्रिक सरकारों की तुलना में लोकतांत्रिक सरकारों के बेहतर फैसले करने का एक अन्य कारण भी है। लोकतांत्रिक फैसले में हरदम ज्यादा लोग शामिल होते हैं, चर्चा करके फैसले होते हैं, बैठकें होती हैं। अगर किसी एक मसले पर अनेक लोगों की सोच लगी हो तो उसमें गलतियों की गुंजाइश कम से कम हो जाती है। इसमें कुछ ज्यादा समय जरूर लगता है लेकिन महत्वपूर्ण मसलों पर थोड़ा समय लेकर फैसलें करने के अपने लाभ भी हैं। इससे ज्यादा उग्र या गैर–जिम्मेदार फैसले लेने की संभावना घटती है। इस प्रकार लोकतंत्र बेहतर निर्णय लेने की संभावना बढ़ाता है।

इसी से जुड़ा तीसरा तर्क भी है। लोकतंत्र मतभेदों और टकरावों को संभालने का तरीका उपलब्ध कराता है। किसी भी समाज में लोगों के हितों और विचारों में अंतर होगा ही। भारत की तरह भारी सामाजिक विविधता वाले देश में इस तरह का अंतर और भी ज्यादा होता है। अलग–अलग इलाकों में अलग–अलग समूहों के लोग रहते हैं, विभिन्न भाषाएँ बोलते हैं, उनकी धार्मिक मान्यताएँ अलग–अलग हैं और जातियाँ भी जुदा–जुदा। दुनिया को ये सभी अलग–अलग दृष्टिकोण से देखते हैं और उनकी पसंद में भी अंतर है। एक समूह की पसंद और दूसरे समूह की पसंद में टकराव भी होता है। ऐसे टकराव को कैसे सुलझाएँगे? इसे ताकत के बल पर सुलझाया जा सकता है। जिस समूह के पास ज्यादा ताकत होगी वह दूसरे को दबा देगा और कमजोर समूह को इसे मानना होगा। लेकिन इससे नाराजगी और असंतोष पैदा होगा। ऐसी स्थिति में विभिन्न समूह ज्यादा समय तक साथ नहीं रह सकते। लोकतंत्र इस समस्या का एकमात्र शांतिपूर्ण समाधान उपलब्ध कराता है। लोकतंत्र में कोई भी स्थायी विजेता नहीं होता और कोई स्थायी रूप से पराजित नहीं होता। सो विभिन्न समूह एक–दूसरे के साथ शांतिपूर्ण ढंग से रह सकते हैं। भारत की तरह विविधता वाले देश को लोकतंत्र ही एकजुट बनाए हुए है।

बेहतर सरकार और सामाजिक जीवन पर प्रभाव के हिसाब से ये तीन तर्क लोकतंत्र को काफी मजबूत साबित करते हैं। लेकिन लोकतंत्र के पक्ष में सबसे मजबूत तर्क उससे बनने वाली सरकार के कामकाज से जुड़ा नहीं है। यह तर्क लोकतंत्र और नागरिकों के रिश्ते का है – लोकतंत्र में नागरिकों की जो हैसियत होती है वह किसी और व्यवस्था में नहीं होती। अगर इस व्यवस्था में बेहतर फैसले लेने और उत्तरदायी सरकार चलाने का काम न भी हो तब भी यह दूसरों से बेहतर है। लोकतंत्र नागरिकों का सम्मान बढ़ाता है। लोकतंत्र राजनैतिक समानता के सिद्धांत पर आधारित है, यहाँ सबसे गरीब और अनपढ़ को भी वही दर्जा प्राप्त है जो

अमीर और पढ़े–लिखे लोगों को है। लोग किसी शासक की प्रजा न होकर खुद अपने शासक हैं। अगर वे गलतियाँ करते हैं तब भी वे खुद इसके लिए जवाबदेह होते हैं।

लोकतंत्र के पक्ष में आखिरी तर्क यह है कि लोकतांत्रिक व्यवस्था दूसरों से बेहतर है क्योंकि इसमें हमें अपनी गलती ठीक करने का अवसर भी मिलता है। जैसा कि हमने ऊपर देखा है, इस बात की कोई गारंटी नहीं है कि लोकतंत्र में कोई गलती नहीं हो सकती। किसी भी किस्म की सरकार इस बात की गारंटी नहीं दे सकती। इस मामले में लोकतंत्र का लाभ यह है कि इसमें गलतियों को ज्यादा देर तक छुपाए नहीं रखा जा सकता। इन गलतियों पर सार्वजनिक चर्चा की गुंजाइश लोकतंत्र में है। और फिर, इनमें सुधार करने की गुंजाइश भी है। इसका मतलब यह कि या तो शासक समूह अपना फैसला बदले या शासक समूह को ही बदला जा सकता है। गैर–लोकतांत्रिक सरकारों में ऐसा नहीं किया जा सकता।

चलें, अब इस चर्चा को समेटें। लोकतंत्र हमें सब चीज नहीं दे सकता और ना ही यह सभी समस्याओं का समाधान है। लेकिन यह साफ तौर पर उन सभी दूसरी व्यवस्थाओं से बेहतर है जिन्हें हम जानते हैं और दुनिया के लोगों को जिनका अनुभव है। यह अच्छे फैसलों के लिए बेहतर अवसर उपलब्ध कराता है, इसमें लोगों की इच्छाओं का सम्मान किए जाने की ज्यादा संभावना है और इसमें अलग–अलग तरह के लोग ज्यादा बेहतर ढंग से साथ–साथ रह सकते हैं। अगर यह इनमें से कुछ काम करने में असफल रहता है तब भी इसमें गलती सुधारने की संभावना है और इसमें सभी नागरिकों को ज्यादा सम्मान मिलता है। इसी वजह से लोकतंत्र को सबसे अच्छी शासन व्यवस्था माना जाता है।

लोकतंत्र का वृहत्तर अर्थ

इस अध्याय में हमने लोकतंत्र की एक सीमित और विवरणात्मक शैली में चर्चा की। हमने शासन के एक स्वरूप के तौर पर लोकतंत्र को समझा। लोकतंत्र की इस प्रकार की व्याख्या हमें उन न्यूनतम विशेषताओं या गुणों की पहचान कराती है जो लोकतंत्र की जरूरत है। हमारे समय में लोकतंत्र का सबसे आम रूप है प्रतिनिधित्व वाला लोकतंत्र। हम जिन देशों में लोकतंत्र होने की बात करते हैं वहाँ सभी लोग शासन नहीं चलाते। सभी लोगों की तरफ से बहुमत को फैसले लेने का अधिकार होता है और यह बहुमत भी स्वयं शासन नहीं चलाता। बहुमत का शासन भी चुने हुए प्रतिनिधियों के माध्यम से होता है। यह जरूरी हो जाता है क्योंकि लोकतंत्र शब्द का इस तरह का प्रयोग फैसले लेने के उसके बुनियादी तरीके को उजागर करता है। लोकतांत्रिक फैसले का मतलब होता है, उस फैसले से प्रभावित होने वाले सभी लोगों के साथ विचार–विमर्श के बाद और उनकी स्वीकृति से फैसले लेना यानी जो शक्तिशाली न हो उसका भी किसी फैसले में उतना ही महत्व होना जितना किसी बहुत शक्तिशाली का। यह बात सरकार या परिवार पर भी लागू होती है और किसी अन्य संगठन पर भी। इस प्रकार लोकतंत्र एक ऐसा सिद्धांत है जिसका प्रयोग जीवन के किसी भी क्षेत्र में हो सकता है।

कई बार हम लोकतंत्र शब्द का प्रयोग किसी मौजूदा सरकार के लिए नहीं करके कुछ आदर्शों के लिए करते हैं। इन्हें पाने का प्रयास सभी लोकतांत्रिक शासनों को जरूर करना चाहिएः

– ''इस देश में वास्तविक लोकतंत्र तभी आएगा जब किसी को भी भूखे पेट सोने की जरूरत नहीं रहेगी।''

– ''लोकतंत्र में प्रत्येक नागरिक को फैसला लेने में समान भूमिका निभानी चाहिए। इसके लिए वोट के समान अधिकार भर की जरूरत नहीं है। हर नागरिक को इसके लिए सूचना की समान उपलब्धता, बुनियादी शिक्षा, बुनियादी संसाधन और पक्की निष्ठा होनी चाहिए।''

इस लेख में हमने लोकतंत्र की व्यापक अवधारणा पर ज्यादा बातें नहीं की हैं। हमने सिर्फ शासन के एक तरीके के रूप में लोकतंत्र के कुछ बुनियादी संस्थागत स्वरूपों की चर्चा की है। इस समय हमें सिर्फ इतना याद कर लेना जरूरी है कि लोकतंत्र जीवन के अनेक पहलुओं में प्रासंगिक है और लोकतंत्र कई रूप ग्रहण कर सकता है। समानता के आधार पर चर्चा और विचार–विमर्श के बुनियादी सिद्धांत को माना जाए तो लोकतांत्रिक ढंग का फैसला भी कई तरह का हो सकता है। आज की दुनिया में लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था का सबसे आम रूप है लोगों द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन चलाना। लेकिन जब समुदाय छोटा हो तब लोकतांत्रिक फैसले लेने के दूसरे तरीके भी अपनाए जा सकते हैं। फिर तो सभी लोग

साथ बैठकर सीधे वहीं फैसले कर सकते हैं। किसी गाँव की ग्रामसभा को इसी तरह काम करना चाहिए।

क्या आप लोकतांत्रिक फैसले लेने के कुछ और तरीकों की कल्पना कर सकते हैं?

इसका यह भी मतलब हुआ कि किसी भी देश में आदर्श लोकतंत्र नहीं है। लोकतंत्र की जिन विशेषताओं की चर्चा हमने इस अध्याय में की वे लोकतंत्र की न्यूनतम शर्तें हैं। पर इनसे यह आदर्श लोकतंत्र नहीं बनता। एक आदर्श लोकतंत्र में निर्णय लेने की प्रक्रिया लोकतांत्रिक होनी चाहिए। हर लोकतंत्र को इस आदर्श को पाने का प्रयास करना चाहिए। यह स्थिति एक बारे में और एक साथ सभी के लिए हासिल नहीं की जा सकती। इसके लिए लोकतांत्रिक फैसले लेने की प्रक्रिया को बचाए रखने और मजबूत करते जाने की जरूरत होती हैं। नागरिक के तौर पर हम जो भी काम करते हैं वह भी हमारे देश के लोकतंत्र को अच्छा या खराब बनाने में मदद करता है। यही लोकतंत्र की ताकत है और यही कमजोरी भी। देश का भविष्य शासकों के कामकाज से भी ज्यादा नागरिकों के कामकाज पर निर्भर करता है।

यही चीज लोकतंत्र को अन्य शासन व्यवस्थाओं से अलग करती है। राजशाही, तानाशाही या एक दल के शासन जैसी अन्य व्यवस्थाओं में सभी नागरिकों को राजनीति में हिस्सेदारी करने की जरूरत नहीं रहती। दरअसल, अधिकांश गैर–लोकतांत्रिक सरकारें चाहती ही नहीं कि लोग राजनीति में हिस्सा लें। लेकिन लोकतांत्रिक व्यवस्था सभी नागरिकों की सक्रिय भागीदारी पर ही निर्भर करती है।

लोकतंत्र और शिक्षा

अगर हर नागरिक से अपेक्षा है कि वह सार्वजनिक कामकाज में भाग ले और शासन के काम पर निगरानी रखे। कानून और संविधान के प्रावधानों को समझे तथा देश की जरूरतों को समझकर नीति व कानून बनाने की प्रक्रिया में शामिल हो। अपने अधिकारों को समझे व उपयोग करे, तो यह उतना ही जरूरी है कि हर नागरिक शिक्षित हो और कुछ सामान्य क्षमता व जानकारी हासिल करे। लोकतंत्र न केवल यह माँग करता है कि हर नागरिक शिक्षित हो बल्कि यह भी कि नागरिकों को एक स्तर तक समान शिक्षा मिले क्योंकि असमान बुनियादी शिक्षा नागरिकों के बीच असमानता को बढ़ावा देता है जो कि लोकतंत्र के लिए हानिकारक है। जहाँ–जहाँ लोकतांत्रिक क्रांतियाँ हुईं हैं वहाँ स्तरीय सार्वभौमिक शिक्षा की भी माँग उठी है।

अभ्यास कार्य

1. यहाँ चार देशों के बारे में कुछ सूचनाएँ हैं। इन सूचनाओं के आधार पर आप इन देशों का वर्गीकरण किस तरह करेंगे? इनके सामने 'लोकतांत्रिक', 'अलोकतांत्रिक' और 'पक्का नहीं' लिखें–

   देश क : जो लोग देश के आधिकारिक धर्म को नहीं मानते उन्हें वोट डालने का अधिकार नहीं है।

   देश ख : एक ही पार्टी बीते बीस वर्षों से चुनाव जीतती आ रही है।

   देश ग : पिछले तीन चुनावों में शासक दल को पराजय का मुँह देखना पड़ा।

   देश घ : यहाँ स्वतंत्र चुनाव आयोग नहीं है।

2. यहाँ चार अन्य देशों के बारे में कुछ सूचनाएँ दी गई हैं, इन सूचनाओं के आधार पर इन देशों का वर्गीकरण आप किस तरह करेंगे। इनके आगे 'लोकतांत्रिक' 'अलोकतांत्रिक' और 'पक्का नहीं' लिखें।

   देश च : संसद सेना प्रमुख की मंजूरी के बिना सेना के बारे में कोई कानून नहीं बना सकती।

   देश छ : संसद न्यायपालिका के अधिकारों में कटौती का कानून नहीं बना सकती।

   देश ज : देश के नेता बिना पड़ोसी देश की अनुमति के किसी और देश से संधि नहीं कर सकते।

   देश झ : देश के सारे आर्थिक फैसले केंद्रीय बैंक के अधिकारी करते हैं जिसे मंत्री भी नहीं बदल सकते।

3. इनमें से कौन–सा तर्क लोकतंत्र के पक्ष में अच्छा नहीं है और क्यों?

   क. लोकतंत्र में लोग खुद को स्वतंत्र और समान मानते हैं।
   ख. लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ दूसरों की तुलना में टकरावों को ज्यादा अच्छी तरह सुलझाती हैं।
   ग. लोकतांत्रिक सरकारें लोगों के प्रति ज्यादा उत्तरदायी होती हैं।
   घ. लोकतांत्रिक देश दूसरों की तुलना में ज्यादा समृद्ध होते हैं।

4. इन सभी कथनों में कुछ चीजें लोकतांत्रिक हैं तो कुछ अलोकतांत्रिक। हर कथन में इन चीजों को अलग–अलग करके लिखें।
   क. एक मंत्री ने कहा कि संसद को कुछ कानून पास करने होंगे जिससे विश्व व्यापार संगठन द्वारा तय नियमों की पुष्टि हो सके।
   ख. चुनाव आयोग ने एक चुनाव क्षेत्र के सभी मतदान केंद्रों पर दोबारा मतदान का आदेश दिया जहाँ बड़े पैमाने पर मतदान में गड़बड़ की गई थी।
   ग. संसद में औरतों का प्रतिनिधित्व कभी भी 10 प्रतिशत तक नहीं पहुँचा है। इसी के कारण महिला संगठनों ने संसद में एक–तिहाई आरक्षण की माँग की है।
5. लोकतंत्र में अकाल और भुखमरी की संभावना कम होती है। यक तर्क देने का इनमें से कौन–सा कारण सही नहीं है?
   क. विपक्षी दल भूख और भुखमरी की ओर सरकार का ध्यान दिला सकते हैं।
   ख. स्वतंत्र अखबार देश के विभिन्न हिस्सों में अकाल की स्थिति के बारे में खबरें दे सकते हैं।
   ग. सरकार को अगले चुनाव में अपनी पराजय का डर होता है।
   घ. लोगों को कोई भी तर्क मानने और उस पर आचरण करने की स्वतंत्रता है।
6. किसी जिले में 40 ऐसे गाँव हैं जहाँ सरकार ने पेयजल उपलब्ध कराने का कोई इंतजाम नहीं किया है। इन गाँवों के लोगों ने एक बैठक की और अपनी जरूरतों की ओर सरकार का ध्यान दिलाने के लिए कई तरीकों पर विचार किया। इनमें से कौन–सा तरीका लोकतांत्रिक नहीं है?
   क. अदालत में पानी को अपने जीवन के अधिकार का हिस्सा बताते हुए मुकदमा दायर करना।
   ख. अगले चुनाव का बहिष्कार करके सभी पार्टियों को संदेश देना।
   ग. सरकारी नीतियों के खिलाफ जन सभाएँ करना।
   घ. सरकारी अधिकारियों को पानी के लिए रिश्वत देना।
7. लोकतंत्र के खिलाफ दिए जाने वाले इन तर्कों का जवाब दीजिएः
   क. सेना देश का सबसे अनुशासित और भ्रष्टाचार मुक्त संगठन है। इसलिए सेना को देश का शासन करना चाहिए।
   ख. बहुमत के शासन का मतलब है मूर्खों और अशिक्षितों का राज। हमें तो होशियारों के शासन की जरूरत है, भले ही उनकी संख्या कम क्यों न हो।
   ग. अगर आध्यात्मिक मामलों में मार्गदर्शन के लिए हमें धर्म–गुरुओं की जरूरत होती है तो उन्हीं को राजनैतिक मामलों का काम क्यों नहीं सौंपा जाए। देश पर धर्म–गुरुओं का शासन होना चाहिए।
8. इनमें से किन कथनों को आप लोकतांत्रिक समझते हैं? क्यों?
   क. बेटी से बापः मैं शादी के बारे में तुम्हारी राय सुनना नहीं चाहता। हमारे परिवार में बच्चे वहीं शादी करते हैं जहाँ माँ–बाप तय कर देते हैं।
   ख. छात्र से शिक्षकः कक्षा में सवाल पूछकर मेरा ध्यान मत बँटाओ।
   ग. अधिकारियों से कर्मचारीः हमारे काम करने के घंटे कानून के अनुसार कम किए जाने चाहिए।
9. एक देश के बारे में निम्नलिखित तथ्यों पर गौर करें और फैसला करें कि आप इसे लोकतंत्र कहेंगे या नहीं। अपने फैसले के पीछे के तर्क भी बताएँ।
   क. देश के सभी नागरिकों को वोट देने का अधिकार है और चुनाव नियमित रूप से होते हैं।
   ख. देश ने अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों से ऋण लिया। ऋण के साथ यह एक शर्त जुड़ी थी कि सरकार शिक्षा और स्वास्थ्य पर अपने खर्चों में कमी करेगी।
   ग. लोग सात से ज्यादा भाषाएँ बोलते हैं पर शिक्षा का माध्यम सिर्फ एक भाषा है, जिसे देश के 52 फीसदी लोग बोलते हैं।
   घ. सरकारी नीतियों का विरोध करने के लिए अनेक संगठनों ने संयुक्त रूप से प्रदर्शन करने और देश भर में हड़ताल करने का आहवान किया है। सरकार ने उनके नेताओं को गिरफ्तार कर लिया है।
   ड. देश के रेडियो और टेलीविजन चैनल सरकारी हैं। सरकारी नीतियों और विरोध के बारे में खबर छापने के लिए अखबारों को सरकार से अनुमति लेनी होती है।
10. अमेरिका के बारे में 2004 में आई एक रिपोर्ट के अनुसार वहाँ के समाज में असमानता बढ़ती जा रही है। आमदनी की असमानता लोकतांत्रिक प्रक्रिया में विभिन्न वर्गों की भागीदारी घटने–बढ़ने के रूप में भी सामने आई। इन समूहों की सरकार के फैसलों

पर असर डालने की क्षमता भी इससे प्रभावित हुई है। इस रिपोर्ट की मुख्य बातें थीं:

क. सन् 2004 में एक औसत अश्वेत परिवार की आमदनी 100 डॉलर थी जबकि गोरे परिवार की आमदनी 162 डॉलर। औसत गोरे परिवार के पास अश्वेत परिवार से 12 गुना ज्यादा संपत्ति थी।

ख. राष्ट्रपति चुनाव में 75,000 डॉलर से ज्यादा आमदनी वाले परिवारों के प्रत्येक 10 में 9 लोगों ने वोट डाले थे। यही लोग आमदनी के हिसाब से समाज के ऊपरी 20 फीसदी में आते हैं। दूसरी ओर 15,000 डॉलर से कम आमदनी वाले परिवारों के प्रत्येक 10 में सिर्फ 5 लोगों ने ही वोट डाले। आमदनी के हिसाब से ये लोग सबसे निचले 20 फीसदी हिस्से में आते हैं।

ग. राजनैतिक दलों का करीब 95 फीसदी चंदा अमीर परिवारों से ही आता है। इससे उन्हें अपनी राय और चिंताओं से नेताओं को अवगत कराने का अवसर मिलता है। यह सुविधा देश के अधिकांश नागरिकों को उपलब्ध नहीं है।

घ. जब गरीब लोग राजनीति में कम भागीदारी करते हैं तो सरकार भी उनकी चिंताओं पर कम ध्यान देती है – गरीबी दूर करना, रोजगार देना, उनके लिए शिक्षा, स्वास्थ्य और आवास की व्यवस्था करने पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता जितना दिया जाना चाहिए। राजनेता अकसर अमीरों और व्यापारियों की चिंताओं पर ही नियमित रूप से गौर करते हैं।

इस रिपोर्ट की सूचनाओं को आधार बनाकर और भारत के उदाहरण देते हुए 'लोकतंत्र और गरीबी' पर एक लेख लिखें।

दत्त कार्य

कल्पना करें कि आपकी शाला एक लोकतांत्रिक समुदाय है और उसमें सभी लोग (जैसे – शिक्षक, प्रधानाध्यापक, छात्र, अन्य कर्मचारी आदि) शाला से सम्बद्ध मामलों पर परस्पर बातचीत, सलाह–मशविरा करके निर्णय करते हैं। सबको समान मताधिकार हैं। इस कल्पना के आधार पर निम्न में से किन्हीं दो बिन्दुओं पर लिखिए (कम से कम 200 शब्द प्रत्येक)

(1) शाला का एक दिन।

(2) शाला के लिए शासन द्वारा रु. 1,00,000.00 मिले हैं। उसके सर्वोत्तम उपयोग को लेकर शाला समुदाय की बैठक चल रही है। उसका आँखों देखा हाल।

(3) अधिकांश छात्र चाहते हैं कि प्रत्येक कक्षा में प्रतिदिन दो कालांश खेल के लिए निर्धारित किए जाएँ। इस मसले पर शाला समुदाय की एक बैठक चल रही है। उसका आँखों देखा हाल।

(4) छात्र–छात्राओं के अभिभावक वर्तमान में शाला समुदाय का अंग नहीं हैं, लेकिन अब वे भी उसमें शामिल होना चाहते हैं। उन्हें शामिल किया जाए या नहीं इस पर फैसला करने के लिए एक बैठक चल रही है। उसका आँखों देखा हाल।

प्रोजेक्ट कार्य

अधिकांश अखबारों में एक संपादकीय पृष्ठ होता है। इस पन्ने पर अखबार समकालीन घटनाओं पर अपनी राय प्रकाशित करता है। अखबार दूसरे बुद्धिजीवियों और लेखकों के लेख और विचारों को छापता है। इसी पन्ने पर पाठकों की राय और टिप्पणियाँ भी पत्रों के रूप में छपती हैं। किसी अखबार को एक महीने तक पढ़ें और उसके उन संपादकीय टिप्पणियों, लेखों और पाठकों के पत्रों को काटकर जमा करें जिनका रिश्ता लोकतंत्र से है। इनको निम्नलिखित श्रेणियों में बाँटकर रखो।

–लोकतंत्र का संवैधानिक और कानूनी पहलू
– नागरिक अधिकार
– चुनावों और पार्टियों की राजनीति
– लोकतंत्र की आलोचना

पठन सामग्री क्र. 6

वैश्वीकरण और शिक्षा

सामान्य परिचय

वैश्वीकरण की नीतियों का असर शिक्षा पर हो रहा है। नामांकन बढ़ाने की योजनाएँ, पालकों की भागीदारी, निजी शिक्षा संस्थाओं का विस्तार, शाला और शिक्षक से की जाने वाली अपेक्षा ये सब कहीं ना कहीं वैश्वीकरण की नीतियों से जुड़ते हैं। ऐसे में प्रत्येक शिक्षक के लिए यह जरूरी हो जाता है कि वह इसके समूचे परिप्रेक्ष्य को समझे। इस पाठ में हम वैश्वीकरण की नीतियों के दोनों पक्षों पर गौर करते हुए शिक्षा से उनके जुड़ाव का अध्ययन करेंगे। आशा है कि वह पाठ नीतियों को समझने के लिए व्यावहारिक दृष्टिकोण प्रदान करेगा।

अध्याय की रूपरेखा

सामान्य परिचय
अध्याय से उद्देश्य
शीर्षक–उपशीर्षक
- वैश्वीकरण का क्या तात्पर्य है?
- वैश्वीकरण की प्रक्रियाएँ
- वैश्वीकरण की नीतियाँ
- वैश्वीकरण की सीमाएँ
- शिक्षा पर प्रभाव

अभ्यास कार्य
दत्त कार्य
परियोजना कार्य
सहायक पठन सामग्री
फिल्में

अध्याय के उद्देश्य

1. वैश्वीकरण की प्रक्रियाओं को समझना।
2. यह जानना कि वैश्वीकरण की नीतियाँ क्या हैं?
3. वैश्वीकरण के दोनों पक्षों का परिचय प्राप्त करना।
4. वैश्वीकरण की नीतियों का शिक्षा पर जो असर हो रहा है, उसे जानना।

वैश्वीकरण का क्या तात्पर्य है?

सन् 1500 के बाद धीरे–धीरे पूरी दुनिया व्यापार, युद्ध, साम्राज्य, संचार आदि सूत्रों से बंधने लगी। कोई भी क्षेत्र या देश या समूह चाहे वह कितने ही सुदूर अंचल का हो, इससे अछूता नहीं रह सका। इसी प्रक्रिया का एक चरम है वैश्वीकरण का वर्तमान दौर।

वैश्वीकरण को हम दो तरह से समझ सकते हैं:

1. एक आर्थिक व राजनैतिक प्रक्रिया जिसके तहत उत्पादन और वितरण का अंतर्राष्ट्रीयकरण होता है। अर्थात देशों के बीच उत्पादन, पूंजी, श्रम, विचारों व संस्कृति के आवागमन या लेन–देन में जो बाधाएँ थीं या हैं, उनका खात्मा। ताकि पूरे विश्व में इन सब बातों का बे–रोकटोक लेन–देन हो सके।
2. वैश्वीकरण को आगे बढ़ाने के लिए सुझाई गईं नीतियाँ जिन्हें हम उदारीकरण की नीतियाँ भी कहते हैं।

वैश्वीकरण की प्रक्रियाएँ

1980 व 1990 के दशकों में महत्वपूर्ण तकनीकी क्रांतियाँ हुईं जिनमें सबसे महत्वपूर्ण रही परिवहन, सूचना व संचार की क्रांति। इनके चलते सामान को एक जगह से दूसरे जगह लाना–ले जाना आसान और सस्ता हो गया और सूचनाओं को पाना, प्रेषित करना व उनका विश्लेषण करना त्वरित हो गया। आज किसी भी सूचना को दुनिया के एक कोने से दूसरे कोने तक तत्काल या तुरंत भेजा जा सकता है।

इसके साथ–साथ औद्योगिक उत्पादन कार्य और काफी हद तक कृषि उत्पादन भी लगभग पूरी तरह मशीनों की मदद से हो रहा है। जिसके कारण उत्पादन या परिवहन में मानवीय श्रम का महत्व नगण्य हो गया है। तो मनुष्यों के पास क्या काम बचा? मनुष्य के पास अब मुख्य रूप से ज्ञान या सोच–विचार आधारित काम रह गया है। समस्याओं को पहचानना, उनका निदान खोजना और उन्हें क्रियान्वित करना – यह मनुष्यों

का सबसे बड़ा काम बन गया है। इसके लिए जरूरी सूचनाओं को एकत्रित करना, उनका विश्लेषण करना और संप्रेषित करना – यह सब इलेक्ट्रॉनिकी की मदद से किया जा रहा है। ज्ञान आधारित दूसरे तरह का काम है नए विचार, नई चीजें, नई योजनाएँ तैयार करना – यानी सृजनात्मकता का काम। पिछले 50–60 वर्षों में उत्पादन कार्य में सीधे मशीनों के उपयोग के चलते मानवीय श्रम की जरूरत न्यूनतम रह गई है। अतः इसी दौरान तृतीयक कार्य – जिन्हें सेवाएँ भी कहते हैं, महत्वपूर्ण हो गये। शिक्षा, स्वास्थ्य, पर्यटन, एंटरटेनमेंट, फुटकर व्यापार, प्रशासन, मीडिया, आज महत्वपूर्ण होते जा रहे हैं। इन सेवाओं में ज्यादा लोग अपनी जीविका पा रहे हैं। इनमें भी भारी मानवीय श्रम की जगह मशीनों का उपयोग होता है और मनुष्यों का काम मुख्यतः वैचारिक – सृजनात्मक व विश्लेषणात्मक होता जा रहा है।

तकनीकी व अन्य विकासों के चलते उत्पादन का विखण्डन या विकेन्द्रीकरण भी हो रहा है। पहले के समय में एक विशाल कारखाने में हजारों मजदूर मिलकर एक चीज (कपड़ा, मोटरगाड़ी आदि) के सभी हिस्से बनाकर उन्हें जोड़कर तैयार करते थे। कहीं–कहीं कुछ कलपुर्जे आस–पास के कारखानों में बन जाते थे। लेकिन आज इस तरह के कारखाने विरले ही रह गए हैं। आज उत्पादन कई टुकड़ों में हो रहा है। उत्पाद के कई हिस्से विभिन्न देशों के छोटे कारखानों में से तैयार होकर आते हैं और किसी एक देश में इन्हें जोड़कर उत्पाद को पूरा किया जाता है, और बेचा जाता है।

इन सब के कारण आज उत्पादन विशाल कारखानों की जगह दुनिया भर में फैले छोटे–छोटे कारखानों में हो रहा है। इन छोटे कारखानों में स्वचालित मशीनों से काम होता है और उनमें बहुत कम मजदूरों की जरूरत होती है।

सूचना तकनीक आज बहुत महत्वपूर्ण होती जा रही है। इसकी मदद से ये सारी स्वचालित मशीनें चलती हैं। दूर–दराज में फैले छोटे कारखाने एक दूसरे के संपर्क में तथा कंपनी के मालिकों के संपर्क में रहते हैं। सूचना तकनीक की मदद से कहाँ, क्या, किस मात्रा में उत्पादन करना है व बेचना है, इस बात का निर्णय लिया जाता है, विविध समस्याओं का हल निकाला जाता है। जैसा हमने ऊपर देखा सूचनाओं को फौरन एक जगह से दूसरे जगह भेजा जा सकता है। उदाहरण के लिए न्यूयार्क (अमरीका) के किसी अस्पताल का रोजाना खर्च का लेखा–जोखा भारत के हरियाणा राज्य के गुडगांव में रखा जाता है। यानी यह सूचना उद्योग भी तकनीकी विकास के चलते कुटीर उद्योग की तरह काम कर सकता है।

इस सब की वजह से रोजगार के स्वरूपों में भी अन्तर आए हैं। अब कुछ नए प्रकार के रोजगार के अवसर युवाओं के सामने हैं, जो लगभग एक पीढ़ी पहले नहीं थे। क्या आप उनकी सूची बना सकते हैं?

बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ

ये वो कंपनियाँ हैं जो बनी तो किसी एक देश में और वहाँ उनका मूल पंजीकरण भी हुआ है लेकिन उनका कारोबार पूरी दुनिया में फैला है। उनके अंशधारक (शेयरहोल्डर) पूरी दुनिया में फैले हैं, उनके कारखाने दुनिया के विविध देशों में लगे हैं, उनके कामगार व उच्च्व मैनेजर कई देशों के रहने वाले हैं। उनका माल दुनिया भर में बिकता है और उनकी संपत्ति पूरी दुनिया में है। ऐसे में वे किसी एक देश के प्रति निष्ठावान नहीं हो सकते हैं, न किसी एक देश पर निर्भर हैं। उनका कारोबार कई छोटे व मध्यम देशों की अर्थव्यवस्था से जुड़ा है। यूँ तो 30,000 से अधिक ऐसी कंपनियाँ हैं मगर इनमें से कुछ 50 भीमकाय कंपनियाँ व बैंक हैं जो लगभग सभी छोटी–बड़ी कंपनियों में पूंजी निवेश द्वारा उन पर नियंत्रण रखते हैं। कई अर्थशास्त्रियों का मानना है कि इस बात के बावजूद कि वे किसी एक देश पर निर्भर नहीं हैं, आमतौर पर यह पाया जाता है कि इन कंपनियों की वित्तीय स्थिति उनके मूल देश की नीतियों व राजनैतिक दबदबे से काफी प्रभावित होती है।

हाल के तकनीकी क्रांतियों का भरपूर फायदा बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ तथा पूंजी निवेश करने वाले बैंक आदि उठा रहे हैं। वे ऐसे देशों में अपना पूंजी निवेश करते हैं जहाँ शासकीय नीतियाँ लचीली हों और कंपनियों पर पाबंदी कम हो, जहाँ शासन अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप कम–से–कम करे और शासकीय खर्च कम–से–कम हों (यानी कर कम–से–कम हों), जहाँ श्रम कुशल व सस्ता हो मगर असंगठित हो, जहाँ बुनियादी सुविधायें जैसे सड़क, बिजली व यातायात व्यवस्थित हों...। पूंजी निवेश दो तरीके से होता है, पहला उद्योग लगाकर और दूसरा शेयर बाजार आदि में निवेश करके जिसमें सट्टेबाजी की गुंजाइश होती है।

सभी सरकारें जानती हैं कि अगर उनके देश से पूंजी निकल जाये तो उनकी अर्थव्यवस्था कमजोर हो जाएगी, कारखाने बंद हो जाएँगे, नई तकनीक नहीं मिल पाएगी, विकास के लिए पूंजी की कमी पड़ जाएगी और लोग बेरोजगार हो जाएँगे। इसलिए हर देश के शासक इसी प्रयास में रहते हैं कि किसी–न–किसी तरीके से इन परिस्थितियों को निर्मित करें ताकि पूंजी निवेश हो और किसी प्रकार से निवेश का विरोध न हो पाए। अन्यथा यह पूंजी किसी अन्य देश में जा सकती है। कई लोगों का मानना है कि 16वीं शताब्दी से बनना शुरू हुए राष्ट्र–राज्य भी अब इस अर्थव्यवस्था के सामने कमजोर पड़ रहे हैं और वे अपने अधिकारों को ताक में रखकर पूंजी निवेश को बढ़ाने पर मजबूर हैं।

वैश्वीकरण की नीतियाँ

जैसे हमने पहले देखा, वैश्वीकरण के लिए जरूरत है कि देशों के बीच बाधाएँ नहीं हों और देश के अंदर शासन का हस्तक्षेप और खर्च कम–से–कम हो। इनके महत्व को समझने के लिए हमें 1990 से पहले की अर्थव्यवस्थाओं के प्रमुख बिन्दुओं को समझना होगा। उन दिनों राष्ट्र–राज्य दूसरे देशों से सामान के आयात को कम करने तथा अपना निर्यात बढ़ाने की नीति अपनाते थे ताकि उनके अपने उद्योगों का माल अपने देश में बिके और उनसे किसी और देश के उद्योग स्पर्धा न कर सकें। वे ऐसी भी नीतियाँ बनाते थे कि दूसरे देशों से खाद्यान्नों का आयात नहीं हो ताकि अपने देश के किसानों को अनाज की अच्छी कीमत मिलती रहे। वे ऐसी नीतियाँ भी अपनाते थे जिससे अपने देश के उद्योगपतियों, व्यापारियों व किसानों को शासन के तरफ से विविध अनुदान व छूट का लाभ मिले जो दूसरे देश के किसानों, उद्योगपतियों आदि को नहीं मिलता। ये देश खुद कई सारे उद्योग चलाते थे जो उनकी नजर में राष्ट्र के लिए जरूरी थे। इन सब के साथ–साथ राष्ट्र–राज्य अपने नागरिकों को कई तरह की सेवाएँ उपलब्ध करवाने में खर्च करते थे, जैसे सड़क, बिजली, शिक्षा, अस्पताल, टीवी, रेडियो आदि।

वैश्वीकरण ने इन राष्ट्र–राज्यों को मजबूर किया कि वे इन नीतियों को क्रमशः त्याग दें और एक बे–रोकटोक अर्थव्यवस्था निर्मित करें। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण नीतियाँ थीं – आयात पर करों को बहुत ही कम करना और किसी सामान के आयात पर पाबंदी न लगाना। दूसरा, शासकीय खर्च को न्यूनतम करना, और तीसरा, पूंजी निवेश संबंधी तथा श्रमिकों के वेतन व नौकरी की सुरक्षा संबंधी कानूनों को बदलना।

इस तरह के नीतिगत बदलावों के कारण गरीब तबके के लोगों को नुकसान होगा, यह देखते हुए कई अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं ने शुरुआती दौर में भारत जैसे विकासशील देशों को वित्तीय सहायता व उधार दिया। उनकी अपेक्षा थी कि इसकी मदद से सरकारें अपने गरीब लोगों के बीच शिक्षा को फैलाएँगी जिसकी मदद से लोगों की कार्यकुशलता बढ़ेगी और वे वैश्वीकरण से लाभ उठा पायेंगे। इसी नीति के तहत भारत में भी 1992 से लगभग 10 साल जिला शिक्षा परियोजना जैसी योजनाएँ चलीं जो शिक्षा को हर बच्चे तक पहुँचाने के प्रयास थे। इस तरह के कार्यक्रम किस हद तक सफल हुए और उनका परिणाम क्या हुआ, हम बाद में देखेंगे।

जाहिर है कि ये नीतियाँ राष्ट्र–राज्यों के बुनियादी सिद्धांत – राष्ट्र की संप्रभुता, अपने हित में कानून बनाने के अधिकार को चोट पहुँचाती हैं, लेकिन आज कोई भी ऐसा देश नहीं है जो इन नीतियों को नकार सकें क्योंकि सभी देश पूंजी निवेश के महत्व को जानते हैं।

विद्वानों के बीच यह बहस का विषय बना हुआ है कि क्या इस तरह के बदलावों के चलते राष्ट्र–राज्यों का कोई विषय है या नहीं। क्या राष्ट्र–राज्य इनके चलते महत्वहीन होकर खत्म हो जाएँगे। ज्यादातर विद्वान यह मानते हैं कि राष्ट्र–राज्यों की भूमिका में भारी परिवर्तन तो आएगा और वे अपने कई अधिकार अंतर्राष्ट्रीय संगठनों को सौंप देंगे। लेकिन साथ ही ये राज्य नई भूमिकाओं को निभाएँगे जिनमें सबसे प्रमुख होगा उनमें रहने वाले लोगों की शिक्षा, स्वास्थ्य और कानून व्यवस्थाएँ। यह माना जाता है कि वैश्वीकृत अर्थव्यवस्था में राष्ट्रों के पास सबसे महत्वपूर्ण उनकी श्रम शक्ति है। वे कितने स्वस्थ, कुशल, सृजनशील आदि हैं इस पर निर्भर होगा कि उनका देश इन नए हालातों का फायदा उठा पाएगा या नहीं।

वैश्वीकरण की सीमाएँ या दूसरा पक्ष

एक तरफ जहाँ वैश्वीकरण हो रहा है, वहीं दूसरी ओर हम देखते हैं कि उत्पादन का एक काफी बड़ा

हिस्सा और लोगों का जीवकोपार्जन अनौपचारिक घरेलू काम धंधों से हो रहा है। वैश्वीकरण के चलते जो पुराने उद्योग धंधे बंद हो रहे हैं उनके कामगार व उनके परिवार अपनी जीविका चलाने के लिए इस तरह के काम करने पर मजबूर हो रहे हैं। दूसरा वैश्वीकरण के तहत उत्पादन का काफी बड़ा हिस्सा जैसे रेडीमेड कपड़ा उद्योग आज मुख्य रूप से घरेलू उत्पादन पर निर्भर है। इसमें कम–से–कम पूँजी की लागत में हर घर के लोग, खासकर महिलाएँ व बच्चे काम कर रहे हैं और उन्हें अपने श्रम का बहुत ही कम मूल्य मिलता है। लेकिन इनके द्वारा बनाया गया सामान दुनिया के बड़े माने गए बाजारों में बिकने जाता है। इसी तरह ये लोग बहुत बड़े पैमाने पर फुटकर बिक्री, घरेलू सेवा आदि का काम कर रहे हैं।

अतः वैश्वीकरण से हमें सिर्फ यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि सब लोगों को बहुराष्ट्रीय कंपनियों में काम मिल जाएगा या सब लोगों को सूचना क्राँति के तहत बौद्धिक श्रम ही करना पड़ रहा है या फिर यह कि बेरोजगारी या बेकारी खत्म हो जाएगी। इसका उल्टा भी हुआ है – बहुत बड़े पैमाने पर लोग पुराने कारखानों या कंपनियों से बेदखल हुए हैं और विवश होकर वे घरेलू या अनौपचारिक कामकाज़ में लगे हैं।

शिक्षा पर प्रभाव

इन सारी बातों का शिक्षा पर गहरा असर पड़ेगा यह तो निश्चित है। वैश्वीकरण का असर पूरे विश्व की शिक्षा पर कई मायनों में देखने को मिलता है। पहला तो यह है कि शासन अपने खर्च की कटौती के दबाव के कारण शिक्षा में जरूरत से कम धन खर्च कर पा रहा है। इस कारण पूरे विश्व में बड़े पैमाने पर शिक्षा का निजीकरण हो रहा है। यानी पालक खुद अपने खर्च से निजी शालाओं या महाविद्यालयों या विश्वविद्यालयों में अपने बच्चों को पढ़ा रहे हैं। लेकिन यह मौका केवल उन लोगों को मिल पाता है जो धनी हैं व साधन संपन्न हैं। इसका एक मतलब यह है कि सारे बच्चे एक तरह की शालाओं में न पढ़कर अपने पालकों की आर्थिक हैसियत के अनुरूप शिक्षा प्राप्त करते हैं। इससे शिक्षा के माध्यम से समान नागरिकों को तैयार करने की राष्ट्रवादी राज्यों की योजना बुरी तरह प्रभावित हो रही है।

वैश्वीकरण नीतियों के तहत यह माना गया है कि शालेय शिक्षा को बेहतर बनाने के लिए उनके विकेन्द्रीकृत संचालन की जरूरत है। शिक्षा विभागों द्वारा केन्द्रीय प्रबंधन व संचालन महँगा पड़ता है और इससे शालेय स्तर पर जवाबदेही कमजोर रह जाती है। अतः यह सुझाया जाता रहा है कि पंचायत, नगरपालिका व पालक समितियों को शाला संचालन करना चाहिए। चूँकि पालकों व स्थानीय लोगों के बच्चे इन शालाओं में पढ़ते हैं, इसलिए वे स्थानीय स्तर पर नजर रखेंगे और शिक्षकों की जवाबदेही को सुनिश्चित करेंगे। इससे शालाओं की कार्यकुशलता बढ़ेगी। यह भी सुझाया जा रहा है कि अगर शालाओं को चलाने के लिए कुछ संसाधन स्थानीय स्तर पर ही जुटाए जाते हैं तो इससे भी शिक्षा की गुणवत्ता को बढ़ाया जा सकता है क्योंकि पालक अपने पैसों से फिजूल खर्ची होने नहीं देंगे और उसका सदुपयोग हो यही प्रयास करेंगे।

कई विद्वानों का मानना है कि इन नीतियों के बुनियाद में शासकीय खर्च को कम करना तथा समाज में शासन के हस्तक्षेप को कम करना ही है। इनके पीछे शैक्षणिक सुधार की सोच नहीं है बल्कि वित्तीय सुधार की ही सोच है। इसका एक नतीजा यह देखा गया है कि जिन क्षेत्रों में या तबकों में साधनहीनता है वहाँ के बच्चों को कमजोर शिक्षा मिल रही है। जो क्षेत्र साधन संपन्न हैं और जो लोग धनवान हैं और प्रभावशाली हैं उनके बच्चों को बेहतर शिक्षा मिल रही है।

शासन के वित्तीय भार को कम करने की जुगत का शिक्षकों के वेतन पर बुरा प्रभाव पड़ते हुए भी देखा गया है। जिसके चलते शिक्षा की गुणवत्ता पर बुरा असर हो रहा है। यह माना जाता है कि शिक्षा मूलतः शिक्षकों की समझ, प्रतिबद्धता व निष्ठा पर निर्भर है। अगर शिक्षक अपने जीविका के लिए दूसरे कामों (खेती, दुकानदारी, ट्यूशन आदि) पर निर्भर हैं तो वह शिक्षण पर पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाएँगे। इसी तरह शिक्षा में क्या सुधार होना चाहिए, शिक्षकों के सामने क्या समस्यायें आ रही हैं, आदि मुद्दों पर विचार–विमर्श करके कार्यक्रम बनाना और उसके लिए संसाधन लगाना शासन का ही काम हो सकता है और अगर इसमें कटौती की जाती है तो शिक्षा की गुणवत्ता पर बुरा प्रभाव ही पड़ेगा।

वैश्वीकरण का दूसरा प्रभाव यह है कि लगातार शिक्षित और उच्च शिक्षा प्राप्त कामगारों की जरूरत बढ़ रही है। इसके कारण सरकारें प्राथमिक व उच्च माध्यमिक शिक्षा को बढ़ाने तथा बालिका शिक्षा पर जोर देने लगी हैं। वे जानती हैं कि उनके देश में पूँजी निवेश को सुनिश्चित करने के लिए शिक्षित कामगारों की

सख्त जरूरत है। पूरी दुनिया में भाषाई कुशलता, गणितीय सोच, वैज्ञानिक तर्क, कम्प्यूटर प्रोग्रामिंग आदि उच्च क्षमताओं की माँग बढ़ी है और यह देखने को मिल रहा है कि ऐसे कार्यों में दक्ष लोगों को अन्य कामगारों से काफी अधिक आमदनी मिल पाती है। आँकड़े यह बताते हैं कि कोई भी व्यक्ति जो अपनी उच्च शिक्षा में धन निवेश करता है उसे प्रति रुपया अन्य व्यक्तियों की तुलना में अधिक आय मिलती है। इस कारण विश्वभर में प्राथमिक शिक्षा तथा विज्ञान व गणित शिक्षा को अधिक महत्व दिया जा रहा है और साथ ही अंग्रेजी शिक्षा को भी। इस कारण इन विषयों की उच्च शिक्षा के लिए होड़ बढ़ रही है। इस शिक्षा को वे ही छात्र हासिल कर पाते हैं जो पहले से संपन्न हैं और आमतौर पर अधिक फीस वाले निजी शालाओं में पढ़े हैं। इस तरह शिक्षा में असमानता पाटने की क्षमता होने के बावजूद असमानता ही बढ़ रही है।

वैश्वीकरण का तीसरा प्रभाव है विभिन्न शिक्षा व्यवस्थाओं के बीच तुलना और यह प्रयास कि सारे देशों की शिक्षा अंतर्राष्ट्रीय मापदण्डों के अनुरूप चलें। आज के दौर में यह माना जा रहा है कि शिक्षा संबंधी आँकड़ों से हम शिक्षा की गुणवत्ता की जाँच कर सकते हैं और इसके आधार पर उपचारात्मक कदम उठा सकते हैं। इस कारण दुनियाभर में शिक्षा संबंधी जानकारी व आँकड़े एकत्रित करने पर अत्यधिक जोर दिया जा रहा है और यह भी प्रयास है कि ये आँकड़े अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर तुलनीय हों। इसके तहत छात्रों की उपलब्धि का आकलन काफी महत्वपूर्ण होता जा रहा है। इनके आधार पर यह देखा जाता है कि शिक्षा में कितनी लागत आ रही है और इससे क्या उपलब्धि हासिल हो रही है। यह पूरे राष्ट्रीय शिक्षा तंत्र के नीतियों के लिए और साथ–साथ शाला स्तर पर सुधार के लिए उपयोगी माना जा रहा है। इस बात को लेकर जरूर बहस चल रही है कि इस तरह के आँकड़ें किस हद तक शैक्षिक गुणवत्ता का आकलन कर सकते हैं और इन आँकड़ों की विश्वसनीयता कैसे सुनिश्चित करें और क्या ऐसे आँकड़े इकट्ठा करने से छात्रों की उपलब्धि स्तर में कोई सुधार आता है।

अभ्यास कार्य

1. वैश्वीकरण से आप क्या समझते हैं?
2. हमने पढ़ा है कि सेवा क्षेत्र में विस्तार हुआ है। कृपया अपने आसपास के उदाहरण देते हुए इसका विश्लेषण कीजिए।
3. उदारीकरण का क्या आशय है?
4. विदेशों से पूँजी आना क्यों महत्वपूर्ण है?
5. वैश्वीकरण से पहले की आयात नीति की क्या विशेषताएँ थीं?
6. वैश्वीकरण के लाभ और हानियों पर संक्षिप्त नोट लिखिए।
7. वैश्वीकरण का रोजगार के स्वरूप और उपलब्धता पर क्या असर हुआ है?
8. निजी विद्यालयों के कारण समान नागरिक के निर्माण की राष्ट्रवादी योजना प्रभावित हुई है। इस कथन के पक्ष अथवा विपक्ष में तर्क देते हुए विश्लेषण कीजिए।
9. वैश्वीकरण की नीतियों का शिक्षा पर क्या असर हो रहा है?

दत्त कार्य

1. बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ किसी एक राष्ट्र के प्रति निष्ठावान नहीं होतीं। इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं। अपने विचारों को प्रस्तुत करते हुए एक निबन्ध लिखिए।
2. ज्यादातर विद्वान यह मानते हैं कि राष्ट्र–राज्यों की भूमिका में भारी परिवर्तन तो आएगा और वे अपने कई अधिकार अंतर्राष्ट्रीय संगठनों को सौप देंगे। लेकिन साथ ही ये राज्य नई भूमिकाओं को निभाएँगे जिनमें सबसे प्रमुख होगी उनमें रहने वाले लोगों की शिक्षा, स्वास्थ्य और कानूनी व्यवस्थाएँ। इस कथन के आधार पर भावी भारत या छत्तीसगढ़ का काल्पनिक विवरण लिखें।
3. वैश्वीकरण के लाभ और हानियों का उदाहरण सहित वर्णन करते हुए निबन्ध लिखिए।

परियोजना कार्य

1. किसी एक ग्राम पंचायत को क्षेत्र मानते हुए अध्ययन करें कि 1990 से अब तक वैश्वीकरण की नीतियों का निम्न बिन्दुओं पर क्या असर पड़ा है? (कृपया अपने तथ्यों के पक्ष में अधिकृत आँकड़े भी दें।)

–रोजगार का स्वरूप (लोग पहले किस प्रकार के काम करते थे और अब किस प्रकार के)

–काम के लिए पलायन

–यातायात व दूरसंचार के साधन, बिजली आदि।

–शिक्षा – नामांकन, साक्षरता, शाला त्यागी बच्चों की संख्या

–खुशहाली, आर्थिक समृद्धि

–पर्यावरण – जंगल, जलस्त्रोत, वन्य प्राणियों पर असर

2. किसी कारखाने में काम कर रहे श्रमिक परिवार से मुलाकात करके निम्न बिन्दुओं पर यह जानने का प्रयास करें कि वे अपने बच्चों की शिक्षा के बारे में क्या सोचते हैं?

–शासकीय और निजी स्कूलों में से वे किसे बेहतर मानते हैं? क्यो?

–वे अपने बच्चों को कितना पढ़ाना चाहते हैं? क्या इस हद तक की शिक्षा तक उनकी सहजता से पहुँच है?

–वे अपने बच्चों को क्या बनाना चाहते हैं? उनकी नजर में अच्छा पेशा या काम क्या है?

–बच्चों की शिक्षा में वे स्वयं किस–किस प्रकार सहायता करते हैं?

–क्या वे कभी शिक्षकों से मिलने अपने बच्चों के स्कूल जाते हैं, यदि हाँ तो प्रत्येक साल में औसतन कितनी बार?

–क्या शाला तक उनकी पहुँच सन्तोषजनक है या उन्हें (और उनके बच्चों को) किन्हीं कष्टों का सामना करना पड़ता हैं? कौन से कष्ट?

–क्या वे शाला में अध्ययन–अध्यापन के स्वरूप से सन्तुष्ट हैं?

इस विषय में उनके क्या सुझाव हैं? इन प्रश्नों के जवाबों तथा अपने अनुभव–अवलोकन के आधार पर कृपया अपनी राय दें कि श्रमिक वर्ग के बच्चों की बेहतर शिक्षा के लिए क्या–क्या किया जाना चाहिए?

इकाई क्र. 3

आधुनिक विश्व और शाला का स्वरूप

पठन सामग्री क्र. 7 – सार्वजनिक स्कूली शिक्षा का विकास

पठन सामग्री क्र. 8 – सबके लिए शिक्षा – कैसी शिक्षा?

पठन सामग्री क्र. 7

सार्वजनिक स्कूली शिक्षा का विकास

(यूरोप और अमरीका में)

अध्याय की रूपरेखा

अध्याय के उद्देश्य
सामान्य परिचय
विषयवस्तु के शीर्षक–उपशीर्षक
–इंग्लैंड
शुरुआतः 18वीं और 19वीं शताब्दी
ग्रामर शालाएँः मध्यम वर्ग के लिए
मज़दूर बच्चों की शिक्षा
शासकीय हस्तक्षेप
बीसवीं शताब्दी में
इंग्लैंड में वर्तमान शिक्षा व्यवस्था
–जर्मनी
जर्मनी की वर्तमान शिक्षा व्यवस्था
–संयुक्त राज्य अमरीका
अमरीका की वर्तमान शिक्षा व्यवस्था
अभ्यास कार्य
दत्त कार्य
परियोजना कार्य

अध्याय के उद्देश्य

–सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था के वैश्विक सन्दर्भ को समझना।

–इंग्लैंड में सार्वजनिक शिक्षा के विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया को जानना।

–ग्रामर शालाओं तथा रविवारीय शाला के उद्भव के कारणों तथा उद्देश्यों को जानना, खास तौर पर मज़दूर बच्चों की शिक्षा के सन्दर्भ में।

–जर्मनी में सार्वजनिक शिक्षा की शुरुआत के कारणों से परिचय, खास तौर पर राष्ट्र निर्माण के उद्देश्य के सन्दर्भ में।

–कुशल कारीगरों के निर्माण में जर्मनी की सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था का योगदान।

–अमरीका में सार्वजनिक शिक्षा की शुरुआत के कारणों से परिचय।

–विभिन्न सामाजिक–सांस्कृतिक समूहों (अफ्रीकी–अमरीकी, आदिवासी आदि) को अमरीकी सार्वजनिक शिक्षा में स्थान देने की प्रक्रिया को देखना।

सामान्य परिचय

इस अध्याय में हम देखेंगे कि किस तरह आधुनिक शिक्षा व्यवस्था का उद्भव हुआ और उस पर औद्योगीकरण, राष्ट्र–राज्य के निर्माण तथा लोकतंत्र का क्या प्रभाव पड़ा। हर देश में इन तीन तत्वों का मिश्रण कुछ अलग रहा है। कहीं औद्योगीकरण पर ज़ोर था तो कहीं राष्ट्र निर्माण पर और कहीं लोकतंत्र पर। फलस्वरूप हर देश की शिक्षा व्यवस्था में हम अन्तर देख पाते हैं, यहाँ हम तीन प्रमुख आधुनिक देशों के उदाहरण लेंगे – संयुक्त राज्य अमरीका, इंग्लैंड और जर्मनी।

मध्यकाल में औपचारिक शिक्षा कुछ ही लोगों के लिए जरूरी मानी जाती थी। आम तौर पर शासन करने वाले तबकों, व्यापारियों और धर्म से जुड़े लोगों के लिए ही शिक्षा को जरूरी माना गया। ये लोग ज़्यादातर अभिजात्य वर्ग के पुरुष होते थे। महिलाएँ, किसान, कारीगरों या मजदूरों के लिए शिक्षा को ज़रूरी नहीं समझा जाता था, हालाँकि इनमें से कई लोग साक्षर थे और खुद के प्रयास से किताबें पढ़ते–लिखते थे। यही परिस्थिति कमोबेश दुनिया के सभी देशों में थी। यह सूरत यूरोप में 18वीं शताब्दी से बदलने लगी। यह

वही समय था जब वहाँ औद्योगीकरण, राष्ट्र–राज्य और लोकतंत्र का विकास भी हो रहा था। इसी दौरान मजदूरों, महिलाओं आदि तबकों के आन्दोलन प्रभावी होने लगे थे। इन्हीं सब प्रक्रियाओं का प्रभाव उभरती स्कूली शिक्षा पर पड़ा।

स्कूल की व्यवस्था कौन करे – क्या चर्च, समुदाय खुद, या निजी संस्थाएँ, या शासन?

शिक्षा का खर्च कौन वहन करेगा – पालक, समुदाय, या शासन?

स्कूल में धार्मिक शिक्षा दी जानी चाहिए या साहित्य की या विज्ञान आदि की?

स्कूल में कौन–सी भाषा का उपयोग हो – बच्चों की स्थानीय मातृभाषा या राष्ट्रीय भाषा?

अगर बच्चे स्कूल नहीं जाना चाहें तो क्या होगा?

समाज में श्रमिक व अभिजात्य वर्ग का तथा पुरुषों व स्त्रियों का विभाजन था, शिक्षा उस अन्तर को बनाए रखेगा या पाटेगा?

ऐसे कई सवालों का उत्तर खोजते–खोजते आधुनिक शिक्षा व्यवस्था जिसे हम सार्वजनिक शाला कहते हैं का विकास इंग्लैंड और अन्य देशों में उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में हुआ। इस आलेख में हम इस रोचक इतिहास की कुछ झलक देख पाएँगे।

इस लेख में हम इंग्लैंड की शाला व्यवस्था के विकास पर विशेष ध्यान देंगे क्योंकि उसका प्रभाव भारतीय शिक्षा पर सबसे अधिक रहा।

इंग्लैंड

शुरुआत 18वीं और 19वीं शताब्दी

18वीं शताब्दी में इंग्लैंड में कोई शासकीय शाला नहीं थी। अभिजात्य वर्ग के बच्चों की शिक्षा उनके घर पर निजी रूप में होती थी या उनके लड़के महँगी निजी आवासीय शालाओं (जिन्हें पब्लिक स्कूल कहा जाता था) में पढ़ने जाते थे। मध्यम वर्ग के बच्चे आम तौर पर ग्रामर शालाओं में जाते थे। ग्रामर शालाएँ काफी पुरानी संस्थाएँ थी जिन्हें धनी लोगों ने स्थाई अनुदान के माध्यम से स्थापित किया था। इनमें अब भी ग्रीक और लैटिन भाषा अध्ययन पर ज़ोर था। मज़दूर वर्ग के बच्चे दिन–रात अपने माता–पिता के साथ काम में लगे रहते थे, उनके लिए कोई शाला व्यवस्था नहीं थी।

ग्रामर शालाएँ – मध्यम वर्ग के लिए

ये शालाएँ बाद में जाकर सार्वजनिक शिक्षा का आधार बनीं, इसलिए इन पर और गौर करें। जब इनकी स्थापना हुई तब उच्च शिक्षा का मतलब था ग्रीक और लैटिन भाषा व साहित्य का अध्ययन। चूँकि यहाँ पर इन भाषाओं के व्याकरण सिखाने पर ज़ोर था, इसलिए इन्हें ग्रामर स्कूल कहते थे। इनकी वित्तीय व प्रबन्धकीय व्यवस्था कुछ विशेष थी। स्थाई अनुदान के साथ संस्थापकों ने कुछ शर्तें रखीं कि इन शालाओं में किन विषयों को पढ़ाया जाएगा, कैसे पढ़ाया जाएगा आदि। यह स्थापना पत्र पंजीकृत होता था और शाला को इन शर्तों के अनुरूप ही चलाया जा सकता था। इनके संचालन के लिए एक समिति होती थी लेकिन प्रमुख ज़िम्मेदारी हेड मास्टर की ही थी जिनके पास काफी अधिकार होते थे। शिक्षा में जिन्हें भी रूचि थी उन्हें निःशुल्क दी जाती थी। जाहिर है ग्रीक और लैटिन भाषा व साहित्य में रुचि रखने वालों की संख्या सीमित थी और उनमें ऐसे ही लोग प्रवेश लेते थे जो चर्च में या उच्च शासकीय पदों में प्रवेश लेना चाहते थे। यहाँ गणित अंग्रेज़ी आदि के शिक्षण पर ज़ोर नहीं था। विज्ञान तो बिल्कुल ही नहीं। अंग्रेज़ी भी उपेक्षित थी और यहाँ तक कि अगर कोई विद्यार्थी अंग्रेज़ी में बोले तो उसको दण्डित किया जाता था। ग्रीक व लैटिन भी रटन्त पद्धति से पढ़ाई जाती थी और सामान्य वाक्य खुद से लिखने में छात्रों को कई साल लग जाते थे। बच्चों पर मास्टरों व हेड मास्टरों का बड़ा आतंक होता था।

1750 के बाद जब इंग्लैंड में धनी मध्यम वर्ग पनप रहा था और व्यापार, उद्योग और उपनिवेशों में प्रशासन आदि का विस्तार हो रहा था, तो ग्रामर स्कूलों पर काफी दबाव था कि वे अपनी विषय–वस्तु को आधुनिक जरूरतों के अनुरूप में बनाएँ। लेकिन हेड मास्टर तैयार नहीं थे। कानून भी उनके पक्ष में था और एक प्रसिद्ध विवाद में 1802 में यह निर्णय हुआ कि जिन शर्तों के तहत अनुदान दिया गया था उन्हें बदला नहीं जा सकता है, भले ही कुछ विषय जोड़े जा सकते हैं अतिरिक्त अनुदान या फीस के साथ।

आपके खयाल से मध्यम वर्ग उन ग्रामर शालाओं में किस तरह के विषय शामिल कराना चाहते होंगे। आपस में बातचीत करके उसकी सूची बनाने का प्रयास करें। उनमें से प्रत्येक विषय को लेकर चर्चा करें कि उस समय में मध्यम वर्ग को उस विषय को शाला में शामिल करने से क्या लाभ रहा होगा?

मध्यम वर्ग के दबाव के चलते 1840 में संसद में एक कानून पारित किया गया जिसके तहत ग्रामर स्कूलों के मूल उद्देश्यों को बदलकर नए विषय जोड़ने को सम्भव बनाया जाए बशर्ते कि उनके हेड मास्टर को यह स्वीकार्य हो। इस बीच कई नए ग्रामर स्कूल खोले गए, जिनमें आधुनिक विषय, जैसे– गणित, विज्ञान और अंग्रेज़ी भी पढ़ाए जाते थे। 1869 में एक और कानून के तहत शासन ने ग्रामर स्कूलों पर काफी नियंत्रण हासिल कर लिया और ग्रामर स्कूल निःशुल्क न रहकर सशुल्क शाला बन गए। ग्रामर शालाएँ मध्यम वर्ग, खासकर व्यापारी, उद्योगपति, वकील तथा शासकीय सेवाकर्मियों के बच्चों के लिए विकसित हुईं। उनमें मुख्य संघर्ष इस बात को लेकर था कि शिक्षा की विषय–वस्तु क्या हो – विज्ञान और आधुनिक साहित्य या प्राचीन भाषा और साहित्य?

मज़दूर बच्चों की शिक्षा

अठारहवीं शताब्दी की शुरुआत से ही इंग्लैंड के शहरों की आबादी तेज़ी से बढ़ने लगी थी और भारी संख्या में मजदूर परिवार शहरों की बस्तियों में रहने लगे। बड़ी संख्या में बच्चों व महिलाओं को कारखानों व खदानों में काम पर लिया जाने लगा था। बच्चों से 12 से 16 घण्टे काम करवाना आम बात थी। धीरे–धीरे इनका जीवन पशुओं के जीवन से भी बदतर होने लगा। ऐसे में उनके बीच विरोध और विद्रोह की भावनाएँ भी उभरने लगीं। धर्महीनता, अराजकता, जुर्म, उत्पात और सांस्कृतिक पतन का डर मध्यम वर्ग को सताने लगा। मध्यम वर्ग (व्यापारी, उद्योगपति, पेशेवर) और मज़दूर के बीच की खाई बहुत बढ़ती गई। यह काफी हद तक मध्यम वर्ग के लिए चिन्ता का विषय था। मज़दूर वर्ग पर मध्यम वर्ग का वैचारिक नेतृत्व बनाए रखने के लिए इस दूरी को पाटना ज़रूरी था।

इन परिस्थितियों में राबर्ट राईक्स नामक व्यक्ति ने 1781 में ग्लोसेस्टर शहर में मज़दूर बच्चों के लिए रविवार शालाओं की व्यवस्था की। रविवार ही एक दिन था जब बच्चे काम पर नहीं जाते थे। इस शाला में बाईबल सिखाया जाता था (इतिवार को और कुछ नहीं किया जा सकता था)। बाईबल के माध्यम से वह उन्हें पढ़ना–लिखना सिखाते थे। राईक्स ने आलेखों के माध्यम से अपने अनुभव काफी पत्रों व पत्रिकाओं में प्रसारित किए। उसका कहना था कि वह मज़दूर बच्चों की असभ्यता, हैवानियत, आपसी गाली–गलौच, जुर्म के प्रति आकर्षण, उद्दण्डता आदि से चिन्तित था और उन्हें सुसभ्य बनाने के लिए और धार्मिक शिक्षा देने के उद्देश्य से ही उसने रविवार शाला को आरम्भ किया था।

इन शालाओं में बच्चे सुबह दस बजे आकर बारह बजे तक रहते थे, फिर एक घण्टे के लिए घर जाकर वापस आते थे। फिर कुछ देर पढ़ने के बाद उन्हें चर्च ले जाया जाता था और उसके बाद शाम को पाँच बजे तक उन्हें धार्मिक पाठ याद करवाया जाता था। रविवार शाला के नतीज़ों से राईक्स और शहर के कारखानों के मालिक काफी प्रसन्न थे। राईक्स लिखते हैं;

"इस तरह के शिक्षण से इन नन्हें जाहिलों के आचरण में आश्चर्यजनक परिवर्तन आया है। कुछ दिन पहले श्रीमान चर्च, जो एक बड़े उद्योगपति हैं और जिनके कारखानों में बड़ी संख्या में बच्चे काम करते हैं, ने कहा – मेरे खयाल से अगर भेड़ियों और शेरों को कोई इन्सान में बदल सकता है तो यह परिवर्तन उससे भी अधिक विस्मयकारी है। पहले इनके व्यवहार, आचरण और सोच में जंगली जानवरों से ज़्यादा फर्क नहीं था। वे यह जताना चाहते हैं कि रविवार शालाओं की स्थापना के बाद वे अज्ञानी अनपढ़ प्राणी नहीं रहे। जब

कोई आला व्यक्ति उनके पास आकर उन्हें कोई निर्देश देता या उन्हें डाँटता या कभी उन्हें पुरस्कृत करना चाहता तो वे उससे दोस्ती करने तथा उस पर अच्छा प्रभाव डालने के लिए तत्पर रहते हैं। वे अब ज़्यादा सुशील, आज्ञाकारी और कम लड़ाकू या प्रतिशोधप्रेमी हो गए हैं।''

(John Carroll Power [The Rise and Progress of Sunday Schools - A Biography of Robert Raikes and William FoÛ] 1858 pp 45 & 46)

राईक्स का सन्देश पूरे देश में तेज़ी से फैला और चार साल में लगभग ढाई लाख बच्चे इन शालाओं में जा रहे थे। 1831 तक आते–आते लगभग बारह लाख बच्चे इन शालाओं में पढ़ रहे थे और ये शालाएँ ब्रिटेन की सार्वजनिक शाला शिक्षण के बीज बन गए। रविवार शालाएँ यूँ तो स्वतंत्र व्यक्तिगत प्रयासों से स्थापित हुई थीं, अक्सर वे इंग्लैंड के राजकीय चर्च के पादरियों को अपने संचालन या मार्गदर्शन के लिए आमंत्रित करते थे।

(नोटः राजकीय चर्च इंग्लैंड में उस समय अधिकांश लोग इसाई धर्म को मानते थे और प्रोटेस्टेंट सम्प्रदायों से जुड़े हुए थे। एक विशेष प्रोटेस्टेंट सम्प्रदाय को राजकीय आश्रय प्राप्त था और वह राजकीय चर्च (*चर्च ऑफ इंग्लैंड*) के रूप में स्थापित था। लेकिन सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में धर्म में राजकीय हस्तक्षेप का विरोध होता रहा और कई नए इसाई सम्प्रदायों का विकास भी हुआ। ये लोग धार्मिक स्वतंत्रता के पक्षधर थे और धार्मिक मामलों में राजकीय हस्तक्षेप या पक्षपात के खिलाफ थे।)

इंग्लैंड के मज़दूरों का इतिहास लिखने वाले ई.पी. थॉमसन के अनुसार, शुरुआत की रविवार शालाएँ मुख्यतः बच्चों को धार्मिक शिक्षा देने, उन्हें आज्ञाकारी बनाने तथा उनमें खुद के प्रति एक अपराधबोध और हीन भावना विकसित करने का काम करती थीं। उनका मानना है कि इन शालाओं में बच्चों में एक धार्मिक खौफ और डर पैदा किया जाता था और यह बताने की कोशिश की जाती थी कि जो सदाचारी हैं, मेहनती हैं और धर्मभीरू हैं उन्हें सुख–समृद्धि मिलेगी और जो ऐसे नहीं हैं उन्हें दण्ड मिलेगा। थॉमसन का कहना है कि इन शालाओं में धार्मिक शिक्षा पर इतना ज़ोर था कि बच्चे पढ़ना–लिखना तक नहीं सीख पाते थे। लेकिन थॉमसन यह भी बताते हैं कि कई रविवार शालाएँ इस बात का अपवाद भी थीं जहाँ धार्मिक शिक्षा की जगह क्षमतावृद्धि पर ज़ोर था और जहाँ विकल्प और विरोध की भावनाएँ भी उभारी जाती थीं। जो भी हो रविवार शालाएँ मजदूर बच्चों की शिक्षा के लिए उन्नीसवीं शताब्दी के सातवें दशक तक एकमात्र साधन बनी रहीं। कई मज़दूर, जो खुद पढ़ना–लिखना जानते थे, वे अपने बच्चों को खुद घर पर सिखाते भी थे।

मज़दूर लोग अपने बच्चों को रविवार शाला में क्यों भेजते होंगे? सम्भावित कारणों पर विचार करें और समूह में चर्चा करें।

उन्नीसवीं शताब्दी की शुरुआत तक राजकीय चर्च के तहत हर चर्च के साथ गरीब बच्चों के लिए एक शाला – जिसे चर्च शाला कहा जाता था – खोली गई। इनका संचालन चर्च द्वारा किया जाता था और स्थानीय चर्च के संसाधनों के अनुरूप उस पर खर्च होता था। जाहिर है कि इनमें बाईबल और शासकीय तौर पर स्वीकृत इसाई धर्म की बातें सिखाई जाती थीं और साथ–साथ पढना–लिखना और सदाचार भी। 1833 में शासन ने चर्च द्वारा संचालित शालाओं को भवन निर्माण और मरम्मत आदि के लिए अनुदान देना शुरू किया, और धीरे–धीरे शालाओं के निरीक्षक भी नियुक्त हुए। 1846 के बाद इन शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था भी शासन द्वारा की गई। इस प्रारम्भिक शासकीय हस्तक्षेप के बावजूद चर्च शालाएँ स्वयंसेवी बनी रहीं और उनका खर्चा चन्दे से चलता रहा। 1850 तक आते लगभग 20 लाख बच्चे शालाओं में पढ़ रहे थे। इनमें से लगभग 6 लाख बच्चे निजी शालाओं (चर्च शालाओं के अलावा) में जा रहे थे। लगभग तीन चौथाई मज़दूर बच्चे रविवार शालाओं में जा रहे थे।

उस जमाने के आँकडों से पता चलता है कि पाँच से बारह साल की उम्र के बच्चों में से लगभग पैंतीस प्रतिशत बच्चे किसी भी शाला में नहीं जा रहे थे। जो 20 लाख बच्चे जा रहे थे उनमें से लगभग आठ लाख बच्चे एक साल से भी कम समय तक शाला में दर्ज रहे। केवल 4 लाख बच्चे एक से दो साल तक दर्ज रहे।

उपरोक्त बातों से स्पष्ट होगा कि अभी भी मज़दूर वर्ग के लोग अपने बच्चों को शिक्षित करने के लिए तत्पर नहीं थे। वे इस शिक्षा को उपयोगी तो मानते थे मगर इसे एक आवश्यकता के रुप में नहीं देखते थे। यह भी धारणा बनी हुई थी कि जो बच्चे शाला जाते हैं, वे मेहनती नहीं होते। जो होनहार हैं वह अपनी मेहनत और सूझबूझ के दम पर आगे बढ़ेगा न कि शिक्षा के दम पर। हो सकता है कि ये धारणाएँ वास्तव में बच्चों को जल्दी काम पर भेजने की ज़रूरत से उपजी हों। मज़दूर–पालक मास्टरों से यही कहते पाए गए कि वे अपना काम जल्दी से निपटा लें ताकि बच्चे को काम पर भेजा जा सके। कई पिताओं के बारे में यह भी कहा जाता था कि वे अपने रेस के कबूतरों के लिए दाने खरीदने में ज़्यादा आतुर थे, बनिस्बत अपने बच्चों की शाला की मामूली फीस भरने के। इन सब बातों के बावजूद यह देखा गया कि उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य के दशकों में साक्षरता दर लगातार बढ़ती गई। कुछ आर्थिक इतिहासकारों का मत है कि वह दौर आर्थिक सम्पन्नता का दौर था जिसमें मज़दूरों के वेतन बढ़ रहे थे और बच्चों को काम पर भेजने का दबाव कम था। शासन की तरफ से भी कई योजनाएँ लागू की गईं जिनके चलते मज़दूरों को अपने बच्चों को स्कूल भेजने पर वजीफा दिया जाता था ताकि उनका आर्थिक नुकसान न हो।

तालिका – इंग्लैड में साक्षरता दर 1841 से 1871 (प्रतिशत में)

साल	1841	1851	1861	1871
पुरुष	67.3	69.3	75.4	80.6
महिला	51.1	54.8	65.5	73.2

ग्रामर शालाओं में कौन लोग शिक्षा पाते होंगे?

ग्रामर शालाओं में पाठ्यक्रम संशोधन की आवश्यकता क्यों व किसको पड़ी?

रविवारीय शाला और चर्च शालाओं की स्थापना के पीछे क्या उद्देश्य थे?

आपके विचार में इस शिक्षा के प्रसार से मज़दूर आन्दोलन पर क्या प्रभाव पड़ा होगा?

शासकीय हस्तक्षेप

उन्नीसवीं सदी के मध्य में इंग्लैंड का शैक्षणिक ढाँचा उसके समाज के वर्ग विभेद के अनुसार बना हुआ था। अभिजात्य वर्गों के लिए चन्द पब्लिक स्कूल, मध्यम वर्ग के लिए ग्रामर स्कूल और मज़दूर तबकों के लिए रविवारीय या चर्च स्कूल – इन तीनों तरह की शाला व्यवस्था को सुदृढ़ और समसामायिक बनाने के लिए शासन ने तीन अलग आयोग बिठाए और उनकी सिफारिशों के अनुरूप उनमें हस्तक्षेप किए। यहाँ हम मुख्य रूप में मज़दूर तबकों की शालाओं के लिए किए गए हस्तक्षेप पर विशेष ध्यान देंगे।

शालाओं में बच्चों की संख्या बढ़ रही थी और उनके लिए वित्तीय प्रावधान न होने के कारण दबाव बढ़ रहा था। इसको देखते हुए 1853 में शासन के तरफ से एक प्रस्ताव लाया गया कि शहर निवासियों से विशेष शाला कर वसूल कर वित्तीय प्रबन्धन किया जाए लेकिन यह प्रस्ताव पारित नहीं हो पाया। चर्च आधारित स्वयंसेवी संस्थाएँ शासकीय हस्तक्षेप के पक्ष में नहीं थीं और राजकीय चर्च के विरोधी इसाई सम्प्रदाय के लोग भी इस बात का विरोध कर रहे थे कि शासन के हस्तक्षेप के बढ़ने से राजकीय चर्च शालाओं के माध्यम से अपने विचारों का प्रचार करेगा।

1861 में न्यूकासिल नामक व्यक्ति की अध्यक्षता में एक आयोग ने अच्छी और सस्ती प्रारम्भिक शिक्षा को सभी वर्ग के लोगों तक पहुँचाने के तरीकों के बारे में अपनी रिपोर्ट दर्ज की। आयोग ने पाया कि अभी भी केवल 12 प्रतिशत बच्चे ही शाला जा रहे थे। उसका सुझाव था कि शाला का खर्च स्थानीय करों द्वारा निकाला जाना चाहिए। आयोग का यह भी कहना था कि शिक्षक मूल शैक्षिक काम (पढ़ना–लिखना तथा गणित) पर कम समय लगा रहे थे और ऊपरी कामों पर ज़्यादा। इस कारण से यह सुझाया गया कि शालाओं को शासकीय अनुदान निरीक्षकों द्वारा ली गई वार्षिक परीक्षा तथा बच्चों के उपस्थिति आँकड़ों के आधार पर

दिया जाए। कहा जाता है कि जब इसे (रिजल्ट के आधार पर पेमेंट सिद्धान्त) लागू किया गया था तो ये शिक्षक, छात्र और शिक्षा निरीक्षकों के बीच काफी अप्रिय रहा।

उन दिनों जो लोग जनसाधारण के बीच शिक्षा प्रसार का काम कर रहे थे, वे काफी हद तक स्पष्ट थे कि इस शिक्षा के दायरे को बहुत सीमित रखना है। न्यूकासिल आयोग के सम्मुख एक शाला निरीक्षक ने अपने बयान में कहा, *"एक कृषक बच्चे को ज़्यादा से ज़्यादा दस या ग्यारह साल की उम्र तक ही शाला में दिखना चाहिए। उसे केवल वर्तनी, सामान्य आलेख पढ़ना, पत्र लिखना, दुकानदार के बिल का योग निकालना, पड़ोसी देश कहाँ पर हैं, यह जानना और सबसे महत्वपूर्ण, धार्मिक प्रवचन को समझ पाना तथा ईश्वर और अन्य लोगों के प्रति अपने कर्तव्य जानना पर्याप्त है।"* लौ नामक शिक्षा अधिकारी और अधिक स्पष्टता के साथ कहते हैं –*"हमारा प्रस्ताव है कि हम बच्चों की शालेय शिक्षा के लिए तब ही अनुदान देंगे जब वे पढ़ना, लिखना और गणना करना सीख जाते हैं। हम यह नहीं कह रहे कि बच्चों को इससे ज़्यादा नहीं सीखना है। सीखने की कोई सीमा नहीं हो सकती है। लेकिन शासन उनके कितने सीखने का खर्चा उठाए? ...हम इन बच्चों को ऐसी कोई शिक्षा देना चाहते हैं जो उन्हें अपने दर्जे या पेशे से ऊपर उठाए।"*

यानी, शासकीय अनुदान बहुत ही बुनियादी शिक्षा के लिए दिए जाने थे जिसमें माध्यमिक स्तर की शिक्षा का सवाल ही नहीं था। फिर भी इस पर शासकीय खर्च बढ़ता जा रहा था और मज़दूर वर्ग की शिक्षा के लिए अन्य कोई विशिष्ट प्रावधान की जरूरत महसूस हो रही थी। स्थानीय स्वयंसेवी संगठन इस खर्च का वहन नहीं कर पा रहे थे और बढ़ती हुई छात्र संख्या के सन्दर्भ में कक्षाएँ भी कम पड़ रही थीं। फिर भी जैसे कि हमने ऊपर देखा, शासकीय हस्तक्षेप का धार्मिक समूहों द्वारा विरोध होता रहा।

इन सब विवादों के चलते 1870 में एक अति महत्वपूर्ण कानून पारित हुआ जिसे फोस्टर कानून कहते हैं, चूँकि इसे फोस्टर नामक मंत्री ने प्रस्तावित किया था। इसके अनुरूप जहाँ चर्च की शालाओं में क्षमता से अधिक छात्र हैं, वहाँ स्थानीय करों के माध्यम से वित्तीय प्रावधान करके अतिरिक्त शालाओं को स्थापित किया जा सकता था। इन नई शालाओं का संचालन स्थानीय रूप से चुने गए बोर्ड (समिति) द्वारा किया जाना था। ये शालाएँ मौजूद चर्च शालाओं की जगह नहीं लने वाली थीं मगर उनके अतिरिक्त थीं। फोस्टर का कहना था, वर्तमान स्वयंसेवी व्यवस्था द्वारा छूट गए बच्चों को पढ़ाने के लिए, कम से कम शासकीय अनुदान से और ज़्यादा से ज़्यादा पालकों की मदद से और स्वयंसेवी संगठनों को कमज़ोर किए बिना, यह व्यवस्था की जा रही है।

वे स्थानीय बोर्ड बच्चों से सीमित मात्रा में फीस ले सकते थे, साथ ही अनिवार्य रूप में शाला में उपस्थित होने के लिए नियम बना सकते थे। सबसे जटिल समस्या थी, धार्मिक शिक्षण की। क्या बच्चों को राजकीय धर्म के आधार पर शिक्षा दी जाएगी या यह विभिन्न विरोधी सम्प्रदाय के अनुरूप होगी? अन्त में यह तय हुआ कि शाला में किसी एक सम्प्रदाय सम्मत धार्मिक बातें नहीं सिखाई जाएँगी। एक तरह से सर्वधर्म समभाव आधारित धार्मिक शिक्षा की बात की गई थी। (यह और बात है कि उन दिनों सर्वधर्म का मतलब इसाई धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों से था।)

शुरू में इन्हें बोर्ड स्कूल कहा जाता था और बाद में काउंसिल स्कूल। ये शुरू की शासकीय शालाएँ थीं। पहला बोर्ड स्कूल लंदन में 1873 में शुरू हुआ और दो सालों में 78 और शालाएँ खोली गईं। ये शालाएँ विशाल, तीन मंज़िले भवन, बड़े खेल मैदान और अन्य साधनों से युक्त थीं, जो उभरती नगरपालिकाओं की शान की प्रतीक भी बनीं। इनके सामने उन बच्चों को शाला में लाना चुनौती थी जो चर्च शालाओं में नहीं जाते थे, बड़े ही उदण्ड बच्चे थे। यह आसान काम नहीं था। कई पालकों ने बच्चों को स्कूल भेजने से साफ मना कर दिया। कई शालाओं ने तो शाला में उपस्थिति को अनिवार्य बना दिया और अन्ततः 1880 में शासन ने कानून के द्वारा स्कूली शिक्षा को पाँच से दस साल की आयु तक अनिवार्य बना दिया। इसके खिलाफ खासी मुहिम छिड़ी क्योंकि कई गरीब पालकों के पास अपने बच्चों की फीस जमा करने के लिए साधन नहीं थे। 1891 में एक और कानून बना जिसके तहत शिक्षा को निःशुल्क बनाने की व्यवस्था की गई। निःशुल्क शिक्षा देने वाली शालाओं की भरपाई शासन अनुदान के माध्यम से करने लगा। पालकों व मिल मालिकों के विरोध के बावजूद शासन ने 1899 तक आते–आते अनिवार्य शिक्षा को बारह साल की उम्र तक कर दिया। लेकिन

अभी भी प्राथमिक शिक्षा की ही व्यवस्था थी। धीरे–धीरे माध्यमिक शिक्षा के लिए शासकीय शालाएँ खोली गईं लेकिन यह अनिवार्य नहीं था। 1899 में ही एक समेकित शासकीय शिक्षा विभाग स्थापित हुआ।

लेकिन अब भी आम मज़दूरों के बच्चों को माध्यमिक शिक्षा से अधिक की उम्मीद नहीं थी। उच्च शिक्षा जिसके पाने पर ही समाज में हैसियत वाले अवसर पाए जा सकते थे, अब भी मध्यम वर्ग और उच्च वर्ग के लिए ही उपलब्ध थी। इस प्रकार त्रिस्तरीय शिक्षा व्यवस्था (अभिजात्य वर्ग के लिए निजी शालाएँ, मध्यम वर्ग के लिए ग्रामर शालाएँ तथा मज़दूरों के लिए शासकीय शालाएँ) बनी रही।

बीसवीं शताब्दी में

शिक्षा व्यवस्था कुछ ऐसी थी कि प्राथमिक शिक्षा के बाद माध्यमिक स्तर पर (11 साल की उम्र में) दाखिला लेने के लिए बच्चों की परीक्षा ली जाती थी और जो उत्तीर्ण होते थे उन्हें ही आगे उस विद्यालय में पढ़ने का अवसर मिलता था। इस परीक्षा के आधार पर तय होता था कि कोई आगे जाकर विज्ञान पढ़ेगा या साहित्य या औद्योगिक काम करेगा। यह परीक्षा इस प्रकार से होती थी कि लड़कियाँ तथा गरीब तबके के बच्चे उत्तीर्ण नहीं हो पाते थे। जो लोग शिक्षा में बदलाव लाना चाहते थे उनका आग्रह था कि सबको समान रूप में 18 साल तक शिक्षा मिलनी चाहिए और माध्यमिक स्तर पर योग्यता के आधार पर छात्रों का विभाजन बन्द हो। लेकिन जो लोग वर्ग विभाजन में विश्वास रखते थे तथा यह मानते थे कि शिक्षा का स्तर बनाए रखने के लिए विशिष्ट छात्रों को ही सम्मिलित करना चाहिए वे चयन प्रक्रिया को बनाए रखने का प्रयास करते रहे। यह व्यवस्था 1960 तक प्रचलन में थी और उसके बाद धीरे–धीरे इसकी जगह शासकीय शालाओं के सब बच्चों को 18 साल तक समान शिक्षा देने की व्यवस्था बनी।

1960 के दशक में एक और अभियान चला जिसके परिणामस्वरूप बाल–केन्द्रित शिक्षा, शिक्षकों की शैक्षणिक स्वायत्तता, शालाओं की स्वायत्तता आदि स्थापित हुईं। शालाओं का अकादमिक संचालन स्थानीय शिक्षाविद् और शिक्षक मिलकर करते थे। 1980 के बाद एक और दौर चला है जिसे हम बाज़ारवादी या नव–उदारवादी दौर कह सकते हैं। इस दौर में मुख्य रूप में शिक्षकों व शालाओं की स्वयत्तता में कमी आई, विषय और जानकारी आधारित शिक्षण पर ज़ोर दिया जाने लगा एवं शिक्षा में शासकीय खर्च में क्रमशः कटौती की जाने लगी। अब शालाओं पर एक राष्ट्रीय पाठ्यक्रम लागू करने पर ज़ोर बना।

इंग्लैंड में वर्तमान शिक्षा व्यवस्था

पिछले सौ सालों में जो परिवर्तन हुए उनका नतीज़ा आज यह है कि इंग्लैंड में सब बच्चों को पाँच वर्ष की उम्र से 17 वर्ष तक अनिवार्य पूर्णकालिक शिक्षा प्राप्त करना होता है। सभी बच्चों के लिए नर्सरी शालाओं की व्यवस्था है जिसमें पालक उन्हें तीन साल की उम्र में दाखिल कर सकते हैं। प्राथमिक शिक्षा 4 से 11 साल तक दी जाती है और माध्यमिक शिक्षा 11 साल से 18 साल तक दी जाती है। शासकीय शाला पूर्णतया निःशुल्क हैं (नर्सरी से लेकर माध्यमिक स्तर तक) और उनका खर्च शासन करों के माध्यम से वहन करता है। इनके अलावा निजी शालाएँ भी हैं। लगभग 93 प्रतिशत बच्चे शासकीय शालाओं में पढ़ते हैं और केवल सात प्रतिशत बच्चे निजी शालाओं में पढ़ते हैं। ये निजी शालाएँ बहुत महँगी होती हैं और केवल अभिजात्य वर्ग के बच्चे उनमें पढ़ पाते हैं। इनका पाठ्यक्रम या शिक्षकों की योग्यता या वेतन आदि शासन द्वारा नियंत्रित नहीं होता है।

आपके विचार में क्या यह उपयुक्त है कि पाँचवीं या आठवीं या दसवीं में छात्रों की उपलब्धि के आधार पर उनके आगे की पढ़ाई या व्यवसाय निर्धारित हो?

क्या शिक्षकों को पाठ्यक्रम निर्धारित करने की स्वतंत्रता दी जानी चाहिए? इससे क्या फायदे व समस्याएँ हो सकती हैं?

क्या पूरे देश में एक–सा पाठ्यक्रम होना चाहिए और उपलब्धि का एक ही मापदण्ड होना चाहिए – अपने मित्रों से चर्चा करें?

जर्मनी

सार्वजनिक शासकीय शिक्षा व्यवस्था की शुरुआत जर्मनी के प्रशिया राज्य में अठारहवीं शताब्दी में हुई थी। प्रशिया स्वयं को एक शक्तिशाली सैन्य राज्य के रूप में विकसित करना चाहता था और वहाँ के शासकों ने माना कि सार्वभौमिक प्राथमिक शिक्षा के माध्यम से भावी प्रजा को राजा के प्रति वफादार और आज्ञाकारी बनाया जा सकता है। इस कारण शासकीय खर्चे में सभी वर्गों के बच्चों के लिए निःशुल्क शालाएँ स्थापित

हुईं। इनमें बच्चों को उम्र के हिसाब से कक्षाओं में बाँटा गया। बाद में जाकर यह पूरी दुनिया में शालेय व्यवस्था का आधार बना। साथ ही प्रशिया में अभी सामन्तवाद का बोलबाला था और अभिजात्य वर्ग और निम्न वर्ग के बीच सामाजिक व आर्थिक दूरी अधिक थी। वहाँ यहूदी व पोलिश भाषा बोलने वाले अल्पसंख्यक भी काफी अधिक थे। स्कूली व्यवस्था कुछ ऐसी बनी कि ये सामाजिक दूरियाँ बरकरार रहे।

इस प्रकार जर्मनी में लोकतंत्र और समानता को मजबूत करने के लिए नहीं बल्कि शासन के प्रति वफादारी और राजभक्ति की भावना उत्पन्न करने के लिए शालाओं का उपयोग किया गया। जर्मनी में मज़दूरों व अभिजात्य वर्ग के बच्चों को शिक्षा के माध्यम से अलग रखने के लिए यह व्यवस्था थी कि ज़्यादातर बच्चों को दस साल की उम्र में ही वोकेशनल यानी उत्पादक कार्य का प्रशिक्षण दिया जाने लगा और थोड़े से बच्चों के लिए अकादमिक शिक्षा, जिससे वे कॉलेजों में पढ़कर उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकते थे, की व्यवस्था थी।

जर्मनी की वर्तमान शिक्षा व्यवस्था

सभी बच्चों के लिए शासन की ओर से पूर्व प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था है लेकिन यह सबके लिए अनिवार्य नहीं है। लगभग सभी बच्चे शासकीय शालाओं में जाते हैं जो हर स्तर पर निःशुल्क है (केवल 6 प्रतिशत बच्चे निजी शालाओं में पढ़ते हैं)। यहाँ तक कि स्कूल के बाद उच्च शिक्षा भी बहुत कम खर्च पर शासकीय विश्वविद्यालयों में होती है।

6 साल से 17 साल की आयु तक सबको अनिवार्य शिक्षा के लिए स्कूल जाना पड़ता है। प्रथम चरण में दस साल की उम्र तक सारे बच्चे एक साथ प्राथमिक शाला में पढ़ते हैं। उसके बाद उनकी शैक्षणिक योग्यता व रुचि के हिसाब से पालक और शिक्षक तय करते हैं कि वे आगे किस तरह की शिक्षा हासिल करेंगे। ये मुख्यतः तीन तरह की होती हैं:

1. अकादमिक शिक्षा वाले स्कूल, जहाँ बच्चों को कठिन अकादमिक परीक्षा के लिए तैयार किया जाता है। इस परीक्षा से उत्तीर्ण होकर ही कोई विश्वविद्यालयों में प्रवेश पा सकता है और वहाँ से उच्च प्रबन्धकीय नौकरियाँ पा सकता है।

2. ऐसे बच्चों के लिए स्कूल, जिन्हें मध्यम वर्गीय नौकरियों के लिए तैयार किया जाता है। इनमें सामान्य विषयों के साथ–साथ मध्यम वर्गीय व्यवसायों से सम्बन्धित शिक्षा दी जाती है।

3. वे शालाएँ जो औद्योगिक काम के लिए बच्चों को तैयार करते हैं और इनमें पाठ्यक्रम अकादमिक विषयों पर केन्द्रित न होकर व्यवसाय केन्द्रित होते हैं।

दूसरी व तीसरी प्रकार की शालाओं में दसवीं कक्षा की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर नवयुवक एक विशेष व्यवस्था में शामिल होते हैं। इसे व्यावसायिक–प्रशिक्षु व्यवस्था कह सकते हैं। इसके अन्तर्गत छात्र किसी कम्पनी में प्रशिक्षु के रूप में दाखिला ले लेते हैं और साथ–साथ हफ्ते में दो दिन शासन द्वारा संचालित व्यावसायिक शिक्षा संस्थानों में भी जाते हैं। इस दौरान कम्पनी में उन्हें कई तरह के कामों में भाग लेने का अवसर मिलता है और प्रशिक्षु भत्ता भी मिलता है। दो–तीन साल के इस कोर्स के बाद वे किसी भी कम्पनी में काम करने के लिए तैयार हो जाते हैं। आगे भी औद्योगिक काम से सम्बन्धित उच्च शिक्षा का डिप्लोमा लेकर कुशल मज़दूर बन सकते हैं। जर्मनी के उच्च शिक्षा संस्थानों में आधे से अधिक तकनीकी व औद्योगिक शिक्षा से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि जर्मनी की शिक्षा व्यवस्था समाज में कुशल कारीगर व मज़दूर तैयार करने पर काफी ज़ोर देती है। इसी कारण पूरे विश्व में जर्मन मज़दूरों की कार्यकुशलता प्रसिद्ध है। यही नहीं, यहाँ औद्योगिक मज़दूरों का वेतनमान काफी अधिक है और एक कुशल मज़दूर की कमाई किसी विश्वविद्यालय शिक्षित व्यक्ति की कमाई के बराबर या अधिक भी हो सकती है।

सन् 2000 के आँकड़ों के अनुसार लगभग 55 प्रतिशत छात्र तीसरी (व्यावसायिक) धारा में पढ़ रहे थे, जबकि 34 प्रतिशत छात्र दूसरी (मध्यम व्यवसाय) धारा में पढ़ रहे थे और केवल 11 प्रतिशत अकादमिक धारा में थे।

संयुक्त राज्य अमरीका

इंग्लैंड के विपरीत संयुक्त राज्य अमरीका में 19वीं शताब्दी की शुरुआत से ही सब बच्चों के लिए समान और एक सी शिक्षा पर ज़ोर रहा। होरेस मान नामक शिक्षाविद् ने सामान्य शाला आन्दोलन – कॉमन स्कूल मूवमेंट – का सूत्रपात किया, जिसके तहत ऐसी व्यवस्था बनाई गई जिसमें सारे बच्चे एक ही शाला में साथ पढ़कर शिक्षा ग्रहण करेंगे। इसमें यह विचार निहित है कि इस प्रकार आपसी भेदभाव को समाप्त कर छात्र एक राष्ट्र के समान नागरिक के रूप में उभर पाएँगे। अमरीका में यूरोप जैसे सामन्ती और अभिजात्य वर्ग का बोलबाला नहीं था और वह शुरू से एक लोकतांत्रिक देश के रूप में उभरा। इस कारण वहाँ समान नागरिकों के निर्माण के लिए समान शाला की व्यवस्था की गई। 1850 तक ऐसी सामान्य शासकीय शालाएँ जहाँ शिक्षा निःशुल्क दी जाती थी, पूरे संयुक्त राज्य अमरीका में स्थापित हो गईं। लगभग हर राज्य में अनिवार्य शिक्षा का कानून भी लागू हो चला था। यहाँ हमें याद रखना चाहिए कि ये सामान्य शालाएँ केवल गोरे लोगों के लिए उपलब्ध थीं। शुरू में काले लोग, जो गुलाम थे, को शिक्षा देना कानूनन जुर्म था। जब गुलामी प्रथा खत्म की गई तो काले लोगों के लिए अलग शालाएँ खोली गईं। इस तरह अलग शालाएँ स्थापित करने को काले लोगों के नागरिक अधिकार आन्दोलन के दबाव में 1954 में गैर–कानूनी करार दिया गया। इसके बाद ही हर वर्ग के बच्चों को एक ही शाला में प्रवेश मिलने लगा।

बीसवीं शताब्दी के शुरू के दशकों में अमरीकी शिक्षा व्यवस्था पर शैक्षिक चिन्तक जॉन डीवी का काफी प्रभाव रहा। उनका आग्रह था कि शिक्षा का मकसद केवल विषय ज्ञान हासिल करना नहीं है बल्कि बच्चों में निहित क्षमताओं का विकास करना है ताकि वे स्वतंत्र व्यक्तित्व वाले बनें और सामाजिक बदलाव के काम में योगदान दे पाएँ। इस तरह शिक्षा का सम्बन्ध बच्चों के स्वतंत्र व्यक्तित्व के विकास तथा सामाजिक बदलाव से जोड़ा गया। यह शिक्षा जानकारी, रटन्त विधि तथा परीक्षा आधारित शिक्षण के विरुद्ध थी।

इसी तरह अमरीकी आदिवासी भी आधुनिक शिक्षा से दूर रहे। पहले तो आदिवासी समुदाय को चन्द क्षेत्रों में सीमित रखा गया। शासन की नीति यह थी कि आदिवासी बच्चों को आधुनिक शिक्षा देकर उन्हें अपनी संस्कृति और भाषा को छोड़कर मुख्यधारा की संस्कृति को अपनाने के लिए प्रोत्साहित करें। उन बच्चों को अपनी संस्कृति से विमुख करने के लिए उन्हें आवासीय शालाओं में रहने को बाध्य किया गया। इन शालाओं में आदिवासी भाषा बोलने या आदिवासी त्यौहार मनाने या आदिवासी पोशाक पहनने पर पाबन्दी थी। यहाँ आधुनिक औद्योगिक व शहरी संस्कृति के अनुसार उन्हें शिक्षा दी जाती थी। लेकिन यह नीति सफल नहीं हुई और आदिवासी लोग अमरीकी शिक्षा को नकारते रहे। अभी हाल के सालों में अमरीकी शासन आदिवासी संस्कृति के आधार पर सामुदायिक शाला स्थापित करके आधुनिक शिक्षा देने का प्रयास कर रही है।

अमरीकी आदिवासी मुख्यधारा की शिक्षा से क्यों नहीं जुड़ना चाहते होंगे? उनकी क्या–क्या चिन्ताएँ रही होंगी? उनमें और छत्तीसगढ़ के आदिवासियों की चिन्ताओं में आप कौन–कौन सी समानता पाते हैं?

मुख्याधारा की शिक्षा से जुड़ने से अमरीकी आदिवासियों को क्या–क्या फायदे और नुकसान हुए होंगे? सूची बनाइए।

अमरीका में वर्तमान शिक्षा व्यवस्था

अमरीका के अधिकांश बच्चे सार्वजनिक शालाओं में पढ़ते हैं जहाँ एक इलाके के सारे बच्चे (चाहे वे अमीर हों या गरीब, श्वेत हों या अश्वेत, बालिका हों या बालक) एक साथ पढ़ते हैं। ऐसी सार्वजनिक शालाओं को एक तरह से अमरीका के लोकतंत्र और अवसर की समानता का द्योतक माना जाता है। ये शालाएँ दरअसल स्थानीय समुदाय द्वारा संचालित होती हैं। एक शैक्षिक ज़िले के लोग चुनाव के माध्यम से ज़िला शिक्षा समिति का गठन करते हैं जो सभी स्थानीय शालाओं का संचालन करती है। यहाँ तक कि शाला में क्या पढ़ाना है, कैसे पढ़ाना है, तथा कौन पढ़ाएगा अदि विषय भी यही समितियाँ तय करती हैं। शाला के खर्च काफी हद तक स्थानीय करों (घरों पर कर आदि) तथा राज्य सरकार और केन्द्र सरकार के अनुदानों से चलता है। इस कारण यह जरूर हुआ है कि सम्पन्न इलाके व गरीब इलाकों के स्कूलों के संसाधनों में काफी अन्तर आया है। निजी शालाओं पर पाबन्दी तो नहीं है, लेकिन वे संख्या में बहुत कम और इतनी महँगी हैं कि केवल दस प्रतिशत बच्चे उनमें पढ़ते हैं।

अमरीका में शालेय स्तर पर अकादमिक दबाव कम रहता है और स्कूल के बाहर अन्य गतिविधियों के लिए बच्चों के पास समय रहता है। उच्चतर माध्यमिक स्तर तक सभी बच्चे एक–सी शिक्षा पाते हैं (यानी विषय आधारित या व्यावसायिक शिक्षा नहीं होती है)। लगभग 85 प्रतिशत बच्चे उच्चतर माध्यमिक स्तर तक शिक्षा पूरी कर पाते हैं। ऐसे उत्तीर्ण होने वाले छात्रों में से 75 प्रतिशत छात्र कॉलेजों में भी दाखिला पाते हैं। यानी नौकरी और व्यवसाय के बारे में अधिकांश अमरीकी बच्चे कॉलेज पूरा करने के बाद ही चिन्ता करते हैं। पिछले कई दशकों से राज्य व केन्द्र सरकारें शाला के काम में अपना हस्तक्षेप बढ़ाने लगी हैं ताकि पूरे देश में शैक्षणिक स्तर में समानता व गुणवत्ता ला पाएँ।

जर्मनी की सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था इंग्लैंड की व्यवस्था से किस तरह भिन्न थी?

जर्मनी में अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में सार्वजनिक शिक्षा की स्थापना के पीछे क्या–क्या कारण थे? उसमें और इंग्लैंड में रविवारीय शालाओं की स्थापना के कारणों में क्या समानता व अन्तर है?

अभ्यास कार्य

1. सार्वजनिक शिक्षा के सम्बन्ध में लौ के विचारों की समीक्षा कीजिए आप उनसे किस हद तक सहमत हैं?
2. इंग्लैंड में धार्मिक शिक्षा को लेकर क्या विडम्बनाएँ थीं? इसका निराकरण किस प्रकार हुआ? क्या आपको यह निर्णय भारत में भी प्रासंगिक लगता है?
3. क्या आपको लगता है कि स्थानीय मोहल्ले या गाँव में एक शाला होनी चाहिए जिसका खर्चा स्थानीय लोग ही वहन करें और वह शाला उनकी जरूरतों के अनुरूप चले?
4. अगर शासन सबकी शिक्षा की ज़िम्मेदारी ले तो इसमें क्या फायदे व क्या नुकसान हो सकते हैं?
5. शासन स्कूली शिक्षा को सब बच्चों के लिए अनिवार्य क्यों बनाना चाहता होगा? आपके विचार में क्या यह उचित है?
6. अमरीका व भारत की शिक्षा व्यवस्था की तुलना करें – दोनों में क्या समानताएँ व अन्तर हैं? अगर अमरीका की शिक्षा को और अधिक समतामूलक बनाना हो तो क्या करना होगा? भारत की शिक्षा व्यवस्था को अधिक समतामूलक बनाना हो तो क्या करना होगा? अपने विचार लिखें।
7. जर्मनी में पाँचवी कक्षा के बाद बच्चों को अलग–अलग धाराओं में बाँट दिया जाता है। क्या आपको यह उचित लगता है? भारत में यह किस अवस्था में किया जाता है?
8. जर्मनी, अमरीका तथा इंग्लैंड में लगभग दस प्रतिशत लोग निजी शालाओं में पढ़ते हैं – आपके प्रदेश में यह अनुपात कितना होगा? यह किस तरह समाज को फायदा या नुकसान पहुँचाता होगा? अपने विचार लिखें।

दत्त कार्य

1. इंग्लैंड, जर्मनी, और अमरीका की वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में से आपको कौन–सी शिक्षा अधिक पसन्द है? उसका निरूपण करते हुए कारण सहित समझाएँ।
2. इंग्लैंड, और अमरीका के सामाजिक व राजनैतिक इतिहास के प्रभावों का आकलन करते हुए उन दोनों देशों की वर्तमान शिक्षा व्यवस्था की तुलना करें।

परियोजना कार्य

इंग्लैंड, जर्मनी और अमरीका की वर्तमान शिक्षा व्यवस्था के तमाम सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक विभेदों को ध्यान में रखते हुए छत्तीसगढ़ की स्कूली शिक्षा व्यवस्था के लिए एक प्रस्तावित प्रारूप तैयार करें।

पठन सामग्री क्र. 8

सबके लिए शिक्षा – कैसी शिक्षा?

अध्याय की रूपरेखा

सामान्य परिचय
अध्याय के उद्देश्य
विषयवस्तु के शीर्षक–उपशीर्षक
पुनरावलोकन
स्कूली शिक्षा और असमानता
1. गाँधीजी के हिन्द स्वराज से
2. साम्यवादी आलोचना
3. इवान इलिच
4. अध्यापक के नाम पत्र
5. पॉलो फ्रेरा
उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र
अभ्यास
दत्त कार्य
परियोजना कार्य
अतिरिक्त पठन सामग्री
फिल्में

सामान्य परिचय

प्रत्येक राष्ट्र का प्रमुख सरोकार होता है कि वह आने वाली पीढ़ी के लिए शिक्षा के समुचित इन्तज़ाम करे। सार्वजनिक शिक्षा का यह एक आधार है। लेकिन सार्वजनिक शिक्षा का स्वरूप क्या हो, शिक्षा किस प्रकार से दी जाए, किसे दी जाए... और सबसे खास कि शिक्षा किसे कहा जाएगा... आदि ऐसे तमाम मुद्दे हैं जिनके बारे में विविध विद्वानों के अलग–अलग मत हैं। इस अध्याय में हम सार्वजनिक शिक्षा से क्या अपेक्षाएँ हैं, यह देखेंगे और इस बात की भी समीक्षा करेंगे कि आधुनिक स्कूली शिक्षा व्यवस्था क्या इन अपेक्षाओं को पूरा कर पाती है? गाँधी जी, साम्यवादी विचारक, इवान इलिच, और पॉलो फ्रेरा आदि विचारकों की समीक्षा पढ़ेंगे।

अध्याय के उद्देश्य

–सार्वजनिक शिक्षा के स्वरूप को लेकर चल रही बहस को समझना।

–गाँधी जी, साम्यवादी विचारक, इवान इलिच, और पॉलो फ्रेरा आदि विचारकों के शिक्षा संबंधी विचारों को समझना।

पुनरावलोकन

हमने आधुनिक विश्व की तीन प्रमुख विशेषताओं के बारे में विस्तार से पढ़ा– औद्योगीकरण, राष्ट्र–राज्य और लोकतंत्र। हमने यह भी देखा कि इन तीनों ने एक खास तरह की शिक्षा का समर्थन किया है।

औद्योगीकरण के लिए ज़रूरी है कि अनुशासित, समझदार व कुशल कारीगर हों। साथ ही, कम–से–कम कुछ कुशल मैनेजर, कुशल वैज्ञानिक, कुशल कम्प्यूटर प्रोग्रामर आदि की ज़रूरत है। दूसरी तरफ, औद्योगीकरण के लिए एक मानक बाज़ार की भी ज़रूरत है जिसमें दुनिया भर में, ज़्यादा–से–ज़्यादा लोग एक तरह के उत्पाद की माँग करें। यानी कि लोगों की सोच, रूचियाँ व खपत में समरूपता हो। तीसरी बात, औद्योगीकरण की यह भी ज़रूरत है कि कुछ लोग लीक से हटकर सोचें, नई–नई चीज़ों की खोज करें, समस्याओं के नए हल खोजते रहें – यानी, लोग सृजनशील और भीड़ से हटकर सोचने वाले बनें। जाहिर है कि यह आखरी बात कुछ विरोधाभास पैदा करती है क्योंकि सृजनशीलता के लिए अनुशासन, एकरूपता आदि मददगार नहीं हैं।

इसी तरह **राष्ट्रवाद** भी। सबसे पहले तो राष्ट्र यह माँग करते हैं कि सारे नागरिक खुद को राष्ट्र का अंग मानें, राष्ट्रीयता की महत्ता को स्वीकार करें। स्थानीय बोली, स्थानीय संस्कृति, स्थानीय पहचान आदि की जगह राष्ट्रभाषा, राष्ट्रीय तौर–तरीके, राष्ट्रीय उद्देश्य आदि लोगों के मन में रच–बस जाएँ। यह सब राष्ट्रीय शिक्षा के माध्यम से ही सम्भव था। एक तरह का पाठ्यक्रम, एक तरह की शाला, एक इतिहास व

नागरिकता का विषय, एक भाषा...। इनकी मदद से राष्ट्रीय शिक्षा का निर्माण हुआ। दरअसल यह देखा गया है कि राष्ट्रभाषा व राष्ट्रीय इतिहास दोनों ही शालेय शिक्षा के माध्यम से निर्मित हुए हैं। पहले तो स्थानीय बोलियाँ थीं जिन्हें पिरोकर या किसी एक भाषा को महत्व देकर एक मानक भाषा को खड़ा किया गया फिर इसे स्कूली शिक्षा का माध्यम बनाया गया। इसी तरह कई क्षेत्रीय इतिहासों की जगह एक समूचे राष्ट्र का इतिहास पहली बार स्कूलों के लिए रचा गया ताकि सभी नागरिकों में एक होने का भाव पैदा हो।

लोकतंत्र की ज़रूरतें कुछ अलग होती हैं। लोकतंत्र के लिए सतर्क, सक्रिय व समझदार नागरिकों की ज़रूरत है। ऐसे नागरिक जो अपने विचारों पर अड़े रहें, अपने अधिकारों के लिए डटे रहें और अपने सामूहिक हितों की रक्षा के लिए संगठित हों।

सार्वभौमिक शिक्षा (सबके लिए शिक्षा) लोकतंत्र के लिए भी उतनी ही ज़रूरी है जितनी औद्योगीकरण और राष्ट्र निर्माण के लिए। लेकिन लोकतंत्र के लिए ऐसे नागरिक की ज़रूरत है जो खुद सोच–विचार करने वाला हो, जो सबसे विचारों का आदान–प्रदान करे, सहजीवन की मर्यादाओं को समझते हुए अपने विचारों के लिए संघर्षशील रहे, अपने जैसे सोचने वालों के साथ मिलकर संगठित हो। ऐसे महिला व पुरुष नागरिक तैयार करने का जिम्मा लोकतांत्रिक विद्यालयों का है। इन शालाओं में व्यक्तिवाद के लिए खास जगह होगी, और सृजनात्मकता के लिए भी। इनमें हरेक व्यक्ति को अपने हितों की रक्षा करना एक धर्म के रूप में सिखाया जाता है तो, दूसरों के भिन्न मतों का सम्मान करना सिखाना भी एक प्रमुख पहलू है।

आधुनिक विश्व जिस ओर बढ़ रहा है वह एक **सघन केन्द्रीयकरण** की दुनिया है जिसमें कुछ कम्पनियाँ पूरी दुनिया के उत्पादन को तय करेंगी, कुछ लोग जो शासन में होंगे और जो बलशाली देशों के शासन में होंगे वे सभी के भाग्य का निर्धारण करेंगे। जैसा कि गाँधीजी ने बार–बार याद दिलाया था कि केन्द्रीयकरण एक तरह की उदासीनता को बढ़ावा देता है – मैं क्या कर सकता हूँ? मुझे इसमें क्या करना है? आदि। यह उदासीनता लोकतंत्र और मानवता दोनों के लिए घातक होगी। केन्द्रीयकरण काफी हद तक एक असमानता की दुनिया को बढ़ावा देता है। इसमें कुछ लोगों के पास ताकत है, वे निर्णय ले सकते हैं, और वे पूरे समाज के उत्पादन के अधिकांश हिस्से के हकदार भी बनेंगे। असमानता भी लोकतंत्र के लिए घातक है और यह मानवता को विकृत कर देती है।

लेकिन ऐसा लग रहा है कि सघन केन्द्रीयकरण की इस प्रक्रिया को अब पीछे नहीं ले जाया जा सकता। ऐसे में मानवता का क्या भविष्य है? आज कई लोग इस विषय के बारे में गहन विचार–विमर्श कर रहे हैं। इनसे कुछ नई दिशाएँ निकल रहीं हैं जो शायद आगे की राह खोलेंगी। पहला, तो यह है कि पूरे तंत्र को नियमबद्ध करना ताकि कोई भी हो वह नियमों व कानूनों के बाहर काम न कर पाए। दूसरा, हर स्तर पर पारदर्शिता को स्थापित करना ताकि सब जान पाएँ कि क्या निर्णय लिए गए व क्यों। इनकी खुलकर समीक्षा हो। नियमबद्धता, पारदर्शिता, समीक्षा, इन तीनों की मदद से एक सक्रिय नागरिक बने। क्या हम अपनी शालाओं में ऐसे नागरिक तैयार कर सकते हैं, जो केवल अपना जीवन यापन ही सफलतापूर्वक न करें बल्कि मानवता और समाज के प्रति अपना कर्तव्य भी निभा पाएँ?

औद्योगीकरण, राष्ट्र–राज्य और लोकतंत्र की शैक्षणिक ज़रूरतों को सूचीबद्ध कीजिए। तीनों की ज़रूरतें कहाँ मेल खाती हैं और कहाँ विरोधाभासी होती हैं, इसकी विवेचना कीजिए।

आधुनिक युग में किन कारणों से केन्द्रीयकरण बढ़ रहा है – इसका समाज पर क्या असर पड़ता है?

आपके विचार में शिक्षा समाज में किस हद तक समानता ला सकती है?

स्कूली शिक्षा और सामाजिक असमानता

स्कूली शिक्षा से यह अपेक्षा रही है कि वह समाज में सबको समान अवसर तथा लोकतांत्रिक व राष्ट्रीय मूल्यों को बढ़ावा देगी। यह भी अपेक्षा रही कि वह हर बच्चे में स्वतंत्र चिन्तन, अभिव्यक्ति तथा सृजनशीलता को कायम रखते हुए उन्हें बदलती हुई दुनिया में जीविकोपार्जन के लिए तैयार करेगी। लेकिन क्या वास्तव में हमारी शिक्षण व्यवस्था ऐसा कर पा रही है? जब बीसवीं शताब्दी में सामाजिक चिन्तक और शिक्षाविद् आधुनिक स्कूली शिक्षा की समीक्षा करने लगे तो कई प्रकार की बातें उभरकर आईं। इस बात को तो किसी

ने नहीं नकारा कि इन शालाओं ने विभिन्न सामाजिक तबकों के बहुत से बच्चों को आगे बढ़ने का अवसर दिया और बच्चों में नई क्षमताओं में वृद्धि की। लेकिन साथ–साथ यह भी देखा गया कि शालाएँ विभिन्न तरीकों से सामाजिक स्तरीकरण और भेदभाव को बनाए रखने में मदद कर रही हैं। समाज में ऊँचा दर्जा या ऊँची आय वाला पेशा अपनाने के लिए ज़रूरी ज्ञान केवल कुछ अभिजात्य बच्चों को दिया जाता है जबकि सामान्य बच्चों को केवल सीमित ज्ञान दिया जाता है। यही नहीं, बच्चों में सृजनशीलता, स्वतंत्र चिन्तन व संवेदनशीलता विकसित करने की बजाए उन्हें दिए गए ज्ञान को बिना सवाल किए स्वीकार करने की प्रवृत्ति विकसित की जा रही है। साथ ही शालाएँ औपनिवेशिक देशों व अल्पसंख्यक या आदिवासी समुदायों की संस्कृति को नष्ट करके उनकी जगह विकसित देशों या प्रभावी समुदायों की संस्कृति को थोपने का माध्यम भी बनते जा रहे हैं। इस तरह के चिन्तकों में महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, जॉन डीवी, लूनाचार्स्की, इवान इलीच, पॉलो फ्रेरा आदि प्रमुख हैं। इनमें से कुछ चिन्तकों के विचार हम इस खण्ड में पढ़ेंगे।

1. गाँधी जी के हिन्द स्वराज से...

"शिक्षा का साधारण अर्थ अक्षरज्ञान ही होता है।" लोगों को लिखना–पढ़ना व हिसाब करना सिखाना बुनियादी या प्राथमिक शिक्षा कहलाती है। एक किसान ईमानदारी से खुद खेती करके रोटी कमाता है। उसे मामूली तौर पर दुनियादारी का ज्ञान है। अपने माँ–बाप के साथ कैसे बर्ताव करना, अपनी स्त्री के साथ कैसे बर्ताव करना, बच्चों से कैसे पेश आना, जिस देहात में वह बसा हुआ है वहाँ उसकी चालढाल कैसे होनी चाहिए, इस सबका उसे काफी ज्ञान है। वह नीति के नियम समझता है और उनका पालन करता है।

लेकिन वह अपने दस्तखत करना नहीं जानता। इस आदमी को आप अक्षरज्ञान देकर क्या करना चाहते हैं। उसके सुख में आप कौन–सी बढ़ोत्तरी करेंगे। क्या उसकी झोंपड़ी या उसकी हालत के बारे में आप उसके मन में असन्तोष पैदा करना चाहते हैं। पश्चिम के असर के नीचे आकर हमने यह बात चलाई है कि लोगों को शिक्षा देनी चाहिए लेकिन उसके बारे में हम आगे–पीछे की बात सोचते ही नहीं।

अब ऊँची शिक्षा को लें – मैंने भूगोल सीखा, खगोल शास्त्र सीखा, बीजगणित भी मुझे आ गया। ... इससे मैंने अपना कौन–सा भला किया। अपने आसपास के लोगों का क्या भला किया। किस मकसद से मैंने यह ज्ञान हासिल किया। उससे मुझे क्या फायदा हुआ। एक अंग्रेज़ी विद्वान, जूल्स हक्स्ले कहते हैं, *'उस आदमी ने सच्ची शिक्षा पाई जिसका शरीर उसके बस में रहता है और सौंपा हुआ काम आसानी से कर लेता है तथा जिसकी बुद्धि शुद्ध, शान्त और न्यायप्रिय हो। उसने सच्ची शिक्षा पाई जिसका मन कुदरती कानून से भरा है और जिसकी इन्द्रियाँ उसके बस में हैं, जिसका मन स्वच्छ और तार्किक है, जिसके मस्तिष्क में प्रकृति से सम्बन्धित सच्चा ज्ञान भरा हो, जिसकी भावनाएँ पूरी तरह उसके मन के वश में हैं, जिसका मन कोमल हो, जो हर प्रकार के कुकर्मों से घृणा करता हो, और जो दूसरों को अपने जैसा देखता हो। मेरे अनुसार ऐसे व्यक्ति को ही शिक्षित माना जा सकता है, वही प्रकृति से सामंजस्य बिठा पाता है और प्रकृति उसका सदुपयोग कर पाएगी और वह प्रकृति का।'*

अगर यही सच्ची शिक्षा है तो मैं दावे के साथ कहूँगा कि ऊपर बताए विज्ञान मुझे अपनी इन्द्रियों को बस में करने में मदद नहीं करते हैं। इसलिए आप प्राथमिक शिक्षा को लीजिए या उच्च शिक्षा को वे हमारी मूल ज़रूरत के लिए उपयोगी नहीं हैं। वे हमें मनुष्य नहीं बनाते, न ही हमें अपने कर्त्तव्य निभाने में मदद करते हैं।

करोड़ों लोगों को अंग्रेज़ी की शिक्षा देना उन्हें गुलामी में डालने जैसा है। मैकाले ने शिक्षा की बुनियाद डाली वह वास्तव में गुलामी की बुनियाद थी। उसने इसी इरादे से अपनी योजना बनाई – ऐसा मैं नहीं सुझाना चाहता, लेकिन उसके काम का परिणाम यही निकला है। यह कितने दुख की बात है कि हम स्वराज की बात भी पराई भाषा में करते हैं। जिस शिक्षा को अंग्रेज़ों ने ठुकरा दिया है वह हमारा श्रृंगार बनती है। उन्हीं के विद्वान कहते रहते हैं कि उसमें यह अच्छा नहीं, वह अच्छा नहीं है। वे जिसे भूल गए, उसी से हम अपने अज्ञान के कारण चिपके रहते हैं। उनमें अपनी–अपनी भाषा की उन्नति करने की कोशिश चल रही है।

यह क्या कम जुल्म की बात है कि अपने देश में अगर मुझे इन्साफ पाना है तो मुझे अंग्रेज़ी भाषा का उपयोग करना चाहिए। ...यह गुलामी की हद नहीं है तो और क्या है। इसमें मैं अंग्रेज़ों का दोष निकालूँ या अपने हिन्दुस्तान का। गुलाम बनाने वाले तो हम अंग्रेज़ी जानने वाले लोग ही हैं।

दूसरी ओर हम सभ्यता में ऐसे फँस गए हैं कि अंग्रेज़ी शिक्षा बिल्कुल लिए बिना अपना काम न चला सकें। अंग्रेज़ी का उपयोग किया जाय – अंग्रेज़ों के साथ के व्यवहार करने में, ऐसे हिन्दुस्तानियों के साथ के व्यवहार करने में जिनकी भाषा हम समझ न सकते हों और अंग्रेज़ों के विचार जानने के लिए कि वे खुद अपनी सभ्यता से कैसे परेशान हो गए हैं। जो लोग अंग्रेज़ी पढ़े हुए हैं उनकी सन्तानों को पहले तो नीति सिखानी चाहिए और हिन्दुस्तान की एक दूसरी भाषा सिखानी चाहिए।

बालक जब पुख्ता पक्की उम्र का हो जाए, तब भले ही वे अंग्रेज़ी शिक्षा पाएँ और वह भी उसे मिटाने के इरादे से न कि उसके जरिए पैसे कमाने के इरादे से। ऐसा करते हुए भी हमें यह सोचना होगा कि अंग्रेज़ी में क्या सीखना चाहिए और क्या नहीं सीखना चाहिए। कौन से शास्त्र पढ़ने चाहिए, यह भी हमें सोचना होगा। थोड़ा विचार करने से ही हमारी समझ में आ जायेगा कि अगर अंग्रेज़ी डिग्री लेना हम बन्द कर दें तो अंग्रेज़ हाकिम चौकेंगे।''

(एम के गाँधी, **हिन्द स्वराज**, 1909 से)

उपरोक्त अंश में आप आधुनिक शिक्षा के बारे में गाँधीजी के तीखे विचारों से अवगत हुए होंगे। कई लोगों का मानना है कि स्वतंत्रता के 60 साल बाद भी गाँधीजी के ये विचार प्रासंगिक हैं। आज भी बच्चों की शिक्षा में उनकी मातृभाषा उपेक्षित है और शिक्षा का जीवन की ज़रूरतों से खास रिश्ता नहीं है।

अगर आप अपने स्कूल के अनुभव पर विचार करते तो आप किस हद तक गाँधीजी द्वारा की गई आलोचना को आज प्रासंगिक पाते है?

क्या आपको लगता है कि गाँधीजी अंग्रेज़ी या आधुनिक विज्ञान आदि की शिक्षा का विरोध कर रहे हैं और उन्हें हटाना चाहते हैं? अपना कारण भी स्पष्ट करें।

2. साम्यवादी समालोचना

बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में यूरोप में मज़दूर आन्दोलन और साम्यवादी आन्दोलन उत्कर्ष अवस्था में थे। इन आन्दोलनों से जुड़े लोगों का विचार था कि यूरोपीय देशों में ऐसी शिक्षा व्यवस्था बनी हुई है कि गरीबों के लिए केवल अक्षरज्ञान प्राथमिक स्तर पर सिखाया जाता है और केवल अमीरों के लिए उच्च शिक्षा के मौके उपलब्ध हैं। उच्च शिक्षा खर्चीली होती थी जो सामान्य श्रमिक परिवारों के पहुँच के बाहर थी। मज़दूर आन्दोलनों ने यह माँग उठाई कि सबको समान शिक्षा मिलनी चाहिए और सभी के लिए शासन द्वारा निःशुल्क व्यवस्था बननी चाहिए। साम्यवादी विचारकों की एक और आलोचना यह थी कि इस शिक्षा के माध्यम से बौद्धिक और शारीरिक श्रम में विभेद और दूरी पैदा की जा रही है। स्कूली शिक्षा में केवल बौद्धिक श्रम पर जोर होता है और शारीरिक श्रम को हेय दृष्टि से देखा जाता है। इस कारण समाज में एक वर्ग शासन करने के लिए तैयार होता है और दूसरा वर्ग केवल श्रम करने के लिए और दोनों के बीच आवागमन का मौका न्यूनतम हो गया। साम्यवादियों का मानना था कि समाज के हर व्यक्ति में शारीरिक श्रम करने, साहित्य और कला का आनन्द लेने तथा शासन में भाग लेने की क्षमताओं का विकास होना ज़रूरी है ताकि एक वास्तविक लोकतांत्रिक समाज की रचना हो सके।

जब रूस में मज़दूरों की क्रान्ति हुई और साम्यवादियों का शासन बना, तो एक समान और सार्वभौमिक शिक्षण प्रणाली की व्यवस्था की गई जिसमें हर तबके के बच्चे एक साथ शिक्षा ग्रहण करते थे। सारी कक्षाओं में उत्पादक श्रम पाठ्यचर्या का अनिवार्य हिस्सा था ताकि सारे बच्चे उत्पादन के लिए ज़रूरी कुशलता हासिल करें और श्रम की गरिमा को आत्मसात करें। इसी उत्पादक कार्य के इर्द–गिर्द अन्य विषयों की शिक्षा भी दी जाती थी। इस प्रकार इन शालाओं में बौद्धिक व शारीरिक श्रम दोनों को साथ लाकर बच्चों के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करने का प्रयास हुआ।

आप आगे के अंश में गाँधीजी की नई तालीम के बारे में पढ़ेंगे। गाँधीजी भी कुछ इसी तरह कारीगरी को शिक्षा के केन्द्र में रखना चाहते थे। सोवियत रूस में फर्क यह था कि वे गाँव व व्यक्ति के स्वावलम्बन में विश्वास नहीं करते थे और मानते थे कि भावी समाज में उत्पादन सामूहिक होगा और ज़्यादातर आधुनिक उद्योगों में होगा। इस कारण वे मशीनों व औद्योगिक कार्य पर ज़ोर देते थे न कि हस्तकारीगरी पर। रूस में यह प्रयास था कि छात्रों को किसी एक विशिष्ट उद्योग की शिक्षा न देकर उनमें सामान्य औद्योगिक कुशलताएँ विकसित करें ताकि उनके पास कोई भी काम करने की तैयारी हो। इसे वे पॉलीटेक्निकल शिक्षा कहते थे। (पालीटेक्निकल यानी बहु–तकनीक)

क्या आपको लगता है कि हमारे समाज में भी बौद्धिक काम को शारीरिक काम से अधिक महत्व दिया जाता है, उदाहरण सहित स्पष्ट करें।

रूस में कारीगरी की जगह मशीनी काम को शिक्षा का आधार बनाने की बात क्यों कही गई?

माध्यमिक व उच्चतर माध्यमिक शालाओं में पॉलीटेक्निकल शिक्षा देने के लिए किस तरह की व्यवस्थाओं की ज़रूरत होगी? क्या आपको लगता है यह व्यावहारिक होगा?

3. इवान इलिच

इवान इलिच ऑस्ट्रिया देश के प्रसिद्ध चिन्तक थे (जन्म 1926, मृत्यु 2002)। वे विभिन्न देशों में शिक्षा के क्षेत्र में काम करते हुए इस नतीज़े पर पहुँचे कि आधुनिक स्कूल व्यवस्था समाज को वास्तव में विकृत कर रही है। इस विचार को उन्होंने अपने प्रसिद्ध पुस्तक 'डीस्कूलिंग सोसाइटी' (समाज को शाला से मुक्त करना) में 1971 में प्रकाशित किया।

गाँधीजी की तरह इवान इलिच भी मानते थे कि शिक्षा जीवन भर सहज रूप से चलने वाली प्रक्रिया है और इसका निध ार्रण राज्य या शासन के नहीं बल्कि व्यक्ति व समुदाय को अपने हित में करना चाहिए। जब हम मानने लगते हैं कि शिक्षा वही है जो स्कूल में दी जाती है और स्कूल ही वह संस्था है जहाँ लोग शिक्षित हो सकते हैं, हम अपने ही सीखने की प्रक्रिया पर नियंत्रण खो बैठते हैं।

उनके अनुसार स्कूल हमारे जीवन और सोच पर इस तरह हावी हो गए हैं कि हमारे पूरे चिन्तन का स्कूलीकरण हो चला है – यानी हम सब कुछ स्कूल द्वारा निर्धारित तरीकों से सोचते हैं। हम अपने नैसर्गिक तरीकों से न सोचकर स्कूल जिस तरह हमसे सुचवाता है उस तरीके से सोचते हैं। स्कूल तंत्र विविध सोचने के तरीकों को दबाकर सबके चिन्तन में एकरूपता लाता है। हम हर चीज़ के लिए खुद पर निर्भर होकर रास्ता न खोजकर दूसरों पर, नौकरशाही पर निर्भर होने लगते हैं।

इलिच कहते हैं कि स्कूल लोगों को यह दिलासा देता है कि स्कूल की हाजरी से ही लोग सीखते हैं और जितने अधिक समय कोई स्कूल में बिताता है, उतना अधिक वह सीखता है और यह कि जो हम सीखते हैं उसे अंकों में मापा जा सकता है। इसके विपरीत इलिच का मानना है कि वास्तव में सीखना वह क्रिया है जिसके लिए दूसरों के हस्तक्षेप सबसे कम ज़रूरी हैं। दूसरा हम किसी के अध्यापन से नहीं बल्कि वास्तविक परिस्थितियों से गुज़रकर या उनमें भाग लेकर सीखते हैं। तीसरा वे यह मानते हैं वास्तविक ज्ञान या सीख अतुल्य है – इसे एक मापदण्ड से नापा नहीं जा सकता है। न ही हम किसी को कम शिक्षित या अधिक शिक्षित कह सकते हैं। लेकिन स्कूल हमें यह दिलासा देता है कि हम विभिन्न लोगों के शिक्षित होने को नापकर उन्हें श्रेणीबद्ध कर सकते हैं कि यह अधिक और बेहतर सीखा है या कम। इसका परिणाम यह होता है कि हम लोगों के बीच समाज द्वारा निर्मित असमानताओं को स्वीकार लेते हैं और मानने लगते हैं कि यह उनके कम या ज़्यादा सीखने का परिणाम है।

स्कूल सीखने की प्रक्रिया का बाज़ारीकरण करता है – वह सीखने को ऐसे माल के रूप में प्रस्तुत करता है जैसे कि हम दुकान में जाकर एक के बाद एक खरीदते जाएँ। जिसने सबसे अधिक डिग्री हासिल की वह सबसे अधिक शिक्षित। लेकिन इलिच सवाल उठाते हैं कि क्या इसी को हम ज्ञान और सीखना मानते हैं? क्या ऐसे ही ज्ञान अर्जित किया जाता है?

जिन देशों में गरीबों के लिए सरकार ज़्यादा से ज़्यादा सुविधाएँ मुहैया कराती है वे सरकार पर उतना ही आश्रित होते जाते हैं और जिसके चलते उनकी व्यक्तिगत और सामाजिक क्षमताओं का दमन होता जाता है। सरकार एक ही प्रकार की शिक्षा सभी के लिए लागू करती है। इलिच कहते हैं कि जिस प्रकार आधुनिक लोकतंत्र ने सरकार द्वारा थोपे गये धर्म को नकारा, उसी प्रकार हमें स्कूल द्वारा सबकी सोच पर शासन के नियंत्रण को भी नकारना चाहिए।

इलिच का मानना है कि स्कूली तंत्र वास्तव में लोगों को शिक्षित करने के काबिल नहीं हैं। हम बिना शिक्षक की मदद के बात करना, सोचना, महसूस करना, प्रेम करना, खेलना, काम करना आदि सीख जाते हैं। लोग वास्तव में स्कूल के बाहर अपनी शिक्षा पाते हैं, हुनर सीखते हैं, मगर भ्रमवश उसका श्रेय स्कूल को देते हैं। स्कूल उन्हीं को सिखा पाती है जो पहले से पारिवारिक परिवेश के कारण शिक्षित हैं, और गरीब लोग जिनके पास यह संसाधन उपलब्ध नहीं है, वे तमाम खर्चों के बावजूद अशिक्षित रह जाते हैं।

अमरीका में 1965 से 1968 के दौरान किए गए अध्ययनों के आधार पर वहाँ की अदालत ने कहा था कि इस शिक्षा के जरिए गरीबों की पढ़ाई के स्तर में कुछ खास इजाफा नहीं हो पाया है। शिक्षा में पिछड़े लोगों को स्कूल के जरिए शिक्षित नहीं किया जा सकता। इसके लिए खर्च किया गया पैसा वास्तव में उनकी मदद कर पाता है जो पहले से ही कुछ बेहतर स्थिति में हैं। यह तय है कि अगर गरीब और अमीर परिवार के बच्चे एक ही उम्र से एक साथ, एक ही स्कूल में पढ़ना शुरू करें तो गरीब बच्चे कभी भी अमीरों की बराबरी नहीं कर पाएँगे क्योंकि मध्यमवर्गीय बच्चों को पढ़ाई का वातावरण, सहयोग, घर के माहौल और सम्पर्क में आने वाले लोगों से मिलता है जो कि गरीब बच्चों के सन्दर्भ में नदारद है।

पूरी दूनिया में स्कूल समाज पर शिक्षा विरोधी प्रभाव डालती है। स्कूल एक ऐसी संस्था के रूप में मानी जाती है जिसे शिक्षा की विशेषज्ञता प्राप्त है और ऐसे में इन स्कूलों का असफल होना लोगों के मन में ये धारणा बनाता है कि स्कूल जटिल, रहस्यमयी, खर्चीला और असम्भव कार्य है।

स्कूल के एवज में शिक्षा के क्या तरीके हो सकते हैं। वे कहते हैं कि समाज में ऐसी व्यवस्थाएँ हों कि जो लोग किसी भी उम्र में सीखना चाहते हैं, उनके लिए सीखने के संसाधन उपलब्ध हों। जो लोग अपने हुनर और समझ इच्छुक लोगों तक पहुँचाना चाहते हैं, उनके लिए व्यवस्थाएँ हों। जो भी समाज में किसी भी मुद्दे पर बहस और विमर्श करना चाहते हैं उनके लिए पूरे मौके हों।

इसके लिए इलिच मानते हैं कि समाज में पर्याप्त पुस्तकालय, संग्रहालय, प्रयोगशालाएँ, थियेटर आदि हों। कार्यस्थलों पर भी नई बातें सीखने के लिए संसाधन उपलब्ध हों। इनसे लोग फुरसत के समय या काम के दौरान सीखते रह सकते हैं। दूसरा वे ऐसे लोगों का एक नेटवर्क बनाना चाहते हैं जो दूसरों को सिखाना चाहते हैं जिनकी शर्तों पर लोग उनके पास जाकर सीख सकते हैं। तीसरा ऐसे लोगों का भी नेटवर्क बनाना जो साझे रूप में कुछ सीखना चाहते हैं। इस तरह समाज में सीखने–सिखाने के मौके उपलब्ध हों मगर संस्थागत ढाँचों या सर्टिफिकेट के जंजाल से बाहर।

गाँधीजी के विचार और इवान इलिच के विचारों में क्या समानता है और क्या अन्तर है?

क्या आप इस बात से सहमत हैं कि लोग जीवनोपयोगी ज्ञान स्कूल–कॉलेजों से बाहर ही सीखते हैं – अपने अनुभव के आधार पर लिखें।

स्कूली कक्षा में जीवनोपयोगी बातें सीखने में क्या कठिनाई हो सकती है?

इवान इलिच के अनुसार समाज में सीखने के क्या अवसर उपलब्ध होने चाहिए? क्या इस तरह के अवसर आपके परिवेश में हैं?

स्कूल हमारी सोच को नियंत्रित करता है। स्कूल के बदले सीखने–सिखाने के इच्छुक लोगों का नेटवर्क होना चाहिए। इवान इलिच के इन विचारों से क्या आप सहमत हैं? क्या इनके पक्ष अथवा विपक्ष में आप कुछ तर्क और उदाहरण सोच सकते हैं? यदि सम्भव हो तो अपनी कक्षा में दो समूह बनाकर इस विषय पर बहस करें।

4. अध्यापक के नाम पत्र – बारबियाना स्कूल के बच्चे

बारबियाना (इटली) स्कूल के छात्रों द्वारा लिखे गए अध्यापक के नाम पत्र, शासकीय शिक्षकों को उनका मूल दायित्व –गरीब से गरीब बच्चों को शिक्षित करना – बहुत तीखे अन्दाज़ में याद दिलाता है। 1960 के दशक में लिखा गया यह पत्र आज विश्व शिक्षा साहित्य का एक अहम दस्तावेज़ बन गया है। ये छात्र सरकारी स्कूलो में फेल होने के कारण इन स्कूलों से निकाल दिए गए थे। इसके बाद इन्होंने बारबियाना के एक वैकल्पिक स्कूल में शिक्षा प्राप्त की जहाँ पर इन फेल हुए बच्चों में प्रतिभा का विकास किया गया और इन्हें आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया गया। यह पत्र उन्होंने अपने पुराने स्कूल के अध्यापकों के नाम लिखा है। इसमें बारबियाना के बच्चों ने तमाम साक्ष्यों का सहारा लेते हुए यह सिद्ध किया है कि स्कूल की पाठ्यचर्या और कक्षा का दैनिक कार्यक्रम सम्पन्न तबकों के वर्चस्व को बनाए रखने की भूमिका निभाता है। इन छात्रों का मानना है कि आम तौर पर गरीब बच्चे ही वो बच्चे हैं जो फेल होते हैं और शिक्षा को त्यागकर मज़दूरी करने पर विवश हो जाते हैं। वे न केवल फेल किए जाने की प्रथा पर सवाल उठाते हैं बल्कि यह भी स्थापित करते हैं कि इसके पीछे जो शिक्षा की धारणा है वह त्रुटिपूर्ण है। भारत में 'शिक्षा का अधिकार अधिनियम' के तहत बच्चों को फेल न करने की जो नीति अपनाई गई है उसमें इस किताब की अहम भूमिका थी। चलिए उनके पत्र की शुरुआत को पढ़ेः

आदरणीय अध्यापिकाजी

आप मुझे या मेरे नाम को भूल गई होंगी। आपने मेरे जैसे न जाने कितनों को फेल किया है। परन्तु मैं अक्सर आपको, और दूसरी अध्यापिकाओं को, उस संस्था को जिसे आप स्कूल के नाम से पुकारते हैं, और उन लड़कों को जिन्हें आप फेल करती हैं, याद करता हूँ। आप फेल करके हम लोगों को सीधे खेतों में या फैक्ट्रियों में धकेलकर हमें बिलकुल भूल जाती हैं।

संकोचः दो वर्ष पहले जब मैं माध्यमिक कक्षा में था, तब आपको देखकर मुझे बहुत डर लगता था। सच पूछिए तो मैं शुरू से ही थोड़ा झेंपू किस्म का हूँ। जब मैं बहुत छोटा था तो मैं अपनी नज़र सदा जमीन की ओर रखता था। मैं दीवार के किनारे सटा हुआ चलता था, शायद यह मेरे परिवार की, एक प्रकार की बीमारी है। मेरी माँ भी इसी प्रकार की है कि टेलिग्राम देखते ही घबरा जाती हैं। मेरे पिता सब कुछ सुनते और समझते हैं, पर बोलते कम हैं। बाद में मैंने सोचा कि झेंपना शायद हमारे पहाड़ी समुदाय का रोग है। ...गरीब लोगों का संकोच बहुत प्राचीन है और मैं उसके रहस्य को समझा नहीं सकता, यद्यपि मैं स्वयं गरीबी से घिरा हुआ हूँ। शायद यह न तो किसी प्रकार की कायरता है और न किसी प्रकार की वीरता। यह केवल आत्माभिमान की कमी है।

आपकी कक्षाओं में इस तरह झेंपने वाले बच्चों को याद कीजिए। उनकी मानसिक व्यथा पर कुछ समय विचार कीजिए।

क्या यह संकोच बुद्धिहीनता का संकेत है या सशक्त न होने का संकेत है?

इस असंवेदनशील शाला के विकल्प में ये बच्चे एक अलग शैक्षणिक व्यवस्था की बात करते हैं जो बच्चों पर विश्वास करता है। उनके पत्र का एक और अंश पढ़ेः

"जब मैं बारबियाना पहुँचा तो वह स्कूल की तरह नहीं लगता था। न तो कोई अध्यापक था, न कोई डेस्क था, न काली तख्ती थी और न कोई बेंच थी। बस बड़ी–बड़ी मेजें रखी थीं जिनके चारों ओर हम लोग पढ़ते थे और वहीं पर खाते भी थे। प्रत्येक किताब की बस एक प्रति थी। सब लड़के उसे घेरकर खड़े हो जाते थे। इस पर ध्यान ही नहीं जाता था कि उन्हीं लड़को में से एक थोड़ा आयु में बड़ा था और वहीं पढ़ा

रहा था। इन पढ़ाने वाले 'अध्यापकों' में से सबसे बड़ा सोलह वर्ष का था। सबसे छोटा बारह वर्ष का था और उसे देखकर मेरा मन प्रशंसा से भर उठा। मैंने शुरू से ही तय कर लिया कि मैं भी आगे चलकर पढ़ाऊँगा।...

एक लड़का था जो अति साधारण परिवार का था। उसकी बुद्धि मन्द थी...। परन्तु उसके साथ ऐसा व्यवहार किया जाता था मानो वही अध्यापकों का प्रिय पात्र हो। जैसे आप लोग अपनी कक्षा में सर्वोत्तम विद्यार्थी से व्यवहार करती हैं, वैसा उसके साथ किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता था मानो स्कूल उसी के लिए बनाया गया है। जब तक वह नहीं समझ लेता था, दूसरे लड़के आगे नहीं पढ़ सकते थे।

वहाँ कभी छुट्टी नहीं होती थी – रविवार को भी नहीं। परन्तु इससे हमें कोई परेशानी नहीं थीं। छुट्टी में हमें मज़दूरी करनी पड़ती थी जो स्कूल जाने से अधिक बुरा होता। ... एक बार ... लूसियो ने, जिसके घर पर 36 गाएँ हैं, कहा, 'गाय का गोबर उठाने से तो स्कूल आना कहीं अच्छा है।'

आपके स्कूलों के सामने वाले दरवाजों पर इस वाक्य को लिखवाया जा सकता है। लाखों किसानों के बच्चे इसका समर्थन करने को तैयार हैं। आप कहते हैं कि लड़कों को स्कूल बिलकुल अच्छा नहीं लगता है और उन्हें खेलने से प्रेम है। हम किसानों से आपने नहीं पूछा, लेकिन लाखों–करोंड़ों हम जैसे हैं। संसार के प्रत्येक दस बच्चों में से छह लूसियो की ही तरह सोचते हैं। बाकी के चार क्या चाहते हैं, यह हम नहीं जानते।''

आपके अनुसार बारबियाना की वैकल्पिक शाला की तीन प्रमुख विशेषताएँ क्या होंगी?

क्या बच्चे ही एक–दूसरे को पढ़ा सकते हैं?

पत्र लेखकों के विचार में शिक्षकों को धीमी गति से अध्ययन करने वाले बच्चों पर सबसे अधिक ध्यान दना चाहिए। क्या आप इस कथन से सहमत हैं? इस विचार को व्यवहार में लाने पर एक शिक्षक को क्या करना होगा और क्या नहीं?

इस पत्र से लगता है कि गरीब किसानों व मज़दूरों के बच्चे इसलिए शिक्षा के प्रति आकर्षित होते हैं क्योंकि वे कमरतोड़ काम से मुक्त होना चाहते हैं। इसलिए वे अच्छी शिक्षा पाना चाहते हैं और उसके लिए मेहनत करना भी चाहते हैं। क्या यह आपके अनुभव से मेल खाता है?

अपने पत्र में ये बच्चे स्कूल के शैक्षणिक विषयों की प्रासंगिकता पर भी सवाल उठाते हैं – क्या निरर्थक व्याकरण सीखना या भूगोल और इतिहास में जानकारियों की सूचियाँ याद करना और उच्च कोटि की भाषा का उपयोग कर पाना ही शिक्षा है?

"सैंड्रो पन्द्रह वर्ष का पाँच फुट सात इंच लम्बा युवक था जो हीन भावना से ग्रस्त था। उसके अध्यापकों ने उसे बेवकूफ घोषित कर दिया था। वह दो बार फेल हो चुका था और यह उसका तीसरा वर्ष था। आप ऐसे लड़कों से यह प्रयास कराती रहीं कि वे आदर्श की पराकाष्ठा पर पहुँच जाएँ। यह व्यर्थ का प्रयास था, क्योंकि लड़का एक ही बात बार–बार दोहरा कर ऊब जाता है और इस दौरान उसकी उम्र बढ़ती जाती है। परिस्थिति वहीं रहती है परन्तु बढ़ती उम्र से उनमें बदलाव आ जाता है। अतः यह सब पढ़ाई उसे बचकानी मालूम पड़ने लगती है।...

गियान्नी व्याकरण में बहुत साधारण गलतियाँ करता था। परन्तु उसे वयस्क संसार के बारे में बहुत–सी बातें मालूम थीं। उसे नौकरियों के बारे में, परिवार के सम्बन्धों के बारें में और अपने शहर के रहने वालों के जीवन के बारे में काफी जानकारी थी। कभी–कभी शाम को वह अपने पिता के साथ राजनैतिक सभाओं में भी भाग लेता था।

आप तो उसे ग्रीक और लैटिन पढ़ाती रहीं, जिससे वह इतिहास से नफरत करने लगा। लेकिन हमने उससे दूसरे महायुद्ध (जो कि हाल में ही यूरोप में घटा था) के बारे में बातचीत की और वह घण्टों ध्यानपूर्वक सुनता रहा।

भाषाः हम पहले यह निश्चय कर लें कि सही भाषा क्या है। भाषा का निर्माण गरीब लोग करते हैं और वे सदा नवीन बनाते रहते हैं। अमीर लोग उसे एक निश्चित ठोस रूप दे देते हैं ताकि उससे ज़रा भी भिन्न बोलने वाले को वे अपने ?? ??? कर सकें। या उसके कारण वे परीक्षा में बच्चों को फेल कर सकें।..

इसके विपरीत गियान्नी जो भाषा बोलता और लिखता है, वह वही भाषा है जो उसका बाप बोलता है। ...समय के साथ आपकी भाषा सीखने में उसे सुविधा हो सकती है। परन्तु इस बीच इसके कारण उसे स्कूल से न निकाल दीजिए।''

जब बड़े उम्र के बच्चों को फेल करके उन्हें छोटे बच्चों की कक्षाओं में बिठाया जाता है तो उन्हें किस–किस तरह की समस्याएँ होती होगी? आपके अनुसार क्या यह ज़रूरी है?

क्या आपके क्षेत्र में भी अमीरों की भाषा और गरीबों की भाषा में अन्तर होता है? शाला में कौन–सी भाषा को अधिक महत्व दिया जाता है?

एक किसान या कारीगर के लिए प्राचीन काल का इतिहास या दूर–दराज़ की भौगोलिक जानकारी क्या निरर्थक होती हैं?

गियान्नी को प्राचीन ग्रीक व लैटिन के प्रति नफरत थी मगर उसे विश्व युद्ध में बहुत दिलचस्पी थी। इसका क्या यह मतलब है कि प्राचीन विषयों की जगह बच्चों को आधुनिक विश्व के बारे में पढ़ाया जाना चाहिए?

पत्र को लिखने वाले बच्चे अक्सर शिक्षकों के व्यवहार पर सवाल उठाते हैं – कम समय पढ़ाना, गरीब तथा अमीरों बच्चों से अलग–अलग व्यवहार करना, ट्यूशन पढ़ाना आदि। वे कहते हैं कि अध्यापकों को काम के आधार पर वेतन दिया जाए। प्रत्येक बच्चे को एक विषय सिखाने का इतना पारिश्रमिक, या इससे भी अच्छा यह होगा कि प्रत्येक बच्चे को विषय नहीं सिखा पाने का इतना जुर्माना। ऐसी स्थिति में अध्यापकों का ध्यान ऐसे बच्चों पर रहेगा जिन्हें उनकी सबसे ज़्यादा ज़रूरत है।

"लेखक स्पष्ट करने की कोशिश करते हैं कि किस तरह वर्तमान शिक्षा इन्सानियत को नष्ट कर देती है – अमीर बच्चों को मानवता रहित और सच्चाई से दूर ज्ञान का दम्भ देता है और गरीबों जो वास्तविकता से परिचित हैं, अपने अनुभवों को व्यक्त करने से रोकती है।

परन्तु आपके सफल छात्र ... दिन–रात नम्बरों के लिए, अच्छी रिपोर्ट के लिए और डिप्लोमा के लिए पढ़ते रहते हैं और इस बीच इन विषयों में, जिन्हें वे पढ़ रहे हैं उनकी सारी रूचि खत्म हो जाती है। भाषाएँ, विज्ञान, इतिहास में सब अच्छी चीज़ें केवल पास होने के नम्बर बनकर रह जाती हैं।

इस सारी पढ़ाई के पीछे उन्हें केवल अपने वैयक्तिक लाभ की इच्छा है। डिप्लोमा का अर्थ है पैसा। कोई इसे स्पष्ट शब्दों में नहीं कहता परन्तु इस व्यवस्था का परिणाम यही होता है। आपके स्कूल में किसी विद्यार्थी को सफलता पाने के लिए बारह वर्ष की अवस्था से ही समाज में ऊपर चढ़ने की महत्वाकांक्षा रखनी चाहिए। परन्तु ऐसे बहुत कम विद्यार्थी हैं जिनमें बारह वर्ष की अवस्था में ऐसी महत्वाकांक्षा उत्पन्न हो जाती है। अतः अधिकांश विद्यार्थी स्कूल से घृणा करते हैं।

हमने जिस स्कूल का वर्णन किया, वह चन्द चुने हुए बच्चों के लिए बना है, और वह संस्कृति नष्ट कर देता है। वह गरीबों को भाषा सीखने से वंचित करता है, जिसके द्वारा वे अपने को व्यक्त कर सकें। वह अमीरों को वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं होने देता।

गियान्नी अभागा है क्योंकि वह अपने को व्यक्त नहीं कर सकता। परन्तु गियान्नी भाग्यवान भी है क्योंकि वह सारे संसार से जुड़ा हुआ है। सारे एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के बच्चे उसके भाई हैं और वह अधिंकाश मानवता की ज़रूरतों को जानता है।

(आपका सफल छात्र), पियरीनो भाग्यवान है क्योंकि वह अच्छी भाषा बोल सकता है। परन्तु यह उसका दुर्भाग्य है कि वह बहुत अधिक बोलता है। उसके पास कोई विशेष बात कहने के लिए नहीं है। उसी के समान दूसरों की लिखी हुई पुस्तकों की बातों को वह केवल दोहराता है। वह सुसंस्कृत लोगों के छोटे से घेरे में कैद है और इतिहास तथा भूगोल से एकदम कट गया है।

चुने हुए थोड़े से लोगों के लिए स्कूल चलाना भगवान के और मानवता के प्रति पाप है...। आपने गरीबों को गूँगा बनाना चाहा, तो भगवान ने आपको अन्धा बना दिया।

यह पठन सामग्री अध्यापक के नाम पत्र, बारबियाना स्कूल के बच्चे (ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 200) पर आधारित है।

पत्र लेखकों के अनुसार आधुनिक शालाएँ सफलता से पूरा करने वाले तथा फेल होकर छोड़ने वाले बच्चे दोनों को व्यापक नुकसान पहुँचाती हैं। वे इस बात के पक्ष में क्या तर्क देते हैं? आप इनसे किस हद तक सहमत या असहमत हैं?

'आपने गरीबों को गूँगा बना दिया' से लेखकों का क्या तात्पर्य रहा होगा? 'भगवान ने आपको अन्धा बना दिया' से लेखकों का क्या तात्पर्य रहा होगा?

'शिक्षा का अधिकार' कानून में पहली से आठवीं तक बच्चों को फेल न करने तथा बच्चों की उम्र के अनुरूप कक्षा में रखने के पीछे क्या तर्क हैं? सभी बच्चों को शिक्षित करने में ये किस प्रकार मदद करेंगे? इससे किस तरह की समस्याएँ हो सकती हैं?

5. पॉलो फ्रेरा

पॉलो फ्रेरा का जन्म 1921 में ब्राज़ील में हुआ। फ्रेरा ने अपने बचपन में दरिद्रता और उत्पीड़न के विभिन्न रूपों का अनुभव किया। 1961 से 1964 में राष्ट्रीय साक्षरता अभियान के क्षेत्र में काम किया। इस अभियान के तहत फ्रेरा को देश के विभिन्न भागों में जाकर जनता के बीच काम करने का अवसर मिला। उन्होंने उत्पीड़न के विभिन्न रूपों का विश्लेषण किया और शिक्षा के राजनैतिक स्वरूप से अवगत हुए।

फ्रेरा का मानना था कि उत्पीड़ित यानी शोषित वर्ग की शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो उन्हें शोषण से मुक्ति दिला सके। 1964 से 1980 तक ब्राज़ील में तानाशाही का दौर था जिसके कारण उन्हें देश छोड़ना पड़ा। उन्होंने निर्वाचन के दौरान ''उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र'' लिखी़ जो यह मानती है कि शिक्षा शोषण से मुक्ति तथा स्वतंत्रता पाने का एक माध्यम है और हमें यथास्थिति को बदलकर मनुष्य बनने में मदद करती है।

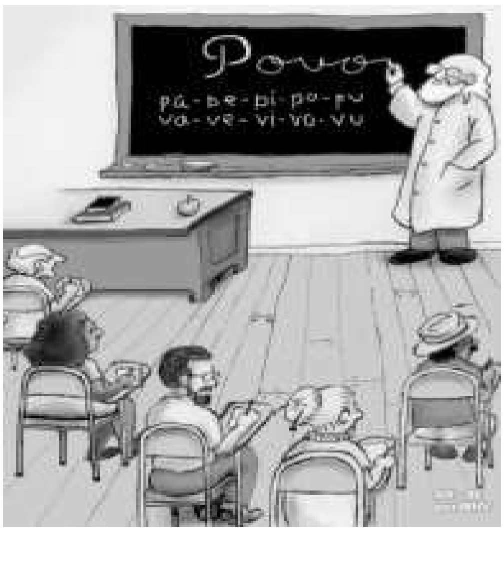

पॉलो फ्रेरा के अनुसार उत्पीड़न पूरे समाज से मनुष्यत्व छीन लेता है। उनके अनुसार मनुष्य होने का मतलब है स्वतंत्र और सृजनशील होना। लेकिन शोषण और उत्पीड़न के कारण मनुष्य इस गुण को खो देते हैं। फ्रेरा कहते हैं कि जो शोषित हैं उनकी तो मानवता छिन जाती है। लेकिन जो शोषण करता है वह भी अमानवीय हो जाता है। तो समाज के लोग अपना मनुष्यत्व फिर से कैसे पाएँ? यह सामाजिक बदलाव से ही सम्भव है। इस परिवर्तन में शिक्षा की अहम भूमिका है।

शोषण से आप क्या समझते हैं? शोषण के विविध स्वरूपों पर विचार करें।

उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र

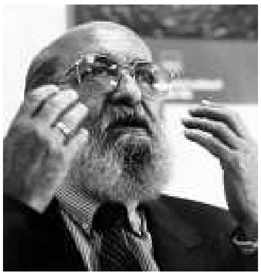

फ्रेरा कहते हैं कि शोषित लोग यदि अपनी स्थिति पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि अपने शोषित होने के कारणों को आलोचनात्मक ढंग से समझें। ''उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र'' शोषण को उत्पीड़ितों द्वारा विचार करने का विषय बनाता है और उस विचार के ज़रिए ही वे अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष कर सकते हैं।

मुक्ति का यह शिक्षाशास्त्र शोषित लोगों को यह पहचानने मे मदद करेगा कि वे उत्पीड़ित हैं, यह चेतना मुक्तियात्रा का पहला कदम है। उनको यह समझने की आवश्यकता है कि उनका यथार्थ नियति या ईश्वरीय देन नहीं है और इस बात के प्रति उन्हें आशावादी होने की आवश्यकता है कि वे अपनी स्थिति बदल सकते हैं। फ्रेरा मानते हैं कि मुक्ति का प्रयास शोषित लोगों को खुद करना चाहिए क्योंकि उन्हें कोई और यह नहीं दिला सकता है। जो उत्पीड़न के शिकार हैं वे ही समाज के पीड़ादायी चरित्र का खुलासा कर सकते हैं और उसे बदलने के प्रयास के द्वारा अपने मनुष्यत्व – सृजन और स्वतंत्रता को प्राप्त कर सकते हैं। जब यह बदलाव हो जाएगा और समाज में शोषण समाप्त हो जायेगा तब इसका फायदा शोषक वर्ग सहित पूरे मानव जाति को मिलेगा। इन दोनों अवस्थाओं में सदा ही गम्भीर प्रयास के ज़रिए मुकाबला करने की आवश्यकता है।

फ्रेरा कहते हैं कि आत्म अवमूल्यन शोषित वर्ग की एक ऐसी विशेषता है जिसके कारण वे स्वयं को अज्ञानी मानने लगते हैं। वे सोचने लगते हैं कि ज्ञान तो कुछ विशिष्ट लोगों के ही पास होता है, इसलिए उनकी बात माननी चाहिए। उन्हें यह एहसास नहीं होता है कि वे भी उन चीज़ों के जानकार हैं, जिनको, उन्होंने अपने काम और अन्य मनुष्यों से सम्बन्धों के जरिए आत्मसात किया है। इसलिए उनको उनकी यथास्थिति से मुक्ति दिलाने के लिए एक ऐसे शिक्षक और शिक्षाशास्त्र की आवश्यकता है जो न केवल उनकी विवकेशीलता पर भरोसा करेगा अपितु उन्हें उनके शोषित होने के कारणों से भी अवगत कराएगा। साथ ही उनके सामने ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करेगा जिनमें शोषण पर विजय की मिसाल हो ताकि उनकी यह धारणा बदल सके कि यथास्थिति को बदलना असम्भव है। इसलिए उन्होंने 'संवाद' को शिक्षण का एक कारगर तरीका बताया है।

सिखाने का 'बैंकीय तरीका' बनाम 'समस्या उठाऊ शिक्षा'

मौजूदा स्कूल के अन्दर के शिक्षक–छात्र सम्बन्ध को मूलतः वर्णनात्मक बताते हुए फ्रेरा कहते हैं एक ओर वर्णनकर्ता (शिक्षक) होता है और दूसरी तरफ श्रवणकारी (छात्र)। शिक्षक छात्रों को यांत्रिक ढंग से वर्णन को रट लेने की ओर ले जाता है। यह छात्रों को खाली 'पात्र' या 'बरतन' बना देता है, जिसे शिक्षक द्वारा भरा जाना होता है। इस प्रकार शिक्षा बैंक में पैसे जमा करने की भाँति छात्रों में ज्ञान राशि को जमा करने का काम बन जाती है, जिसमें शिक्षक जमाकर्ता होता हैं और छात्र जमापात्र होते हैं। यह शिक्षा की 'बैंकीय अवधारणा' है जिसमें छात्रों से केवल इतनी अपेक्षा की जाती है कि वे जमा ज्ञान को ग्रहण कर लें, फाइल कर लें और सम्हाल कर रखे रहें।

इस प्रक्रिया में शिक्षक अपने आपको परम ज्ञानी मानते हुए छात्रों को ज्ञान देते हैं जो परम अज्ञानी माने जाते हैं। परन्तु जिस स्वतंत्रतावादी शिक्षा की फ्रेरा बात करते हैं, उसका उद्देश्य शिक्षक और छात्र के बीच एक नया रिश्ता, सामंजस्य उत्पन्न करना होता है। वे कहते हैं–

''शिक्षा का आरम्भ शिक्षक–छात्र अन्तर्विरोध का समाधान करते हुए ही होना चाहिए और यह तभी हो सकता है जब अन्तर्विरोध के दोनों ध्रुवों को मिला दिया जाए ताकि दोनों एक ही साथ शिक्षक और छात्र बन जाएं।''

फ्रेरा के अनुसार बैंकीय शिक्षा छात्रों की सृजनात्मक शक्ति समाप्त कर देती है और झट से विश्वास कर लेने की प्रवृत्ति को बढ़ाती है, इसलिए वह शोषण को ही सुदृढ़ करती है। फ्रेरा बैंकीय प्रणाली के ठीक विपरीत एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था की बात करते हैं जिसमें छात्र एवं शिक्षक दोनों मिलकर विश्व को समझने का प्रयास करते हैं। छात्र स्वयं शिक्षक और शिक्षक स्वयं छात्र बन जाते हैं।

इस शिक्षाशास्त्र में आपसी सम्प्रेषण की आवश्यकता को महत्व दिया गया है। शिक्षकों को यह चाहिए कि वे अपने छात्रों को ज्ञानी और चिन्तनशील मनुष्य मानें। उन्हें इस अवधारणा को समझना चाहिए कि मनुष्य सचेत प्राणी है और विश्व को समझने तथा बदलने की चेतना उसमें है।

इसके लिए आवश्यक है कि शिक्षक ज्ञान जमा करने वाले शैक्षिक उद्देश्यों को त्यागें तथा उसकी जगह मनुष्यों की समस्याओं को उठाना शिक्षा का उद्देश्य मानें।

संवाद की आवश्यकता

यह 'समस्या उठाऊ' शिक्षा, सबसे पहले शिक्षक छात्र अन्तर्विरोध के समाधान की माँग करती है जो संवाद आधारित सम्बन्ध के लिए ज़रूरी है। फ्रेरा का मानना है संवाद से शिक्षक 'छात्रों का शिक्षक' और छात्र 'शिक्षक' के 'छात्र' नहीं रहते बल्कि एक नया पद सामने आता हैः ''छात्र शिक्षकों के साथ, शिक्षक छात्रों के साथ''। अब शिक्षक महज वह नहीं रहता है 'जो सिख़ाता है' बल्कि छात्रों से संवाद करते समय स्वयं भी उनसे सीख़ता है, बल्कि पढ़ाने के साथ–साथ पढ़ता भी है। शिक्षक और छात्र, दोनों उस प्रक्रिया के लिए उत्तरदायी हो जाते हैं, जिसमें सभी के ज्ञान में वृद्धि होती है।

इस संवाद के लिए फ्रेरा कुछ आवश्यक चीज़ों की ओर ध्यान देते हैं। पहला, विश्व और मनुष्यों के प्रति गहरा प्रेम और दूसरा है विनम्रता। इसके अलावा संवाद के लिए मनुष्य में अटूट विश्वास, निर्माण और पुनर्निमाण की उसकी शक्ति पर विश्वास, सृजन और पुनर्सृजन की उसकी शक्ति में विश्वास अर्थात् मनुष्य में विश्वास। संवाद के लिए यह आवश्यक है। इन सबके साथ–साथ आशा के बिना भी संवाद सम्भव नहीं है। उनके अनुसार पूर्ण मनुष्य बनने की आकांक्षा वाले मनुष्यों का संवाद आशाहीनता के वातावरण में सम्भव ही नहीं। अन्ततः सच्चा संवाद आलोचनात्मक चिन्तन के बिना भी सम्भव नहीं। यह ऐसा चिन्तन है जिसमें यथार्थ को कोई स्थिर चीज़ नहीं माना जाता बल्कि उसे रूपान्तरण या बदलाव की प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है।

इस प्रकार शिक्षा एक खोज की प्रक्रिया है जिसमें शिक्षक व छात्रों को विषय वस्तुओं पर विमर्श करना है। यह ''समस्या उठाऊ'' शिक्षा निरन्तर यथार्थ का अनावरण करती है और इसमें आलोचनात्मक हस्तक्षेप करने का प्रयास करती है।

क्या संवाद के माध्यम से ज्ञान का निर्माण सम्भव है? आपको क्या लगता है कि बच्चों में भी ज्ञान होता है? आपने अपने छात्रों से संवाद करके यदि कुछ सीखा हो तो उसका अनुभव लिखिए।

समस्या उठाऊ शिक्षा और समाज में बदलाव

समस्या उठाऊ शिक्षा में मनुष्य अपनी आलोचनात्मक शक्ति का विकास करते हैं और वे यह देखने का प्रयत्न करते हैं कि वे उस दुनिया में कैसे जीते हैं जिसमें वे स्वयं को पाते हैं। वे विश्व को एक स्थिर यथार्थ के रूप में नहीं बल्कि एक ऐसे यथार्थ के रूप में देखते हैं, जो बदल रहा है। अतः शिक्षक–छात्र और छात्र–शिक्षक एक ही साथ स्वयं और विश्व पर विचार करते हैं और ऐसा करते समय वे चिन्तन और क्रिया को अलग नहीं करते।

संक्षेप में – उत्पीड़न को शिक्षा के माध्यम से पहचानना, उसके कारण पर विचार करना, उसे बदलने के लिए कार्ययोजना बनाना, उसे क्रियान्वित करने के दौरान उसे और गहराई से समझना – इसी को फ्रेरा उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र कहते हैं।

अन्त में हम कह सकते हैं कि फ्रेरा एक ऐसी समस्या उठाऊ शिक्षा की बात करते हैं जो सृजनात्मकता को अपना आधार बनाती है तथा यथार्थ पर सच्चा चिन्तन और कर्म करने के लिए प्रेरित करती है। यह शोषित वर्ग को सवाल उठाने पर मजबूर करती है कि ऐसा क्यों? और यह शिक्षा इस बात को आधारभूत मानकर चलती है कि प्रभुत्व के अन्तर्गत दबे कुचले मनुष्यों को अपनी मुक्ति के लिए अवश्य लड़ना चाहिए। ऐसी शिक्षा व्यवस्था, सामाजिक बदलाव के बाद नहीं बल्कि बदलाव की प्रक्रिया में ही लागू करने की आवश्यकता है।

अभ्यास कार्य

1. गाँधीजी की दृष्टि में शिक्षा का उद्देश्य क्या है?

2. इवान इलिच का स्कूल के प्रति क्या दृष्टिकोण है?

3. इवान इलिच की दृष्टि में शिक्षा क्या है?

4. इवान इलिच स्कूल के बदले किस प्रकार के विकल्प सुझाते हैं?

5. क्या आपको लगता है कि शिक्षा की बैंकीय पद्धति बच्चों को सोचने में मदद करती है? अपने उत्तर के पक्ष या विपक्ष में तर्क दीजिए।

दत्त कार्य

1. इवान इलिच के विचारों के आधार पर स्कूल की भूमिका और उनके सुझाए विकल्प की विवेचना कीजिए।

2. गाँधी और इवान इलिच के शिक्षा सम्बन्धी विचारों का तुलनात्मक विवेचन करते हुए अपनी राय दीजिए कि भारत में सार्वजनिक शिक्षा का स्वरूप कैसा होना चाहिए।

परियोजना कार्य

1. भीमराव अम्बेडकर के जीवन तथा विचारों के विषय में सामग्री जुटाएँ तथा उसकी तुलना पॉलो फ्रेरा के विचारों से करें।

सहायक पठन सामग्री

1. मो.क. गाँधी, हिन्द स्वराज;

2. इवान इलिच, डीस्कूलिंग सोसायटी;

3. बारबियाना स्कूल के बच्चे, अध्यापक के नाम पत्र, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली;

4. पॉलो फ्रेरा, उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र

फिल्में

1. किताब (हिन्दी); (1977); निर्देशन – गुलज़ार।

2. जागृति (हिन्दी); (1954); निर्देशन – सत्येन बोस।

इकाई क्र. 4

स्वतंत्र भारत में शिक्षा से अपेक्षाएँ और शिक्षा नीति

पठन सामग्री क्र. 9 – विकासोन्मुखी भारत में शिक्षा की भूमिका
पठन सामग्री क्र. 10 – स्वतंत्र भारत में शिक्षाः 1947–1964
पठन सामग्री क्र. 11 – कोठारी आयोग की सिफारिश और क्रियान्वयन
पठन सामग्री क्र. 12 – राष्ट्रीय शिक्षा नीति और ज़िला शिक्षा परियोजना
पठन सामग्री क्र. 13 – शिक्षा का अधिकार कानून 2009

पठन सामग्री क्र. 9

1. विकासोन्मुखी भारत में शिक्षा की भूमिका

जब भारत 1947 में आज़ाद हुआ तो उसके समक्ष कई वृहद चुनौतियाँ थीं। सबसे अहम चुनौती थी कि असमानता और भेदभावपूर्ण समाज में (स्त्री–पुरुष, उच्च वर्ग–दलित, अमीर–गरीब, आदिवासी–सामान्य, अल्पसंख्यक–बहुसंख्यक समुदाय आदि) सबको समान अवसर दिलवाना तथा सामाजिक न्याय सुनिश्चित करना। देश अब विभाजन से उभर ही रहा था और ऐसे में दूसरी चुनौती थी कि पूरे देश में राष्ट्र के प्रति आस्था विश्वास और संकल्प बने तथा आपसी भेदभावों को शान्ति और प्रेमपूर्वक दूर करें। तीसरी प्रमुख चुनौती थी देश का आर्थिक विकास – देश में औद्योगिक और कृषि उत्पादन बढ़ाना। लोगों को रोज़गार और जीविकोपार्जन के नए साधन उपलब्ध कराना ताकि गरीबी और बेकारी पर नियंत्रण पा सकें। इन तीन प्रमुख राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सार्वजनिक शिक्षा को एक महत्वपूर्ण माध्यम माना गया।

शिक्षा से क्या अपेक्षाएँ थीं – जरा विस्तार में देखें।

1. सार्वभौमिक शिक्षाः देश का संविधान जब बना तब नीति निर्देशक सिद्धान्तों में यह कहा गया कि 10 साल के अन्दर देश के हर 6 से 14 वर्ष के बच्चे को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की जाएगी। यह माना गया था कि देश में समानता, लोकतंत्र, राष्ट्रीय भावना तथा आर्थिक विकास और गरीबी उन्मूलन के लिए सार्वभौमिक शिक्षा अति आवश्यक है।

यह एक विडम्बना है कि आज 62 साल बाद भी हमारे देश में बड़े तादाद में लोग निरक्षर हैं और सब बच्चों को कम से कम आठ वर्ष की शिक्षा उपलब्ध कराने का सपना अभी भी साकार नहीं हुआ है।

2. लोकतांत्रिक नागरिकों को तैयार करनाः जनतंत्र की सफलता शिक्षित और साक्षर नागरिकों पर ही आधारित होती है। लोग उचित निर्णय तर्क और समझदारी के साथ लें यह तभी सम्भव है जब समाज का प्रत्येक व्यक्ति न केवल शिक्षित हो बल्कि जनतंत्रात्मक मूल्यों को समझता हो। साथ ही लोगों में सार्वजनिक जीवन में भागीदारी करने के लिए ज़रूरी नेतृत्व क्षमता भी बने। यही नहीं लोगों में अपने और अन्य लोगों के न्यायसंगत अधिकारों व ज़रूरतों के लिए संघर्ष करने तथा तर्क और शान्तिपूर्ण तरीकों से एक–दूसरे को मनवाने की क्षमता से ही लोकतंत्र मजबूत बन सकेगा।

3. राष्ट्रीय भावना को सुदृढ़ करनाः जब भारत स्वतंत्र हुआ तो यह सम्भावना थी कि क्षेत्रीयता, जातीयता या धर्म के आधार पर लोगों में भेदभाव इस कदर बढ़ जाए कि देश की एकता को ही खतरा बन जाए। इसके लिये ज़रूरी था कि हर धर्म, जाति, भाषा, संस्कृति के लोगों को अपने–अपने विकास के पर्याप्त मौके मिलें और साथ ही अन्य धर्म, जाति या भाषा के लोगों के बारे में जानने–समझने तथा सम्मानपूर्वक रिश्ते बनाने के मौके मिलें। लोग यह समझने लगें कि उनके क्षेत्र या समुदाय का विकास राष्ट्र के विकास में निहित है। इसी से एक नई राष्ट्रीय संस्कृति और मजबूत राष्ट्रीय भावना बन सकती थी। बचपने से ही ऐसी भावनाओं को कायम करने के लिए शिक्षा के अलावा और कोई माध्यम कारगर नहीं हो सकता है।

4. आर्थिक विकासः 1947 में भारत के कृषि प्रधान देश होते हुए भी हमारी खाद्य ज़रूरतें पूरी नहीं हो पा रही थीं। खेती पर निर्भर लोग अधिकांश समय लगभग बेरोज़गार बने रहते थे। ऐसे में हमारे नेताओं का मानना था कि देश में औद्योगिक विकास सबसे ज़रूरी है और साथ में खेती में भी आधुनिक तरीकों का उपयोग होना ज़रूरी है। खेती तथा औद्योगिक विकास के लिए ज़रूरी था कि हमारे लोग शिक्षित हों और आधुनिक तौर–तरीकों से वाकिफ हों। हमारे नेताओं ने माना था कि आर्थिक विकास से स्वतः ही देश की गरीबी की समस्या दूर हो जाएगी बशर्ते सब लोग शिक्षित हों और वे नए आर्थिक मौकों का फायदा उठा पाएँ। जैसा कि हम सब जानते हैं यह उम्मीद कुछ हद तक ही पूरी हो पाई और आज भी अशिक्षा और गरीबी एक वृहद समस्या के रूप में हमारे सामने हैं।

5. सामाजिक न्याय और समानताः स्वतंत्रता के बाद जो संविधान बना और उसके तहत जो प्रावधान किए गए वे समानता और सामाजिक न्याय को केन्द्र में रखकर बनाए गए – अनुसूचित जाति व जनजाति तथा पिछड़े वर्गों के लिए शिक्षा और शासकीय नौकरियों में आरक्षण तथा महिलाओं से सम्बन्धित कानून इस बात के गवाह हैं। हमारे नेताओं को उम्मीद थी कि इस तरह के प्रगतिशील कानूनों की मदद से और शिक्षा

नए रोज़गार के माध्यम से समाज में समानता और न्याय स्थापित होगा जो पुरानी सामन्ती व्यवस्था को चुनौती भी देगा। पिछले 60 वर्षों में हमारे देश की महिलाओं व अन्य वंचित समुदाय के लोगों ने इन मौकों का भरपूर फायदा उठाया और समानता और न्याय पाने में सफल रहे। लेकिन इस सफलता के बावजूद आज भी हमारे देश में जातिगत, साम्प्रदायिक और लैंगिक असमानता और भेदभाव बरकरार है। साथ–साथ नई तरह की असमानताएँ भी उत्पन्न हो रही हैं। एक तरफ आधुनिक उद्योगों व बाज़ार से फायदा उठाने वाले अरबपतियों की तादात बढ़ रही है और दूसरी तरफ भुखमरी और कुपोषण के शिकार बच्चों की संख्या में भी बढ़ोत्तरी हो रही है। जैसे–जैसे महिलाएँ और बालिकाएँ सार्वजनिक जीवन में भागीदारी कर रही हैं, उन्हें साथ–साथ तीव्र असुरक्षा और उत्पीड़न का सामना करना पड़ रहा है। जाति और धर्म आधारित भेदभाव खत्म होते नहीं दिखते हैं। ऐसे में शिक्षा की क्या भूमिका हो सकती है? क्या शिक्षा भेदभावों को कम करने में समर्थ है?

इसी पृष्ठभूमि में हम आधुनिक भारत की शिक्षा नीतियों के विकास के बारे में आगे पढ़ेंगे।

पठन सामग्री क्र. 10

स्वतंत्र भारत में शिक्षा : 1947–1964

अध्याय की रूपरेखा

सामान्य परिचय
अध्याय के उद्देश्य
विषयवस्तु के शीर्षक–उपशीर्षक
संविधान में शिक्षा सम्बन्धी प्रावधान
बुनियादी शिक्षा का प्रयोगः 1947–1967
अभ्यास कार्य
दत्त कार्य
परियोजना कार्य

सामान्य परिचय

आज़ादी के बाद भारत में शिक्षा व्यवस्था को इस प्रकार बनाया जाना लाज़मी था कि वह इस नवगठित राष्ट्र को विकास की राह पर आगे बढ़ा सके। लेकिन सामन्तवादी विरासत और जातिगत भेदभाव, देश का विभाजन, साम्प्रदायिक वैमनस्यता, भाषाई विभेद और गरीबी जैसी विकराल समस्याओं से निपटना एक विकट चुनौती थी। इन समस्याओं से उबरते हुए देश के जनतांत्रिक नागरिकों का विकास करना और सभी नागरिकों को राष्ट्रीय एकात्मता के सूत्र में पिरोना था। इस राष्ट्रीय कार्य के लिए संविधान में यथायोग्य प्रावधान करना और शिक्षा का एक व्यापक ढाँचा भी बनाना था। इस अध्याय में हम पढ़ेंगे कि देश के नीति–निर्माताओं ने इस जटिल और महत्वपूर्ण कार्य को किस प्रकार आरम्भ किया। गाँधीजी के विचारों से प्रेरित बुनियादी शिक्षा को लागू करने के प्रयासों की भी हम समीक्षा करेंगे।

अध्याय के उद्देश्य

1. आज़ाद भारत के समक्ष विविध चुनौतियों को समझना, जैसे– राष्ट्र के विकास की दिशा, सार्वभौमिक शिक्षा का महत्व आदि।

2. लोकतांत्रिक नागरिक से परिचय और उसके निर्माण में शाला की भूमिका।

3. राष्ट्रीय भावना के विकास के प्रयासों को जानना।

4. आर्थिक और सामाजिक विषमता की समाप्ति में शिक्षा की उपयोगिता।

5. संविधान के शिक्षा सम्बन्धी प्रावधानों से परिचय और शालेय शिक्षा पर उसके प्रभाव को एक शिक्षक की भूमिका से देखना।

6. बुनियादी शिक्षा को देशभर में लागू करने के प्रयासों से परिचय। उसकी व्यावहार्यता की समीक्षा।

1. संविधान में शिक्षा सम्बन्धी प्रावधान

1947 में जब भारत स्वतंत्र हुआ, तब देश के सामने सबसे महत्वपूर्ण काम था उसके लिए एक संविधान बनाना। यह नया संविधान गहन चर्चा के बाद 26 जनवरी 1950 को लागू हुआ। विश्व के विभिन्न संविधानों में इसका विशेष स्थान है क्योंकि इसमें लोकतांत्रिक व शान्तिपूर्ण तरीकों से समाज में समानता व न्याय स्थापित करने की चेष्टा की गई थी। इस कारण इसमें सामाजिक बदलाव के लिए विशेष प्रावधान किए गए, जैसे– महिलाओं को पूर्ण समानता का अधिकार, ऐतिहासिक रूप में हाशियाकृत समुदायों जैसे– अनुसूचित जाति व जनजातियों को देश की मुख्यधारा में लाने के लिए विशेष प्रावधान, देश के भाषाई, सांस्कृतिक और धार्मिक अल्पसंख्यक समुदायों के पहचान की सुरक्षा के लिए प्रावधान आदि। संविधान के निर्माता जानते थे कि शान्तिपूर्वक सामाजिक बदलाव के इस काम में शिक्षा की अहम भूमिका रहेगी। इस कारण संविधान में शिक्षा के सम्बन्ध में कई व्यवस्थाएँ की गईं जिनका हम संक्षिप्त विवरण अब पढ़ेंगे।

1. **नीति निर्देशक सिद्धान्तः** भारतीय संविधान निर्माताओं ने हमारे शासन के सामने कुछ व्यापक उद्‌देश्य निरूपित किए जिनकी प्राप्ति के लिए शासन को काम करना था। हालाँकि इन्हें कानूनी अधिकारों का दर्जा नहीं दिया गया। ये सिद्धान्त शासकीय नीति निर्धारण के लिए आधार माने गए। इनमें से महत्वपूर्ण सिद्धान्त था, सबके लिए शिक्षा।

संविधान की भाषा में –

राज्य, इस संविधान के प्रारम्भ के दस वर्ष की कालावधि के भीतर सब बालकों को चौदह वर्ष की अवस्था समाप्ति तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने के लिए प्रबन्ध करने का प्रयास करेगा। (भारतीय संविधान, अनुच्छेद 45)

यह हमारे देश की एक विफलता ही कही जाएगी कि आज संविधान के लागू होने के 62 साल बाद भी यह उद्‌देश्य पूरा नहीं हुआ है। इसी बात को देखते हुए 2002 में संसद ने संविधान में संशोधन लाते हुए प्रारम्भिक शिक्षा को बुनियादी कानूनी अधिकार का दर्जा दिया। इसके बारे में हम आगे और विस्तार से पढ़ेंगे।

2. **देश में शिक्षा व्यवस्था करना किसकी ज़िम्मेदारी होः** इस सवाल को लेकर काफी वाद विवाद के बाद तय किया गया कि इसकी प्रमुख ज़िम्मेदारी राज्य सरकारों की होगी। यह निर्णय इसलिए लिया गया क्योंकि हमारा देश विविधता भरा देश है जिसमें केन्द्र से पूरे देश के लिये उचित व्यवस्था नहीं की जा सकेगी। हर राज्य अपनी–अपनी भाषा, संस्कृति और सामाजिक विविधता को देखते हुए ही शिक्षा की व्यवस्था करे यह अधिकांश लोगों ने स्वीकारा। लेकिन कई लोग यह माँग कर रहे थे कि इसमें केन्द्र सरकार के हस्तक्षेप के लिए भी प्रावधान होने चाहिए क्योंकि शिक्षा राष्ट्र निर्माण के लिए अहम है और उसे राज्यों पर छोड़ देना अनुचित है। साथ ही राज्य सरकारें अपने राज्य में सार्वभौमिक शिक्षा प्रसारित करने हेतु वित्त के लिए केन्द्र शासन पर निर्भर हैं। इन सब बातों को देखते हुए 1971 में शिक्षा को समवर्ती सूची में लाया गया जिससे केन्द्र और राज्य सरकार दोनों ही इस विषय पर कानून बना सकती हैं।

3. एक और नीति निर्देशक सिद्धान्त के तहत शासन से आग्रह है कि वह समाज के कमज़ोर तबकों खासकर अनुसूचित जाति व जनजातियों के शैक्षणिक व आर्थिक हितों की रक्षा करेगा और उन्हें हर प्रकार के शोषण और अन्याय से बचाएगा। इसके लिए संविधान में ऐसे सामाजिक तबकों के लिए शिक्षण संस्थान और शासकीय नौकरियों में आरक्षण का प्रावधान भी किया गया है।

4. **धार्मिक स्वतंत्रताः** हमारे संविधान में हर नागरिक को न केवल किसी धर्म को मानने या किसी भी धर्म को न मानने की स्वतंत्रता है बल्कि यह भी प्रावधान है कि शासन किसी भी विशेष धर्म को मान्यता नहीं देगा। शासकीय शैक्षिक संस्थानों में किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाएगी।

5. अल्पसंख्यक समुदायों के शैक्षणिक व सांस्कृतिक हितों की रक्षा के लिए विशेष प्रावधान संविधान में हैं। पहला तो यह गारंटी कि भारत के नागरिकों के किसी समुदाय को अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति को बनाए रखने का अधिकार होगा। शासकीय शिक्षा संस्था में प्रवेश के लिए किसी भी नागरिक को धर्म, मूलवंश, जाति, भाषा आदि के आधार पर वंचित नहीं किया जा सकेगा। साथ ही यह प्रावधान भी किया गया कि अल्पसंख्यक समुदाय के लोग अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए शैक्षिक संस्थाएँ चला सकते हैं।

6. संविधान के तहत जो बच्चे अल्पसंख्यक भाषा बोलते हैं उन्हें प्राथमिक स्तर पर अपनी मातृभाषा में शिक्षा दिए जाने की भी व्यवस्था की जाएगी।

नीति निर्देशक सिद्धान्त और बुनियादी अधिकारों में क्या फर्क है – किसके तहत कोई बालक या बालिका न्यायालय से माँग कर सकती है कि उसे प्राथमिक शिक्षा की उचित व्यवस्था मिले।

आपके अनुसार शिक्षा के लिए वित्तीय व्यवस्था, शिक्षा नीति निर्माण तथा प्रबन्धन किसे करना चाहिए – केन्द्र सरकार को, राज्य सरकार को या खुद नागरिक को? अपने उत्तर के पक्ष में तर्क दीजिए।

क्या आपको लगता है कि शासन अनुसूचित जाति व जनजातियों के प्रति अपना संवैधानिक उत्तरदायित्व पूरा कर पाया है – किस हद तक?

शासकीय शाला में किसी धर्म विशेष की शिक्षा देने से धार्मिक स्वतंत्रता का हनन किस तरह होगा – अपने विचार लिखें।

प्राथमिक स्तर तक मातृभाषा में शिक्षा प्राप्त करना भाषाई अल्पसंख्यकों का संवैधानिक अधिकार है। यह किस हद तक आपके क्षेत्र में व्यवहार में ला पाए हैं?

संविधान में शिक्षा सम्बन्धित प्रावधानों में दो महत्वपूर्ण बदलाव समय–समय पर किए गए। वे क्या थे और किन कारणों से किए गए?

2. बुनियादी शिक्षा का प्रयोग 1947–1967

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय देश में एक नई शिक्षा व्यवस्था बनाने को लेकर काफी उत्साह था। लोग चाहते थे कि अंग्रेज़ों द्वारा स्थापित औपनिवेशक शिक्षा व्यवस्था की जगह भारत की ज़रूरतों के अनुरूप एक राष्ट्रवादी शैक्षणिक दर्शन का क्रियान्वयन हो। इसकी कुछ हद तक एक रूपरेखा गाँधीजी की नई तालीम या बुनियादी शिक्षा योजना में उपलब्ध थी। स्वतंत्रता के बाद इसे पूरे देश में लागू करने का प्रयास शुरू हुआ। यह तय किया गया कि हर प्रदेश में कुछ चयनित शालाओं को बुनियादी शाला के रूप में विकसित किया जाए जिसमें इस नई शिक्षा पद्धति को लागू किया जा सके। उस अनुभव के आधार पर समय के साथ इसे पूरे क्षेत्र में लागू किया जा सकता था। लगभग हर ज़िले में नए शिक्षकों को तैयार करने के लिए बुनियादी शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान खोले गए। काफी जोश और उत्साह के साथ यह कार्यक्रम लागू हुआ।

बुनियादी शिक्षा लागू किए जाने से कई सकारात्मक परिणाम हुए, खासकर शिक्षा के प्रति सोच में। पुरानी पाठ्यपुस्तकों पर आधारित शिक्षण पद्धति की जगह गतिविधि, शारीरिक श्रम, सामुदायिक काम आदि के महत्व को शिक्षा में स्वीकार किया जाने लगा। लेकिन अध्ययनों से पता चला कि इस कार्यक्रम को संतोषजनक रूप में लागू नहीं किया जा सका। इसके कई कारण थे – काफी हद तक लोगों की मानसिकता और कुछ हद तक व्यावहारिक समस्याएँ इसके लिए ज़िम्मेदार थीं। प्रसिद्ध शिक्षाविद् जे.पी. नाईक इसके निम्न कारण गिनाते हैं:

''बुनियादी शिक्षा कार्यक्रम'' की प्रगति संतोषजनक न होने के निम्नलिखित मुख्य कारण हैं:

1. *वर्तमान प्राथमिक शिक्षा पद्धति का निर्माण मुख्यतः उच्च एवं मध्य वर्गों के लिए किया गया था। चूँकि इस पद्धति में पूर्णकालिक शिक्षा पर अनन्य रूप से ज़ोर दिया जाता है, अतः सामान्यतः आम जनता के बालक इस पद्धति से बाहर ही रहते हैं। भारत के, विशेषकर नगरीय क्षेत्रों में रहने वाले, उच्च और मध्यम वर्गों में शारीरिक श्रम के प्रति परम्परागत उदासीनता पाई जाती है और पुस्तक पर केन्द्रित साहित्यिक शिक्षा के प्रति आकर्षण पाया जाता है। इन सामाजिक समूहों द्वारा किए गए सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रतिरोध पर काबू नहीं पाया जा सका।*

2. *सर्वसाधारण ने भी इस पद्धति का भारी विरोध किया। उच्च और मध्यम वर्ग अपने लिए जो कुछ कर रहे थे, सर्वसाधारण ने सामान्यतः उसी की नकल करनी चाही। जब उसने यह देखा कि उच्च और मध्यम वर्ग के बालकों के लिए नगरीय क्षेत्रों में पुस्तक पर केन्द्रित एवं साहित्यिक शिक्षा दी जा रही है और (अंग्रेज़ी भाषा सीखने पर ज़ोर दिया जा रहा है) तथा ग्राम्य क्षेत्रों और निर्धन लोगों के लिए एक ऐसी अन्य शिक्षा पद्धति को चुना जा रहा है जिसमें काम पर ज़ोर दिया जाता है और अंग्रेज़ी भाषा का अध्ययन नहीं कराया जाता है तो उसने यह निष्कर्ष निकाल लिया कि उसे घटिया शिक्षा दी जा रही है। वस्तुतः इसी दृष्टिकोण से, बुनियादी शिक्षा के बारे में यह कहा जाने लगा कि 'वह अन्य लोगों के बालकों के लिए सबसे अच्छी शिक्षा है।' अतः सर्वसाधारण भी बुनियादी शिक्षा का उच्च और मध्यम वर्गों के बराबर ही विरोधी हो गया। उसने यह माँग की कि देश के तमाम बालकों के लिए एक सामान्य एकरूप शिक्षा पद्धति होनी चाहिए। शिक्षा आयोग (1964–66) ने भी सिफारिश की कि प्राथमिक चरण में एक समान विद्यालय प्रणाली होनी चाहिए। इस सिफारिश को कार्यान्वित नहीं किया जा सका। एक दोहरी शिक्षा पद्धति की व्यवस्था करने का प्रयास भी असफल रहा। इसमें से एक उच्च वर्गों के लिए थी और दूसरी सर्वसाधारण के लिए थी।*

3. *अनेक तकनीकी समस्याएँ भी इससे जुड़ी हुई थीं। बुनियादी विद्यालयों में शिल्प के रूप में कताई और बुनाई*

पर आवश्यकता से अधिक ज़ोर दिया गया। विशेषकर कताई के सम्बन्ध में विशेष कठिनाइयाँ सामने आईं। कृषि को सफलता मिलने की अपेक्षाकृत बहुत अधिक सम्भावना थी। परन्तु अनेक कारणों से इसका केवल बहुत थोड़े ही विद्यालयों में समावेश किया जा सका। उदाहरण के लिए, इनमें से एक कारण यह था कि भूमि उपलब्ध न थी। शिल्प का अध्यापन भी पुराने ढंग का और अलाभकारी था। कुशल अध्यापकों को प्रशिक्षित करना कठिन कार्य था। आवश्यक साज़–सामान की व्यवस्था नहीं की जा सकी और बहुधा उसे अच्छी दिशा में कायम रखना भी सम्भव नहीं हुआ। कच्चे माल की पूर्ति की व्यवस्थाएँ प्रायः भंग हो जाती थीं और तैयार माल की बिक्री के लिए कोई सन्तोषजनक व्यवस्था नहीं की जा सकी।

इन सब बातों के चलते गाँधी जी के बुनियादी शिक्षा कार्यक्रम को 1964–66 के बीच त्याग दिया गया। नीति निर्माताओं ने यह कहा कि स्कूली व्यवस्था की वस्तुस्थिति को देखते हुए कार्यानुभव को किसी प्रकार से परम्परागत शिक्षा पद्धति में जोड़ने का प्रयास हो, लेकिन जिस तरह से गाँधी जी ने बुनियादी शिक्षा की कल्पना की थी उसे लागू नहीं किया जा सकता है।

क्या वास्तव में गाँधी जी के विचार व्यावहारिक नहीं थे। इस पर कई विद्वानों का अलग मत है। कुछ विद्वान मानते हैं कि इस तरह की शिक्षा पद्धति को पूरे देश में लागू करने के लिए उस पद्धति में विश्वास रखने वाले शिक्षकों के एक बहुत बड़ी फौज की ज़रूरत थी जो उपलब्ध नहीं थी। शायद इससे से भी अधिक महत्वपूर्ण कारण यह था कि गाँधी जी के विचार ग्राम स्वराज और स्वावलम्बन की कल्पना पर आधारित थे। लेकिन भारत ने जो उद्योग आधारित विकास का रास्ता अपनाया उसमें इस तरह के गाँव का विकास सम्भव नहीं था। इसलिए गाँधी जी की कल्पना नए उभरते औद्योगिक राष्ट्र में कामयाब नहीं हो सकती थी।

आपने नई तालीम के बारे में पिछले अध्यायों में विस्तार से पढ़ा था। इसमें ऐसी क्या बातें हैं जो आज के सन्दर्भ में आपको अप्रासंगिक लगती हैं?

अगर स्वतंत्रता के बाद सभी शालाओं में एक पाठ्यक्रम – बुनियादी शिक्षा लागू होता तो क्या यह कार्यक्रम सफल होता? जे. पी. नाईक के विश्लेषण के सन्दर्भ में अपना विचार रखें।

आपको क्यों लगता है कि शिक्षकों ने इसका भरपूर समर्थन नहीं किया?

अभ्यास कार्य

1. सार्वभौमिक शिक्षा से आप क्या समझते हैं?
2. भारत जैसे विविधतापूर्ण राष्ट्र में राष्ट्रीय भावना सुदृढ़ करना क्यों ज़रूरी है?
3. जनतांत्रिक मूल्यों की स्थापना में शिक्षा किस रूप में सहायक होती है?
4. सार्वभौमिक शिक्षा व आर्थिक विकास के बीच क्या सम्बन्ध है?
5. आपके विचार से देश में शिक्षा की व्यवस्था करना किसकी ज़िम्मेदारी होनी चाहिए और क्यों?
6. बुनियादी शिक्षा के असफल होने के क्या कारण थे?

दत्त कार्य

1. आर्थिक रूप से कमज़ोर परिवारों में बच्चों की शिक्षा पर ध्यान नहीं दिया जाता है। इस कथन की विवेचना करते हुए सुझाएँ कि सार्वभौमिक शिक्षा का लक्ष्य कैसे हासिल किया जा सकता है?

परियोजना कार्य

1. किसी नज़दीकी शाला के कक्षा छह से आठ की पाठ्यपुस्तकों का अध्ययन करके बताएँ कि उनमें कौन–सी सामग्री लोकतांत्रिक नागरिक तैयार करने तथा राष्ट्रीय भावना को सुदृढ़ करने पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में सहायक है। पठन सामग्री की उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए।

पठन सामग्री क्र. 11

कोठारी शिक्षा आयोग–सिफारिशें और क्रियान्वयनः 1964—1986

सामान्य परिचय

अध्याय की रूपरेखा

सामान्य परिचय
अध्याय के उद्देश्य
विषयवस्तु के शीर्षक–उपशीर्षक
- भावी समाज की परिकल्पना
- सबके लिए समान शाला
- प्रशासन सम्बन्धी सुझाव
- वित्त सम्बन्धी सुझाव
- शिक्षा की संरचना सम्बन्धी सुझाव
  - शिक्षक स्तर सम्बन्धी सुझाव
  - शिक्षक शिक्षा सम्बन्धी सुझाव
- कोठारी आयोग रिपोर्ट का क्रियान्वयन
- भारत में प्राथमिक शिक्षाः उपलब्धियाँ और विषमताएँ

अभ्यास कार्य
दत्त कार्य
परियोजना कार्य
सहायक पठन सामग्री

आज़ादी के बाद के लगभग एक दशक में ही यह स्पष्ट हो गया था कि भारत में बुनियादी शिक्षा सफल न हो सकी है। इसके बाद नीति निर्मताओं को एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था की ज़रूरत महसूस होने लगी जो पंचवर्षीय योजनाओं के उद्देश्यों के अनुकूल भावी भारत के निर्माण में सहायक हो। इस परिप्रेक्ष्य में 1964 में भारतीय शिक्षा आयोग का गठन किया गया, जो कोठारी आयोग के नाम से भी जाना जाता है। इसके प्रतिवेदन (1966) में शिक्षा के उद्देश्यों को पुनर्व्याख्यायित करते हुए कुछ व्यापक तथा कुछ सूक्ष्म बदलावों की पैरवी की गई। शिक्षा की गुणवत्ता सुधारने के लिए शिक्षक की भूमिका को प्रमुख मानते हुए उनके लिए समुचित वित्तीय लाभ प्रदान करने तथा समुचित शिक्षक शिक्षण पर भी ध्यान दिया गया। इस अध्याय में हम यह भी देखेंगे कि इस प्रतिवेदन का कार्यान्वयन किस हद तक हो पाया है?

अध्याय के उद्देश्य

1. कोठारी आयोग के गठन के परिप्रेक्ष्य से परिचय।
2. नए भारत के निर्माण के लक्ष्य के अनुकूल शिक्षा कैसी हो?
3. यह जानना कि शिक्षा के आधुनिकीकरण का आरम्भ किस प्रकार हुआ।
4. समान शाला की अवधाराणा को समझना तथा उसकी राह में आने वाली चुनौतियों की पड़ताल करना।
5. कोठारी आयोग की विविध सिफारिशों का अध्ययन करना।
6. शिक्षा की गुणवत्ता के सुधार में शिक्षक की भूमिका को देखना।
7. कोठारी आयोग की सिफारिशों के क्रियान्वयन का अध्ययन।

1960 तक यह स्पष्ट हो रहा था कि बुनियादी शिक्षा सफल नहीं हो रही है। उसी दौर में औद्योगिक विकास को आधार बनाकर पंचवर्षीय योजनाओं को लागू किया गया। पंचवर्षीय योजनाओं की सफलताओं के कारण देश का आर्थिक और राजनीतिक ढाँचा बदल रहा था, नये मूल्य स्थापित हो रहे थे, देश तथा समाज की नई–नई आवश्यकताएँ पैदा हो रही थीं। अतः 1964 में भारत शासन ने राष्ट्रीय शिक्षा आयोग का गठन इस उद्देश्य के साथ किया कि वह भारत की वर्तमान शिक्षा की स्थिति पर विचार करके आगे के लिए कुछ

नीति निर्धारण करे। इस आयोग के अध्यक्ष थे – डी.एस. कोठारी जो एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक थे। इसके सचिव थे – जे.पी. नाईक जो एक प्रसिद्ध शिक्षाविद् थे। इस आयोग ने 1966 में अपना प्रतिवेदन (रिपोर्ट) भारत सरकार को सौंपी। एक हज़ार से ज़्यादा पन्नों की यह रिपोर्ट बहुत ही विस्तृत है और समूचे शिक्षा व्यवस्था के हरेक पहलू पर इसमें चर्चा व अनुशंसा है। एक तरह से यह स्वतंत्र भारत की शिक्षा नीति की बुनियाद बन गई है।

1960–65 वह दौर था जब भारत अपनी तीसरी पंचवर्षीय योजना क्रियान्वित कर रहा था। यह एक महत्वाकांक्षी योजना थी जिसमें भारत को एक आधुनिक व औद्योगिक राष्ट्र बनाने का संकल्प था। स्वतंत्र भारत के सामने कई चुनौतियाँ थीं – गरीबी और भुखमरी, निरक्षरता और अन्धविश्वास, जाति–भाषा–धर्म सम्बन्धित आपसी झगड़े, आर्थिक विकास के लिए साधन की कमी आदि। क्या देश इनसे निपटकर एक आधुनिक, सम्पन्न व एकजुट राष्ट्र बनेगा, यह सबके सामने एक सवाल था। पंचवर्षीय योजना से आशा थी कि इसके माध्यम से भारत औद्योगीकरण के अपने पिछड़ेपन, अज्ञानता और गरीबी से उबरकर एक शक्तिशाली देश के रूप में उभर पाएगा। कोठारी आयोग ने यह देखने का प्रयास किया कि इस महान काम में किस तरह की शिक्षा मदद कर सकती है। इस रिपोर्ट का शीर्षक ही था–''शिक्षा व राष्ट्रीय विकास''।

भावी समाज की परिकल्पना

ऐसा समाज जो लोकतांत्रिक धर्मनिरपेक्ष और समानतावादी हो और जो आध्यात्मिक और वैज्ञानिक मान्यताओं पर आधारित हो। जिसमें विज्ञान और तकनीकी के मानव हितार्थ उपयोग से निर्धनता, अज्ञानता और अस्वास्थ्य को मिटा दिया गया हो। विज्ञान और तकनीकी की सहायता से शिक्षा का सम्बन्ध समाज की आवश्यकतानुसार उत्पादकता से जोड़ा जा सके और हर व्यक्ति समाजोपयोगी उत्पादक कार्य में स्वयं को संलग्न कर सके।

विज्ञान और आध्यात्मिकता के ऐसे युग की रचना करना जो समन्वय और शान्ति का विकास कर सके। भारत को विज्ञान और आध्यात्मिक मूल्यों के सामंजस्य से अन्ततः एक ऐसा समाज बनाने का प्रयत्न करना चाहिए जो मानव के व्यक्तित्व के केवल एक खास अंश की नहीं वरन् उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की आवश्यकताओं पर ध्यान दे। आयोग का विश्वास था कि शिक्षा के माध्यम से आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तन शान्तिपूर्वक लाए जा सकते हैं। शिक्षा की गलत दिशा से सामाजिक विघटन भी हो सकता है। जबकि शिक्षा की सही दिशा से राष्ट्र का वास्तविक विकास सम्भव है। जनसाधारण की अन्तर्निहित प्रतिभा को उभारने के लिए शिक्षा की उपलब्धता सर्वसुलभ होना चाहिए। शिक्षा आयोग ने चरित्र निर्माण पर सर्वाधिक बल दिया है। शिक्षा के माध्यम से मूल्यों के साथ हुनर के विकास पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है।

आयोग ने राष्ट्र के सामने यह संकल्प रखा कि अधिक से अधिक 20 वर्षों में यानी 1986 तक भारत का हर नागरिक प्राथमिक शिक्षा प्राप्त हो और कोई भी निरक्षर नहीं हो। कम से कम उद्योग, व्यापार व सेवा क्षेत्र में उच्चतर माध्यमिक व स्नातकों की संख्या 20 प्रतिशत से अधिक हो।

यहाँ हम कोठारी आयोग रिपोर्ट के प्रथम अध्याय 'शिक्षा और राष्ट्रीय उद्देश्य' का सारांश प्रस्तुत कर रहे हैं:

1. ऐसे बदलाव लाना जो शिक्षा को लोगों के जीवन, ज़रूरतों व आकांक्षाओं से जोड़े और शिक्षा को राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिए परिवर्तन के एक शक्तिशाली औज़ार के रूप में स्थापित करे। इसके लिए शिक्षा को इन उद्देश्यों से जोड़ने की ज़रूरत है– उत्पादन बढ़ाने, राष्ट्रीय व सामाजिक एकीकरण बढ़ाने, आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में तेज़ी लाने तथा सामाजिक, नैतिक व आध्यात्मिक मूल्यों को विकसित करने का संकल्प।

2. शिक्षा को उत्पादकता से जोड़ने के लिए विज्ञान शिक्षण, कार्य अनुभव (जिसमें उत्पादन कार्य में विज्ञान व तकनीकी का उपयोग हो) तथा वोकेशनल शिक्षा पर ज़ोर हो।

3. सामाजिक व राष्ट्रीय एकता के लिए –

क. सबके लिए सामान्य पड़ोसी शालाः इसे एक राष्ट्रीय उद्देश्य मानकर 20 साल में पूरा किया जाए।

ख. सामाजिक सेवाकार्य को शिक्षा का अंग बनाना।

ग. मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा में प्राथमिक स्तर से लेकर स्नातक स्तर तक शिक्षा की व्यवस्था करना। विभिन्न प्रान्तों के लोगों से संवाद के लिए अंग्रेज़ी को पढ़ाया जाना चाहिए, और यह प्रयास करते रहना चाहिए कि धीरे–धीरे हिन्दी इसकी जगह ले ले। इनके अलावा हर राज्य में ऐसे लोग हों जो दूसरे राज्य के लोगों की भाषा को जाने व समझें – इसके लिए आधुनिक भारतीय भाषाओं के शिक्षण पर ज़ोर होना चाहिए।

घ. राष्ट्रीय चेतना को बढ़ावा देना – भारतीय संस्कृति, विचार, साहित्य व इतिहास का अध्ययन कराना। संविधान में लिपिबद्ध राष्ट्रीय उद्‌देश्यों व मूल्यों की शिक्षा, तथा नए भारत के निर्माण में विश्वास जगाना।

च. अन्तर्राष्ट्रीय सद्‌भावना को बढ़ाना।

छ. लोकतांत्रिक मूल्यों को बढ़ाना।

4. शिक्षा व आधुनिकीकरण

ज्ञान का भण्डार असीम है और इसमें तेज़ी से विस्फोट हो रहा है। ऐसे में हमारी शिक्षा को केवल तैयार जानकारी को याद करने तक सीमित न रहकर, बच्चों में जिज्ञासा व खुद से सोचने व निर्णय लेने की क्षमताओं के विकास के लिए प्रयास करना चाहिए। आधुनिकीकरण के लिए यह भी ज़रूरी है कि हमारे देश में एक ऐसा बुद्धिजीवी वर्ग तैयार हो जो समाज के हर समुदाय से आए और जो इस देश के प्रति निष्ठावान हो।

5. हर स्तर पर सामाजिक, नैतिक व आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा पर ज़ोर हो।

6. सभी धर्मों के बारे में शिक्षा दी जाए ताकि युवा वर्ग सभी धर्मों की मूल समानता को पहचान पाए।

सबके लिए समान शाला

कोठारी आयोग ने राष्ट्र निर्माण के लिए सबके लिए समान शालाओं की स्थापना की ज़ोरदार पैरवी की थी। इस सन्दर्भ में आयोग का कहना इस प्रकार थाः

"आज भारत में शिक्षा का दायित्व है कि विभिन्न सामाजिक वर्गों को साथ लाना और एकजुट व समतावादी समाज का निर्माण करना। लेकिन वर्तमान में हमारी शिक्षा समाज के विभिन्न समूहों के बीच दूरी को बढ़ा रही है। प्राथमिक स्तर पर निःशुल्क शासकीय शाला में जहाँ, गरीब बच्चे पढ़ते हैं – आम तौर पर निम्न गुणवत्ता के होते हैं। कुछ निजी शालाएँ बेहतर हैं मगर उनमें दाखिला केवल ऊँची फीस दे पाने वाले मध्यम व उच्च वर्ग के लोग ले पाते हैं। माध्यमिक व उच्च माध्यमिक शालाएँ ज़्यादातर निजी हैं और वहाँ 10 प्रतिशत अमीरों के अलावा और कोई तबको का पहुँचना खासा मुश्किल है। इस प्रकार वर्तमान शिक्षा समाज में विभेदीकरण का माध्यम बन गई है।

यह हमारी शिक्षा प्रणाली की खास कमज़ोरी है। अच्छी शिक्षा सबके लिए न होकर कुछ लोगों तक पहुँच पाती है। ये बच्चे भी गुणवत्ता के आधार पर चयनित न होकर अपने फीस देने की क्षमता के आधार पर चयनित होते हैं। इस कारण राष्ट्रीय क्षमता का भण्डार प्रभावित होता है और यह बात राष्ट्र में एकता व समानता लाने में बाधा बन सकती है। यह परिस्थिति केवल गरीब बच्चों के लिए ही प्रतिकूल नहीं है बल्कि अमीर बच्चों के लिए भी हानिकारक है।

आखिर उनका दूरगामी हित इसी में है कि वे समाज के आम लोगों से जुड़े रहें – उनसे कटे नहीं। उन्हें अलग रखने से वे सामान्य जीवन व यथार्थ से दूर हो जाते हैं। सामाजिक एकता को कमज़ोर करने के अलावा यह अमीर बच्चों की शिक्षा को कमज़ोर और अपूर्ण या हल्का कर देता है। अगर हम इस कमज़ोरी को दूर करना चाहते हैं तो हमें सबके लिए सामान्य शाला की स्थापना करनी होगी। इन शालाओं में सभी धर्म, जाति, व आय वर्ग (अमीर व गरीब) के बच्चे साथ पढ़ सकें, कोई फीस नहीं हो, और सभी को गुणवत्ता की शिक्षा मिले।"

7

राष्ट्र निर्माण के लिए समान शाला व्यवस्था की ज़रूरत क्यों है? इसके न होने के कारण हमारे देश पर क्या प्रभाव पड़ा है?

आयोग ने विज्ञान शिक्षण पर ज़ोर क्यों दिया?

राष्ट्रीय एकता के लिए तीन भाषा सूत्र की पैरवी की गई। ये कौन–सी भाषाएँ हैं?

राष्ट्रीय एकता के लिए आधुनिक भारतीय भाषाओं के शिक्षण का क्या महत्व है?

प्रशासन सम्बन्धी कुछ महत्वपूर्ण सुझाव

1. राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण परिषद को अखिल भारतीय स्तर पर विद्यालयी शिक्षा का भार सौंपा जाए।

2. शिक्षा को राष्ट्रीय महत्व का विषय माना जाए और उसकी राष्ट्रीय नीति घोषित की जाए। इसके लिए केन्द्र सरकार 'नेशनल एजुकेशन एक्ट' और प्रान्तीय सरकारें 'स्टेट एजुकेशन एक्ट' बनाएँ।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण परिषद् (एन.सी.ई.आर.टी.) के काम के बारे में आप क्या जानते हैं?

वित्त सम्बन्धी सुझाव

1 .सरकार अपने केन्द्रीय बजट में शिक्षा के लिए 2 प्रतिशत के स्थान पर कम से कम 6 प्रतिशत का प्रावधान करे।

2. राज्य सरकारें भी अपने बजटों में शिक्षा के लिए और अधिक धनराशि आबंटित करें।

3. राज्यों में स्थानीय संस्थाओं (ग्राम पंचायतों और नगर पालिकाओं) को उनके क्षेत्र की प्राथमिक शिक्षा संस्थाओं का वित्तीय भार सौंपा जाए।

शिक्षा की संरचना सम्बन्धी सुझाव

1. सामान्य शिक्षा की कुल अवधि 10 वर्ष होनी चाहिए।

2. उच्चतर माध्यमिक शिक्षा की अवधि सामान्य वर्ग की 2 वर्ष और व्यावसायिक वर्ग की 1 से 3 वर्ष होनी चाहिए।

3. विद्यालय संकुलों का यथा शीघ्र निर्माण किया जाए। एक संकुल में एक माध्यमिक स्कूल और उसके निकटवर्ती सभी प्राथमिक स्कूल हों।

4. प्रथम सार्वजनिक परीक्षा 10 वर्ष की सामान्य शिक्षा समाप्त करने पर होनी चाहिए।

5. सामान्य शिक्षा आरम्भ करने से पूर्व छात्रों को 1 से 3 वर्ष तक की पूर्व–विद्यालय या पूर्व–प्राथमिक शिक्षा दी जानी चाहिए।

6. कक्षा 1 में प्रवेश करने की आयु साधारणतः 6 वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए।

7. 10वीं कक्षा तक छात्रों को किसी विषय में विशिष्टीकरण की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए।

शिक्षा आयोग ने सुझाव दिया है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण हमारे जीने के ढंग और संस्कृति का अभिन्न अंग बन जाए। इसके लिए विज्ञान और गणित की शिक्षा एक स्तर तक सभी के लिए अनिवार्य होना चाहिए।

शिक्षक स्तर और शिक्षक शिक्षा सम्बन्धी सुझाव

आयोग का यह स्पष्ट मत था कि शिक्षा के क्षेत्र में सर्वाधिक एवं महत्वपूर्ण भूमिका शिक्षकों की है। इसीलिए आयोग ने शिक्षण व्यवसाय की ओर योग्य व्यक्तियों को आकर्षित करने के लिए शिक्षकों के सामाजिक और आर्थिक स्तर को ऊँचा उठाने पर बल दिया। उसने शिक्षकों के शिक्षण कौशल को उन्नत करने के लिए शिक्षक शिक्षा में सुधार हेतु और सुझाव दिए –

शिक्षक स्तर सम्बन्धी सुझाव

1. केन्द्र सरकार का दायित्व है कि वह सभी स्तरों के शिक्षकों के न्यूनतम वेतनमान निर्धारित करे। आयोग ने सभी स्तर के शिक्षकों के उच्च वेतनमान प्रस्तावित भी किए हैं। उसका मानना है कि सरकारी और सहायता प्राप्त गैर–सरकारी, सभी शिक्षकों के वेतनमान समान हों व उन्हें सरकारी कर्मचारियों के समान ही महँगाई भत्ता दिया जाए और प्रति 5 वर्ष बाद शिक्षकों के वेतनमान पुनर्निरीक्षित हों। शिक्षकों की सेवा–शर्तें समान हों, उन्हें 'त्रिमुखी लाभ योजना' (जी.पी.एफ., बीमा और पेंशन) का लाभ मिलना चाहिए।
2. शिक्षकों की न्यूनतम योग्यता बढ़ाई जाए, उनके चयन की विधियों में सुधार किया जाए, और शिक्षकों के पदों पर योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति की जाए। इस दिशा में अति योग्य व्यक्तियों को अग्रिम वेतन वृद्धि और अतिरिक्त प्रतिभा के व्यक्तियों को उच्च वेतनमान भी दिए जा सकते हैं।
3. महिला शिक्षकों की नियुक्ति को प्रोत्साहन दिया जाए व अपने पदों पर कार्यकुशलता का परिचय देने वालों को अग्रिम वेतन वृद्धि दी जाए।
4. ग्रामीण क्षेत्रों में कार्य करने वाले शिक्षकों को आवास की सुविधा दी जाए और शिक्षिकाओं को आवास सुविधा के साथ–साथ विशेष भत्ता भी दिया जाए।
5. शिक्षकों की सेवानिवृत्ति की आयु 60 वर्ष की जाए। विशेष परिस्थिति में सेवानिवृत्ति आयु 65 वर्ष तक बढ़ाई जा सकती है।
6. शिक्षकों के लिए शिक्षण कार्य के घण्टे निश्चित करते समय उनके द्वारा किए जाने वाले अन्य विद्यालयी कार्यों को ध्यान में रखा जाए और सबसे बड़ी बात यह है कि व्यक्तिगत ट्यूशन पर नियंत्रण किया जाए। क्योंकि इसके जारी रहने से शिक्षण कार्य के प्रभावित रहने की आशंका बनी रहती है।

शिक्षकों से सम्बन्धित सिफारिशों में से कौन–से हमारे राज्य में लागू हो पाई हैं?

सभी शिक्षकों को समान वेतनमान कहाँ तक उचित है? क्या यह सम्भव है?

शिक्षक शिक्षा सम्बन्धी सुझाव

''अध्यापकों की व्यावसायिक शिक्षा को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए उसे एक ओर विश्वविद्यालयों के साहित्यिक जीवन से और दूसरी ओर विद्यालय–जीवन एवं शिक्षा–सम्बन्धी नवीनतम विचारों के सम्पर्क में लाया जाना परम आवश्यक है।''

इस उद्‌देश्य की प्राप्ति के लिए और उनमें क्रमिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए आयोग ने कई सुझाव दिए ताकि विश्वविद्यालयों से लेकर प्राथमिक शाला तक जुड़ाव बने।

कोठारी आयोग रिपोर्ट का क्रियान्वयन

यह रिपोर्ट आधुनिक भारत की शिक्षा व्यवस्था का सैद्धान्तिक आधार बन चुकी है। कोठारी आयोग की सिफारिशों के आधार पर देश की प्रथम राष्ट्रीय शिक्षा नीति की घोषणा 1968 में की गई। आज भी सरकारें इसकी विभिन्न सिफारिशों को लागू करने का प्रयास या दावा करती रहती हैं। आयोग की सबसे बड़ी उपलब्धी यह रही है कि उसने तत्कालीन राष्ट्रीय विकास में शिक्षा की भूमिका को पहचाना और उसे हासिल करने के लिए एक नक्शा प्रस्तुत किया। इसमें सबसे अहम चार बातें हैं – पहली, शिक्षा के विस्तार के साथ–साथ उसकी गुणवत्ता पर भी ज़ोर हो। दूसरी, प्राथमिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण पर पहला ज़ोर हो न कि उच्च शिक्षा के सुधार पर। तीसरी, राष्ट्रीय एकता व समानता के लिए समान स्कूल प्रणाली लागू हो। चौथी, आधुनिक राष्ट्र की ज़रूरत के लिए विज्ञान और प्रौद्योगिकी को शिक्षा में प्राथमिकता मिले।

कई विद्वान जो इस रिपोर्ट की समीक्षा करते हैं, का मत है कि उसने देश में व्याप्त गरीबी और सामाजिक असमानता पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया और औद्योगिक विकास और राष्ट्रीय एकता पर अधिक महत्व दिया। इसका नतीज़ा यह हुआ कि गरीब व वंचित तबकों की शिक्षा उपेक्षित रही। दूसरी ओर यह भी

प्रासंगिक है कि आयोग की सिफारिशों को पूर्णतया कभी लागू नहीं किया गया, न ही उसके लिए पर्याप्त वित्तीय प्रावधान किया गया। उदाहरण के लिए, प्राथमिक शिक्षा की जगह उच्च शिक्षा के विकास पर अस्सी के दशक तक लगातार अधिक ज़ोर रहा। प्राथमिक शिक्षा में स्कूली ढाँचे का विस्तार तो हो रहा था मगर इसमें न गुणवत्ता पर ध्यान था न वंचित समुदायों की शिक्षा पर। फलस्वरूप शालाओं की नीरसता और बच्चों के जीवन के लिए उनकी अप्रासंगिकता बनी रही और बच्चे शाला से विमुख होते चले गए। काफी बच्चे शालाओं में दर्ज ही नहीं हुए और जो हुए उनमें से केवल 25 प्रतिशत बच्चे आठवीं कक्षा तक पहुँच पाए। बाकी शाला त्यागकर चले गए।

नीचे 1990 के कुछ आँकड़े दिए गए हैं जिनसे हम स्वतंत्र भारत की उपलब्धी और विफलताओं को समझ सकते हैं।

भारत में प्राथमिक शिक्षा उपलब्धी और विषमताएँ

	भारत	उत्तर प्रदेश	केरल
साक्षरता दर (1991)			
कुल जनसंख्या में (स्त्री)	39	25	86
कुल जनसंख्या में (पुरुष)	64	56	94
ग्रामीण अनुसूचित जाति (स्त्री)	19	8	73
ग्रामीण अनुसूचित जाति (पुरुष)	46	39	85
स्कूल जा रहे ग्रामीण बच्चों का अनुपात (1987–88) प्रतिशत में			
5 से 9 साल की लड़कियाँ	40	28	83
5 से 9 साल के लड़के	52	45	87
10 से 14 साल की लड़कियाँ	42	31	91
10 से 14 साल के लड़के	66	64	93
12 से 14 वर्ष के उन बच्चों का अनुपात जो कभी स्कूल नहीं गए (1986–87)			
ग्रामीण लड़कियाँ	51	68	1.8
ग्रामीण लड़के	28	27	0.4
शहरी लड़कियाँ	19	39	0.6
शहरी लड़के	11	19	0

कक्षा 1 से 5 तक शाला त्यागी अनुसूचित जाति व जनजाति बच्चों का प्रतिशत (1990–91)

अनुसूचित जाति	50
अनुसूचित जनजाति	63
सभी बच्चे	44

(स्रोतः अमर्त्य सेन और जान ड्रीज़, भारत, विकास...)

उपरोक्त आँकड़ों को समझने के लिए इस अभ्यास को करें:

1990 में भारत की आबादी में कुल कितने प्रतिशत महिलाएँ साक्षर थीं?

किस राज्य में महिला साक्षरता सबसे अधिक थी?

किस राज्य में महिला साक्षरता सबसे कम थी?

1990 तक किस तरह के लोगों तक शिक्षा का प्रसार सबसे कम हुआ होगा?

1990 तक किस राज्य के अनुसूचित जाति के लोग सबसे अधिक शिक्षित थे?

क्या आप राज्यों के बीच इस अन्तर का कोई कारण बता सकते हैं?

1988 में भारत में शाला न जाने वाले ग्रामीण लड़के कितने थे?

ऐसी लड़कियाँ कितनीं थीं?

उत्तर प्रदेश में कितने प्रतिशत ग्रामीण लड़कियाँ स्कूल नहीं जा रहीं थीं?

कौन से समुदाय में सबसे अधिक शाला त्यागी बच्चे थे– इसका क्या कारण रहा होगा?

उपरोक्त आँकड़ों से स्पष्ट होगा कि देश में शिक्षा का प्रसार काफी असमान रहा। न केवल विभिन्न राज्यों के बीच अन्तर बहुत अधिक था बल्कि राज्यों के अन्दर भी अनुसूचित जाति व जनजाति के लोग शिक्षा में अधिक उपेक्षित थे। यही नहीं, महिलाओं व पुरुषों के बीच बहुत अधिक अन्तर था। कुछ इसी तरह की समस्याएँ कई अल्पसंख्यक समुदायों में खासकर मुसलमानों में पाई गईं। विशेष क्षमता वाले बच्चे (जैसे जो दृष्टिबाधित हैं) की शिक्षा सर्वथा उपेक्षित रही। कुल बच्चों में लगभग दो प्रतिशत बच्चे विशेष क्षमता वाले होते हैं। ऐसे बच्चों में से केवल 60 प्रतिशत बच्चे सन् 2005 तक की शालाओं में दाखिला पाए थे।

शाला में पढ़ने वाले बच्चों की! शैक्षणिक गुणवत्ता और उपलब्धि के स्तर भी काफी चिन्ताजनक रहे। इसका एक महत्वपूर्ण कारण शिक्षकों की कमी थी। यही नहीं, उन दिनों शासन केवल शिक्षकों के वेतन और भवनों के रखरखाव पर खर्च कर रहा था और इस कारण शैक्षणिक सामग्री व शिक्षकों के प्रशिक्षण आदि पर न के बराबर खर्च हो रहा था। ज़ाहिर है इसका शिक्षण पर विपरीत असर पड़ रहा था।

1980 के दशक में इस तरह की विसंगतियाँ काफी उभरकर आने लगीं। ऐसे में 1986 में नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति की घोषणा की गई। इसका मुख्य ध्येय था वंचित समूहों के बीच शिक्षा का प्रसार और शिक्षा की गुणवत्ता को बढ़ाना।

अभ्यास कार्य

1. कोठारी आयोग में विज्ञान और तकनीक को निर्धनता मिटाने और मानव हितार्थ उपयोग की बात कही गई है। अपने अनुभव के आधार पर सहमति अथवा असहमति को कारण सहित समझाएँ।
2. कोठारी आयोग में उल्लेखित राष्ट्रीय उद्देश्य कहाँ तक कार्यान्वित हो पाए हैं?
3. राष्ट्रीय एकता में भाषा किस प्रकार सहायक या बाधक है? अपनी राय के पक्ष में तर्क दीजिए।
4. समान शाला की अवधारणा पर प्रकाश डालते हुए बताएँ कि यह क्यों उचित या अनुचित है?
5. कोठारी आयोग की अनुशंसा के अनुसार अब तक देश में समान शाला व्यवस्था स्थापित क्यों नहीं हो सकी है?
6. कोठारी आयोग के शिक्षा संरचना सम्बन्धी सुझावों में से किन्हीं तीन के बारे में बताएँ कि वे क्यों ज़रूरी हैं?
7. शिक्षकों के सन्दर्भ में कोठारी आयोग की सिफारिशों से आप कितना सहमत हैं?
8. आपके खयाल से कोठारी आयोग की सिफारिशों में उल्लेखित शिक्षक स्तर सम्बन्धित सुझावों को शासकीय और निजी शालाओं में से किन शालाओं में लागू करना अधिक सरल है? क्यों?

दत्त कार्य

1. कोठारी आयोग की अनुशंसाओं की समीक्षा कीजिए।
2. अपने अनुभव के आधार पर कोठारी आयोग के कार्यान्वयन का आकलन करें और उपलब्धियों तथा समस्याओं का विश्लेषण करें।

परियोजना कार्य

1 नज़दीक की किसी ग्राम पंचायत से निम्नलिखित आँकड़े जुटाएँ और उस ग्राम पंचायत की शिक्षा की स्थिति के बारे में एक रपट तैयार करें।

1.1 जनसंख्या (कुल स्त्री–पुरुष)।

1.2 जनसंख्या में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़ा वर्ग व सामान्य वर्ग का अनुपात (स्त्री व पुरुष दोनों की कुल संख्या व प्रतिशत में)।

1.2 साक्षरता दर : (कुल स्त्री–पुरुष)

1.1 साक्षरता दर : अनुसूचित जाति (कुल स्त्री–पुरुष)

1.2 साक्षरता दर : अनुसूचित जनजाति (कुल स्त्री–पुरुष)

1.3 साक्षरता दर : अन्य पिछड़ा वर्ग (कुल स्त्री–पुरुष)

1.4 साक्षरता दर : सामान्य वर्ग (कुल स्त्री–पुरुष)

सहायक पठन सामग्री

1. कोठारी आयोग की रिपोर्ट (1966)

पठन सामग्री क्र. 12

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986–92

अध्याय की रूपरेखा

सामान्य परिचय

अध्याय के उद्देश्य

विषयवस्तु के शीर्षक–उपशीर्षक

–राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986

–जिला प्राथमिक शिक्षा परियोजना

अभ्यास कार्य

दत्त कार्य

सहायक पठन सामग्री

सामान्य परिचय

आज़ादी के लगभग चार दशकों में शिक्षा के क्षेत्र में हुए विविध चिन्तनों और प्रयोगों के अच्छे–बुरे नतीज़े सामने आने लगे थे। कोठारी आयोग की सिफारिशों ने शिक्षा के मुद्दे को व्यापकता और गहराई से देखने की एक दृष्टि दी थी। यद्यपि अनेक कारणों से उन्हें यथावत् लागू नहीं किया जा सका लेकिन उसके प्रयास अवश्य हुए। इन सिफारिशों पर देशभर में बहस भी बहुत हुई। इस परिप्रेक्ष्य में 1986 में भारत की नई शिक्षा नीति प्रकाश में आई। देश नई आर्थिक नीति की दहलीज़ पर खड़ा था। निजीकरण और सरकारी खर्चों में कटौती की आवाज़ें हवा में तैर रही थीं। इस बीच शिक्षा में सुधार के लिए एक नई परियोजना आई – ज़िला प्राथमिक शिक्षा परियोजना। इसने देश के सुस्त पड़े शैक्षिक माहौल में कुछ हलचल तो पैदा की पर यह दावा नहीं किया जा सकता कि परियोजना अपने उद्देश्यों में पूर्णतः सफल रही। इस अध्याय में हम एक शिक्षक की भूमिका से नई शिक्षा नीति और ज़िला प्राथमिक शिक्षा परियोजना को समझने का प्रयास करेंगे।

अध्याय के उद्देश्य

1. राष्ट्रीय शिक्षा नीति की मूलभूत बातों को जानना।
2. निजीकरण के कारणों को जानना और शिक्षा पर उसके प्रभाव की जाँच करना।
3. ज़िला प्राथमिक शिक्षा परियोजना के उद्देश्यों को जानना।
4. ज़िला प्राथमिक शिक्षा परियोजना की सफलता–असफलता का आकलन करना।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986

इस नीतिगत दस्तावेज़ के चौथे उपखण्ड का शीर्षक था – समानता के लिए शिक्षा। उसमें शुरू में ही कहा गया है कि:

''नई नीति विषमताओं को दूर करने और सबको समान शैक्षिक अवसर उपलब्ध कराने पर विशेष ध्यान देगी। उन समुदायों को जिन्हें समान अवसरों से वंचित रखा गया है उनकी विशिष्ट ज़रूरतों पर ध्यान दिया जाएगा।''

इस खण्ड में महिला, अनुसूचित जाति, जनजाति, अल्पसंख्यक व निशक्त बच्चों की शिक्षा के लिए योजनाओं का विस्तार है।

इनके अलावा इस नीति के तहत केन्द्र सरकार की भूमिका को बढ़ाने पर ज़ोर था। इस नीति के तहत राष्ट्रीय स्तर पर एक मूल पाठ्यचर्या निर्धारित करने की बात की गई और आग्रह था कि राज्य सरकारें उसके अनुरूप अपनी पाठ्यचर्या बनाएँ। देश के हर ज़िले में प्रतिभावान ग्रामीण बच्चों के लिए केन्द्र सरकार द्वारा नवोद्य विद्यालयों की स्थापना किया जाना था। हर ज़िले में शिक्षक प्रशिक्षण के लिए एक संस्था (डाइट) का निर्माण केन्द्र सरकार के वित्तीय अनुदान के आधार पर किया जाना था। इस तरह के प्रयासों के पीछे यह

विचार था कि राज्यों के बीच बढ़ती शैक्षणिक विषमताओं को दूर तभी किया जा सकता है जब केन्द्र सरकार पहल करे और उन राज्यों के लिए विशेष व्यवस्था करे जो शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़ रहे हों। यह भी आग्रह बन रहा था कि इस पूरे काम के लिए वित्तीय प्रावधान केन्द्र सरकार को ही करना होगा। इन सब बातों के चलते 1990 के बाद शिक्षा व्यवस्था में केन्द्र सरकार की भूमिका बढ़ती गई।

नई शिक्षा नीति में वयस्कों में साक्षरता फैलाने पर काफी ज़ोर था। इसी दौर में पूरे देश में स्वयंसेवी संस्थाओं की मदद से व्यापक साक्षरता आन्दोलन चलाया गया। इसके तहत लाखों लोगों तक साक्षरता के साथ शिक्षा का सन्देश भी पहुँचा। छत्तीसगढ़ के बिलासपुर ज़िले का साक्षरता कार्यक्रम देश भर में प्रसिद्ध हुआ था। इस अभियान के कारण पूरे देश में प्राथमिक शिक्षा में रूचि जगी और विशेषकर दूरस्थ और वंचित समुदायों के लोग अपने बच्चों को स्कूल में दाखिला करने के लिए तत्पर हो गए। अब सवाल यह था कि क्या शिक्षा तंत्र इस बढ़ती माँग को पूरा कर पाएगा? अगर हाँ तो कैसे?

क्या आपको लगता है नवोद्‌य शालाओं की स्थापना से ग्रामीण क्षेत्रों की शिक्षा में सुधार आया है?

नई शिक्षा नीति में शिक्षकों के प्रशिक्षण पर विशेष ज़ोर दिया गया। आपके विचार में इससे शिक्षा पर क्या प्रभाव पड़ा है?

आपके मत में शैक्षणिक असमानताओं को दूर करने तथा शैक्षणिक गुणवत्ता लाने में केन्द्र सरकार की क्या भूमिका हो सकती है? इसमें राज्य सरकारें क्या भूमिका निभा सकती हैं?

वैश्वीकरण और भारतीय शिक्षा

ज़िला प्राथमिक शिक्षा परियोजना (डी.पी.ई.पी.)

1990–92 के दौरान भारत एक बड़े वित्तीय संकट से गुज़रा और भारत सरकार विश्व बैंक व अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से कर्ज़ लेने पर मज़बूर हुआ। कर्ज़ इस शर्त पर दिया गया कि शासन निजीकरण को बढ़ावा देगा और देश को विदेशी कम्पनियों के व्यापार के लिए खोल देगा। साथ में यह भी शर्त थी शासकीय खर्च क्रमशः कम किया जाएगा और विशेषकर आम जनता को दिए जा रहे हितकारी कार्यक्रमों पर खर्च कम किया जाएगा। ज़ाहिर है कि इस तरह के शासकीय खर्चों की कटौती से आम जनता के जीवन स्तर पर विपरीत असर पड़ेगा। विश्व बैंक की दलील यह थी कि आम जनता वैश्वीकरण से उत्पन्न नए मौकों का फायदा उठा पाएगी और उसे सम्भव बनाने के लिए उनकी शिक्षा पर विशेष ध्यान देना होगा। शिक्षित लोग इन मौकों का अधिक फायदा उठा पाएँगे।

भारत को नई आर्थिक नीतियाँ अपनाने के दौरान होने वाले संकट से उबारने के लिए विश्व बैंक ने भारत को शिक्षा के क्षेत्र में निवेश के लिए ऋण उपलब्ध कराने का ज़िम्मा लिया। इस समझ के तहत भारत के सात राज्यों के 42 ज़िलों में शिक्षा का एक नया कार्यक्रम लागू किया गया जिसे ज़िला प्राथमिक शिक्षा परियोजना कहते हैं। 1990–94 के इस दौर में पहली बार भारत ने किसी अन्य देश से अपनी शिक्षा व्यवस्था को सुधारने के लिए धन लिया और वह भी कर्ज़ के रूप में।

ज़िला प्राथमिक शिक्षा परियोजना के निम्न उद्‌देश्य थेः

1. ज़िला व राज्य स्तर पर व्यापक भागीदारी से विकेन्द्रीकृत शैक्षणिक योजना बनाना व क्रियान्वयन करना।
2. बालिकाओं तथा अनुसूचित जाति व जनजाति के बच्चों को शाला में दाखिल करना, उन्हें टिकाए रखना और उनकी शैक्षणिक उपलब्धी को सुनिश्चित करना।
3. शिक्षकों का प्रशिक्षण ताकि वे उपयुक्त सहायक शिक्षण सामग्री का निर्माण कर पाएँ तथा बाल केन्द्रित विधियों से पढ़ाएँ।
4. विकासखण्ड, ज़िला व राज्य स्तर पर शिक्षा तंत्र की क्षमता वृद्धि।
5. शैक्षणिक आँकड़े एकत्रित करना तथा शैक्षिक सूचना प्रबन्धन को स्थापित करना।

यह उन ज़िलों में लागू होना था जहाँ सबसे कम महिला साक्षरता हो। सभी सम्बन्धित राज्यों को ऐसे ज़िलों के लिए योजना बनाकर केन्द्र सरकार को प्रस्तुत करना था और केन्द्र सरकार उन्हें विदेशों से प्राप्त कर्ज़ से वित्तीय अनुदान देता।

पूरे कार्यक्रम को लागू करने के लिए एक नया ढाँचा खड़ा किया जो कि शिक्षा विभाग से कुछ अलग था। राज्य स्तर पर एक समिति गठित की गई जिसके तत्वावधान में शिक्षा तंत्र के समानान्तर एक व्यवस्था बनाई गई। सारा नया कार्यक्रम इस नए ढाँचे के माध्यम से किया जाना था। इसके तहत संकुल और विकासखण्ड स्तर पर स्रोत केन्द्र बनाए गए तथा ज़िले स्तर पर ज़िला परियोजना समितियाँ, जिसके अध्यक्ष ज़िला कलेक्टर होते थे। इस प्रकार यह अपेक्षा थी कि इस कार्यक्रम को ज़िले स्तर पर पूरी गंभीरता से क्रियान्वित किया जाएगा। कई वर्षों की शिथिलता के बाद शिक्षा तंत्र में एक नई ऊर्जा आई और वित्तीय संसाधन भी उपलब्ध हुए। लेकिन इस दोहरे ढाँचे के कारण योजना बनाने तथा प्रशासन में कई कठिनाइयाँ उत्पन्न भी हुईं।

बड़े पैमाने में नई प्राथमिक शालाएँ खोली गईं, शिक्षकों की नियुक्ति हुई और आँकड़ों के अनुसार छात्रों के दाखिले में 5 से 10 प्रतिशत बढ़ोत्तरी हुई। लेकिन ज़्यादातर राज्य इस डर से ग्रसित थे कि इस पाँच या सात साल की परियोजना के बाद उन पर इन शालाओं व शिक्षकों का वित्तीय भार पड़ेगा। अतः उन्होंने सामान्य सेवा शर्तों मेंं र्शिक्षकों की नियुक्ति न करके शिक्षाकर्मियों की नियुक्ति की। इन शिक्षकों को बहुत कम वेतन में बिना किसी स्थायित्व के रखा गया। शुरू में ये शिक्षाकर्मी बहुत उत्साह के साथ काम करने लगे मगर वेतन की कमी और सेवा की अस्थिरता के कारण उनके उत्साह में लगातार कमी आती गई। कई राज्यों में आज भी यह दुविधापूर्ण परिस्थिति ज़ारी है।

इस परियोजना के तहत सबसे अहम काम यह हुआ कि कई राज्यों में पाठ्यचर्या, पाठ्यपुस्तक व शिक्षण विधियों में काफी सुधार किया गया। साथ–साथ व्यापक स्तर पर संकुल व विकासखण्ड स्रोत केन्द्रों में शिक्षकों का प्रशिक्षण भी हुआ जिसके कारण शिक्षक नए शैक्षणिक विचारों से अवगत हुए और नए उत्साह के साथ बच्चों को पढ़ाने में जुटे।

लेकिन परियोजना की यह अपेक्षा कि विकासखण्ड व ज़िले स्तर पर क्षमता वृद्धि होगी और ये इकाइयाँ स्थानीय ज़रूरतों के अनुरूप योजना बनाकर क्रियान्वित करेंगी, पूरी नहीं हो पाई। इस कार्यक्रम में और अधिक केन्द्रीकरण का ही दबाव बना और स्थानीय इकाइयाँ केन्द्रीय योजनाओं के क्रियान्वयन तक ही सीमित रह गईं।

ज़िला परियोजना ने निश्चित ही देश के कई ज़िलों में नए विचार और ऊर्जा का प्रसार किया मगर अन्य अधिकांश ज़िले इससे अछूते रह गए। इस बात को देखते हुए केन्द्र सरकार की अगली वृहद पहल – सर्व शिक्षा अभियान में सभी ज़िलों को शामिल करने का निर्णय हुआ।

अभ्यास कार्य

1. 1986 में राष्ट्रीय शिक्षा नीति की ज़रूरत क्यों महसूस की गई? कारणों का उल्लेख करते हुए विश्लेषण कीजिए।

2. शिक्षा व्यवस्था में केन्द्र सरकार की भूमिका कितनी व किस प्रकार की होनी चाहिए, इस बारे में आपके क्या विचार हैं?

3. पाठ्यचर्या निर्धारण किस स्तर पर होना उचित है – शाला, ज़िला, प्रदेश या देश के स्तर पर? कारण सहित समझाइए।

4. निजीकरण का शिक्षा की गुणवत्ता पर क्या प्रभाव पड़ता है? अपने अनुभव के आधार पर समझाइए।

5. ज़िला प्राथमिक शिक्षा परियोजना के किन्हीं दो उद्देश्यों की व्याख्या करते हुए उनकी उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।

6. ज़िला प्राथमिक शिक्षा परियोजना में शिक्षक प्रशिक्षण को महत्व क्यों दिया गया है?

7. ज़िला प्राथमिक शिक्षा परियोजना के कारण शिक्षा का दोहरा ढाँचा खड़ा हुआ। इसे आप किस नज़र से देखते हैं? समीक्षा कीजिए।

8. ज़िला प्राथमिक शिक्षा परियोजना के बाद कुछ राज्य शाला व शिक्षकों का भार उठाने को क्यों तैयार नहीं थे? इसके लिए उन्होंने क्या उपाय किए?

दत्त कार्य

1. क्या निजीकरण शिक्षा के सार्वभौमीकरण में सहायक है? पक्ष अथवा विपक्ष में तर्क देते हुए एक निबन्ध लिखिए।
2. ज़िला प्राथमिक शिक्षा परियोजना की समीक्षा कीजिए।

पठन सामग्री क्र. 13

बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार

सामान्य परिचय

शिक्षा एक मौलिक अधिकार है और शासन द्वारा देश के सभी बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध किया जाना चाहिए। कुछ इस तरह की बात बीसवीं सदी के आरम्भ में गोपालकृष्ण गोखले ने कही थी। ज्योतिबा फुले ने भी शिक्षा को दलितों की मुक्ति का मार्ग मानकर अँग्रेज़ों से गुहार की थी। लेकिन उस विचार को उस समय तवज्जो नहीं मिली। अँग्रेज़ों की प्राथमिकताएँ भिन्न थीं। आज़ाद भारत में भी यह माँग बरकरार रही। इक्कीसवीं सदी तक पहुँचते–पहुँचते देश में सभी वर्गों में यह महसूस किया जा रहा था। नए उद्योगों में रोज़गार पाने के लिए, खेती की नई तकनीकों को जानने के लिए, संचार माध्यमों के बेहतर उपयोग के लिए...। शिक्षा को केवल साक्षरता या कौशल अर्जन का माध्यम नहीं वरन् मानवीय गरिमा के साथ जोड़कर देखा गया। सर्वोच्च न्यायालय का उन्नीकृष्णन मामले पर फैसला इस दिशा में निर्णायक साबित हुआ और अन्ततोगत्वा 2002 में संविधान के 86वें संशोधन के माध्यम से निःशुल्क शिक्षा को कानूनी अधिकार मिला। काफी विचार–विमर्श के बाद बने इस कानून से गरीब और वंचित तबके के बच्चों को यह अधिकार मिला कि उन्हें शाला में प्रवेश से किसी भी प्रकार वंचित नहीं किया जाएगा। स्कूलों में सुविधाओं और शिक्षकों से सम्बद्ध कुछ मानक बने और समुदाय की भागीदारी का एक छोटा–सा प्रयास किया गया। इस कानून की वजह से ही शिक्षकों के लिए व्यावसायिक योग्यता अर्जित करना अनिवार्य किया गया।

अध्याय की रूपरेखा

- सामान्य परिचय
- अध्याय के उद्देश्य
- विषयवस्तु के शीर्षक–उपशीर्षक
  - शिक्षा अधिकार कानून के लिए प्रयास
  - शिक्षा का अधिकार कानून के प्रावधान
    - कैसी शाला?
    - कैसी शिक्षा?
    - शिक्षक
    - शाला प्रबन्धन समिति
    - निजी स्कूल
    - वित्तीय प्रावधान
    - केन्द्र सरकार की भूमिका
    - राज्य सरकार
- अभ्यास कार्य
- दत्त कार्य
- परियोजना कार्य
- सहायक पठन सामग्री

अध्याय के उद्देश्य

1. निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की माँग के इतिहास को जानना।
2. शिक्षा का अधिकार कानून के प्रमुख प्रावधानों से परिचय।

निःशुल्क शिक्षा कानून के लिए प्रयास

हमने शुरू की इकाइयों में देखा था कि किस प्रकार सार्वभौमिक शिक्षा औद्योगिक और लोकतंत्रात्मक देशों में विकसित हुई और आधुनिक जीवन का पर्याय बन गई। हमारे देश में जब औपनिवेशिक सरकार के तत्वावधान में आधुनिक शिक्षा का प्रसार शुरू हुआ तब शासकों की मंशा केवल इतनी थी कि भारत के कुछ लोगों को ऐसी शिक्षा दी जाए, जनसाधारण को नहीं। लेकिन जब जोतिबा फूले और रमाबाई सरस्वती जैसे लोगों ने देखा कि भारतीय समाज के वंचित लोगों की मुक्ति में शिक्षा का बहुत बड़ा योगदान हो सकता है, तो वे इसके व्यापक प्रसार की माँग करने लगे। 1911 में राष्ट्रवादी नेता गोपालकृष्ण गोखले ने गवर्नर जनरल

की एसेम्बली में यह प्रस्ताव रखा कि सभी बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा दिए जाने सम्बन्धी कानून बनाया जाए। लेकिन अंग्रेज़ सरकार और कई रियासतों के राजाओं ने इस माँग को अस्वीकार कर दिया। यह माँग राष्ट्रवादी आन्दोलन की एक प्रमुख माँग बनी रही।

स्वतंत्रता के बाद जब संविधान बना तब फिर से इसकी माँग उठी मगर निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा को कानूनी दर्जा नहीं दिया गया और इसे केवल नीति निर्देशक सिद्धान्तों में रखा गया। फलस्वरूप स्वतंत्रता के छह दशकों के बाद भी हमारे देश में सब बच्चों को हम शिक्षा नहीं दे पाए।

बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार देना शासन के लिए आसान काम नहीं रहा है। हर बच्चे को ऐसी शिक्षा उचित शालाओं के माध्यम से देने के लिए जिस वित्तीय प्रावधान और राजनैतिक इच्छाशक्ति की ज़रूरत है उसकी भारी कमी रही है। अन्ततः 1992 में सर्वोच्च न्यायालय ने इसकी पहल की।

सन 1992 में सर्वोच्च न्यायालय ने उन्नीकृष्णन विरुद्ध आन्ध्र प्रदेश शासन प्रकरण में एक महत्वपूर्ण निर्णय दिया कि शिक्षा का अधिकार संविधान में दिए गए जीवन के मौलिक अधिकार का अंग है। कहा गया कि इस देश के हर बच्चे या नागरिक को यह अधिकार है कि उसे 14 वर्ष पूरे होने तक निःशुल्क शिक्षा मिले तथा 14 पूरे होने पर यह अधिकार शासन की आर्थिक क्षमता और विकास की दशा से निर्धारित होगा।

इस निर्णय का मतलब यह हुआ कि संविधान में प्रत्यक्ष रूप में कहा गया हो या नहीं, निःशुल्क शिक्षा का अधिकार हर नागरिक का मूल अधिकार होगा। यही नहीं इसका यह भी मतलब था कि यह अधिकार पैदा होने से लेकर 14 साल पूरे होने तक की अवधि का होगा। कानूनविदों का मानना था कि जीवन का अधिकार तभी सार्थक हो सकता है जब नागरिक शिक्षित हो, अन्यथा उसका जीवन पशु के जीवन समान रह जाएगा और वह संविधान में दिए गए अन्य अधिकारों का प्रयोग नहीं कर पायगा। अतः शिक्षा का अधिकार मौलिक अधिकार होना ज़रूरी व लाज़मी है।

इस फैसले के चलते संसद ने 2002 में संविधान के 86वें संशोधन के माध्यम से 6 से 14 वर्ष की आयु के बच्चों की निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा को मौलिक अधिकार का दर्जा दिया। इस में यह भी कहा गया कि यह शिक्षा कैसी हो यह राज्य कानून के माध्यम से निर्धारित करेगा। कई शिक्षाविदों का कहना था कि यह देर से लिया कदम स्वागतयोग्य है मगर इसमें जन्म से लेकर 6 साल के उम्र तक की परवरिश और शिक्षा को संविधान के दायरे के बाहर रखना अनुचित है। साथ ही शिक्षा के स्वरूप को तय करने का अधिकार शासन को दिए जाने के पक्ष में कई लोग नहीं थे। बहरहाल, सन् 2009 में संसद ने बच्चों की निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार कानून पारित किया।

भारत में बच्चों की शिक्षा के अधिकार को कानूनी रूप लेने में सौ से भी अधिक साल क्यों लग गए?

86वें संविधान संशोधन के पक्ष में और विपक्ष में क्या विचार हो सकते हैं, विश्लेषण कीजिए।

बच्चों की निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार कानून के प्रावधान

6 से 14 साल के हर बच्चे को अपने पड़ोस के स्कूल में निःशुल्क और अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा को पूरा होने तक प्राप्त करने का अधिकार होगा। अपनी प्रारम्भिक शिक्षा को पाने और पूरा करने में किसी बच्चे को किसी तरह का शुल्क या खर्चा भरने की ज़रूरत नहीं है।

इस अधिनियम के प्रावधानों के क्रियान्वयनों के लिए राज्य सरकार और स्थानीय प्राधिकारी को अपने क्षेत्र और पड़ोस की सीमा के भीतर जहाँ स्कूल नहीं है वहाँ इस अधिनियम के लागू होने के तीन साल की अवधि के भीतर स्कूल स्थापित करना होगा।

टीप और सवाल

ध्यान देने की बात यह है कि निःशुल्क शिक्षा का मतलब यहाँ केवल शाला की फीस से नहीं है बल्कि हर प्रकार का खर्च जो शिक्षा के लिए ज़रूरी है, जैसे– पुस्तक, कॉपी, पेंसिल, बस्ता, यातायात, गणवेश आदि भी इसमें सम्मिलित हैं। यानी शासन को इन सबको वहन करना होगा। लेकिन यह प्रावधान केवल शासकीय शालाओं पर लागू होगा।

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि इस कानून ने अल्पकालीन शाला और रात्रिशाला जैसी उन सभी वैकल्पिक शैक्षणिक व्यवस्थाओं को नकार दिया और मानक शालाओं में पूर्णकालिक शिक्षा पाना हर बच्चे का अधिकार बना दिया। यह एक तरह से बाल मज़दूरी पर सीधा प्रहार है।

तीसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि सार्वभौमिक शिक्षा के लिए इस कानून ने बच्चों या पालकों को ज़िम्मेदार नहीं ठहराया बल्कि स्वयं शासन को। अगर बच्चे किसी भी कारण स्कूल नहीं जा पाते तो उसके निराकरण का ज़िम्मा शासन पर है।

बच्चों को शिक्षा पाने के लिए किस–किस तरह के खर्च करने पड़ते हैं – एक विस्तृत सूची बनाइए और देखिए कि इनमें से कौन–से खर्च अभी शासन वहन करता है?

क्या आपको यह न्यायसंगत लगता है कि निजी शालाओं में पढ़ने वाले बच्चों को निःशुल्क शिक्षा प्राप्त नहीं है। अपने तर्क दीजिए।

अगर कोई पालक यह दलील दे कि अगर बच्ची मज़दूरी करने नहीं जाएगी तो परिवार को भुखमरी का सामना करना पड़ेगा और इस कारण से उसे स्कूल भेजने से मना कर देता है तो शासन का क्या दायित्व बनेगा?

कैसी शाला?

6 वर्ष से ज़्यादा उम्र के ऐसे बच्चे जिनका किसी स्कूल में दाखिला नहीं हो पाया है या दाखिल हैं पर प्रारम्भिक शिक्षा को पूरा नहीं कर पाए हैं तो उन्हें अपनी उम्र के मुताबिक उपयुक्त कक्षा में दाखिला दिया जाएगा। यदि उम्र के अनुसार कक्षा में दाखिल नहीं हो पाए हैं तो दूसरे बच्चों के बराबर आने के लिए विशेष प्रशिक्षण का अधिकार होगा जैसा कि प्रस्तावित किया जाएगा।

इस कानून के द्वारा स्कूल के कुछ मापदण्ड तय किए गए हैं। शासन की यह ज़िम्मेदारी है कि इन मापदण्डों के अनुरूप स्कूल बनें। स्कूल के मापदण्ड के लिए अगला पन्ना देखें।

टीप और सवाल

उम्र के अनुसार कक्षा में दाखिला देने की व्यवस्था क्यों की गई? क्या इससे बच्चे के सीखने पर विपरीत असर पड़ेगा? बारबियाना स्कूल के बच्चों के विचारों के सन्दर्भ में इस प्रश्न का जवाब दें।

इस पर सामान्य शिक्षकों में काफी असन्तोष और सवाल हैं। उन्हें इस प्रावधान का औचित्य आप कैसे समझाएँगे?

कई विद्वानों का मानना है कि स्कूल का मानक बहुत न्यून है जबकि केन्द्र शासन द्वारा संचालित केन्द्रीय विद्यालय या नवोद्य विद्यालयों को मानक शाला मानना चाहिए। दूसरी तरफ तर्क यह भी है कि ऐसी शालाएँ हर बच्चे को उपलब्ध करवाने के लिए शासन के पास पर्याप्त संसाधन नहीं हैं। वित्त मंत्रालय के अनुमान से वर्तमान मापदण्ड पर भी शालाएँ स्थापित करने का वित्तीय भार बहुत अधिक है। इसके लिए एक विशेष कर (शिक्षा उपकर) आय कर देने वाले नागरिकों पर लागू किया गया है।

कानून में दिए गए मानकों का ध्यान से अध्ययन करें और बताएँ कि क्या ये बच्चों को उचित शिक्षा देने के लिए पर्याप्त हैं। आप इसमें किस तरह के बदलाव चाहेंगे।

कैसी शिक्षा?

किसी बच्चे को शारीरिक रूप से दण्डित या मानसिक उत्पीड़न नहीं किया जाएगा।

पाठ्यक्रम और मूल्यांकन विधि को तय करने वाले शैक्षणिक प्राधिकारी इन बातों पर ध्यान देगें –

(अ) संविधान के निहित मूल्यों से इसकी अनुरूपता;

(ब) बच्चे का समग्रता में विकास;

(स) बच्चे के ज्ञान, सम्भावित क्षमता और प्रतिभा का विकास;

अनुसूची

स्कूल हेतु मानक एवं मापदंड

(देखें 19 और 25)

क्र सं	विषय	मानक और मापदण्ड	
1	शिक्षकों की संख्या (अ) पहली से पांचवी कक्षा तक	दाखिला प्राप्त बच्चे साठ तक; इकसठ से नब्बे के मध्य; इक्यानवे से एक सौ बीस के मध्य; एक सौ पचास से ऊपर बच्चों पर ; दो सौ से ऊपर बच्चों पर	शिक्षकों की संख्या दो तीन चार पांच और एक प्रधानाध्यापक छात्र शिक्षक अनुपात चालीस से अधिक नहीं (प्राधानाध्यापक को छोड़ कर)
	(ब) छठी से आठवीं कक्षा तक	(1) कम से कम एक शिक्षक प्रति कक्षा ताकि प्रत्येक के लिये कम से कम एक शिक्षक हो जाए - (1) विज्ञान और गणित; (2) सामाजिक विज्ञान; (3) भाषाओं के लिए एक (2) प्रति पैतींस बच्चे पर एक शिक्षक ; (3) जब बच्चों का दाखिला सौ से ऊपर हो (1) एक पूर्णकालिक प्रधानाध्यापक (2) निम्न के लिये अंशकालिक अनुदेशक (इन्स्ट्रक्टर) (अ) कला शिक्षण (ब) स्वास्थ्य और शारीरिक शिक्षण (स) कार्य शिक्षण	

2. भवन सभी मौसम वाला भवन जिसमें निम्नलिखित होगे –

1.प्रत्येक शिक्षक के लिए कम से कम एक कक्षा और एक कार्यालय–सह–भण्डार–सह प्रधान अध्यापक कक्ष;

2. बाधा मुक्त पहुँच;
3. लड़कों और लड़कियों के लिए पृथक शौचालय;
4. सभी बालकों के लिए सुरक्षित और पर्याप्त पेय जल;
5. रसोई, जहाँ दोपहर का भोजन विद्यालय में पकाया जाए;
6. खेल का मैदान;
7. सीमा, दीवार या बाड़े द्वारा विद्यालय भवन की सुरक्षा करने के लिए व्यवस्थाएँ।

3. एक अकादमिक वर्ष में कार्य दिवसों/शिक्षण घण्टों की न्यूनतम संख्या
   1. पहली से पाँचवीं कक्षा के लिए 200 कार्य दिवस;
   2. छठी कक्षा से आठवीं कक्षा के लिए 220 कार्य दिवस;
   3. पहली कक्षा से पाँचवीं कक्षा के लिए प्रति अकादमिक वर्ष 800 शिक्षण घण्टे;
   4. छठी कक्षा से आठवीं कक्षा के लिए प्रति अकादमिक वर्ष 1000 शिक्षण घण्टे।

4. शिक्षक के लिए प्रति सप्ताह कार्य घण्टों की न्यूनतम संख्या

45 शिक्षण के घण्टे जिसमें तैयारी के घण्टे शामिल हैं।

5. अध्यापन शिक्षण सामग्री

प्रत्येक कक्षा के लिए यथा अपेक्षित उपलब्ध कराए जाएँगे।

6. पुस्तकालय

प्रत्येक विद्यालय में एक पुस्तकालय होगा, जिसमें समाचार पत्र, पत्रिकाएँ और सभी विषयों पर पुस्तकें, जिसके अन्तर्गत कहानी की पुस्तकें भी हैं, उपलब्ध होंगी।

7. खेल सामग्री, खेल और क्रीड़ा उपस्कर

प्रत्येक कक्षा को यथा अपेक्षित उपलब्ध कराए जाएँगे।

(द) शारीरिक एवं मानसिक योग्यताओं का पूर्णतम सीमा तक विकास;

(ई) बालकेन्द्रित और बालसुलभ तरीके से विभिन्न क्रियाकलापों, अन्वेषण और खोज के माध्यम से सीख उत्पन्न करना;

(फ) जहाँ तक हो सके पढ़ाई का माध्यम बच्चे की मातृभाषा हो;

(जी) बच्चे को भय, सदमा और चिन्ता मुक्त बनाना और उसे अपने विचारों को खुलकर कहने में सक्षम बनाना;

(एच) बच्चे के ज्ञान की समझ और इसे व्यवहार में लाने की योग्यता का व्यापक और सतत् मूल्यांकन;

दाखिला प्राप्त किसी बच्चे को किसी कक्षा में रोका नहीं जाएगा अथवा प्रारम्भिक शिक्षा पूरी होने से पहले स्कूल से बाहर नहीं निकाला जाएगा। प्रारम्भिक शिक्षा को पूरा करने से पहले किसी बच्चे को बोर्ड की परीक्षा पास करना ज़रूरी नहीं होगा। प्रारम्भिक शिक्षा को पूरा करने वाले हर बच्चे को निर्धारित तरीके और प्रारूप पर प्रमाण–पत्र प्रदान किया जाएगा।

टीप और सवाल

यह अंश इस कानून का बहुत महत्वपूर्ण अंश है। बच्चों को शाला में भयमुक्त वातावरण मिले, उनकी किसी प्रकार की प्रताड़ना न हो। शिक्षा केवल पढ़ने–लिखने पर केन्द्रित न होकर बच्चों का सर्वांगीण विकास (खेलकूद, गायन–वादन, चित्रकला, आदि) भी हो। शिक्षण रटन्त तरीके से न होकर खोज, प्रयोग और अन्य बालकेन्द्रित तरीकों से हो।

शिक्षण मातृभाषा में हो – यहाँ यह कहा गया है कि जहाँ तक सम्भव हो...। शायद इसलिए कि हमारे देश में हर शाला में कई मातृभाषा बोलने वाले बच्चे पढ़ते हैं। ऐसे में उन्हें किस भाषा में पढ़ाना चाहिए।

अगर वास्तव में बच्चों को भय व चिन्ता से मुक्त शिक्षा देना हो तो शिक्षक को कैसे पेश आना होगा?

इसमें बच्चों को अपने विचार खुलकर कहने पर विशेष ज़ोर क्यों दिया गया है?

बच्चों को फेल न करने के प्रावधान के बारे में आपका क्या मत है। क्या इससे बच्चों के सीखने पर बुरा असर पड़ेगा?

बच्चों को परीक्षा के भय के आधार पर पढ़ाना क्या भय और चिन्ता मुक्त शिक्षा के सिद्धान्तों के विपरीत है?

शिक्षक

एन.सी.टी.ई. द्वारा निर्धारित न्यूनतम अर्हता जो कि केन्द्रीय सरकार द्वारा अधिसूचित हो, अध्यापक के तौर पर नियुक्ति के लिए योग्य मानी जाएगी।

अध्यापक निम्नांकित कार्य करेगा :–

(अ) स्कूल में नियमित रूप से समय की पाबन्दी के साथ अपनी उपस्थिति बनाए रखे।

(ब) प्रावधानों के मुताबिक पाठ्यक्रम को चलाए और पूरा करे।

(स) निर्दिष्ट समयवधि में समूचा पाठ्यक्रम पूरा करे।

(द) हर बच्चे के सीखने की क्षमता का आकलन करते हुए ज़रूरत पड़ने पर उसे अतिरिक्त शिक्षण प्रदान करे।

(ई) माता–पिता या अभिभावकों के साथ नियमित बैठक आयोजित करे ताकि बच्चों की उपस्थिति की नियमितता, सीखने की क्षमता, सीखने की प्रगति और आवश्यक जानकारी उन्हें दी जा सके।

राज्य सरकार या स्थानीय प्राधिकारी यह सुनिश्चित करेगा कि अनुसूची में वर्णित छात्र–शिक्षक अनुपात को हर स्कूल में ठीक तरह बनाए रखा जा रहा है। छात्र–शिक्षक अनुपात को बनाए रखने के लिए स्कूल

में नियुक्त किसी शिक्षक से किसी अन्य स्कूल, कार्यालय में कार्य नहीं लिया जाएगा, न ही खण्ड 27 में वर्णित कार्यों के अलावा शिक्षण से सम्बन्ध नहीं रखने वाला कोई कार्य कराया जाएगा।

कोई भी शिक्षक निजी ट्यूशन अथवा निजी शिक्षण के कार्य में संलिप्त नहीं होगा।

टीप और सवाल

इस कानून की सबसे बड़ी आलोचनाओं में से है कि इसमें शिक्षकों के अर्हता व कर्तव्यों के बारे में तो लिखा गया है मगर उनकी सेवा–शर्त और वेतन के बारे में चुप्पी साधी गई है। इसके पीछे सम्भवतः यह तर्क है कि कई राज्यों में शिक्षकों को समान वेतनमान व सेवा–शर्त उपलब्ध नहीं हैं। पूरे देश में एक जैसा मानदण्ड स्थापित करने के लिए शायद वित्तीय प्रावधान पर्याप्त नहीं हैं।

आपके मत में क्या इस कानून में इन बातों को भी शामिल किया जाना था, अपने कथन के पक्ष में तर्क रखें।

शाला प्रबन्धन समिति

स्कूल में एक प्रबन्धन समिति गठित होगी जिसमें स्थानीय प्राधिकारी के निर्वाचित प्रतिनिधि, स्कूल में दाखिला प्राप्त बच्चों के माता–पिता या अभिभावकों और अध्यापकों का प्रतिनिधित्व होगा।

इसका काम – स्कूल के संचालन की मॉनीटरिंग; स्कूल के विकास की योजना को तैयार करना; सरकार आदि स्रोतों से प्राप्त अनुदान के इस्तेमाल की मॉनीटरिंग करना। मॉनीटरिंग यानी देखना कि काम हो रहा है या नहीं।

टीप और सवाल

शाला प्रबन्धन समितियों की भूमिका के बारे में आपके क्या विचार हैं, इस कानून में उन्हें वास्तव में कोई अधिकार नहीं दिए गए हैं – केवल मॉनीटरिंग और अनुशंसा का अधिकार है। क्या ऐसे में पालक इसे गम्भीरता से लेंगे? उन्हें अधिक अधिकार देने से क्या समस्याएँ हो सकती हैं?

निजी स्कूल

निःशुल्क शिक्षा का यह प्रावधान निजी स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों पर लागू नहीं होगा। लेकिन निजी स्कूलों में कक्षा 1 की कुल छात्र संख्या का पच्चीस प्रतिशत पड़ोस के कमज़ोर और वंचित वर्ग के बच्चे होंगे जिन्हें निःशुल्क और अनिवार्य एलिमेन्टरी शिक्षा पूरे होने तक प्रदान की जाएगी। उसे राज्य के द्वारा किए जा रहे प्रति बच्चे खर्च की दर से प्रतिपूर्ति की जाएगी।

यदि कोई निजी स्कूल सम्बन्धित अधिकारी से मान्यता प्राप्त नहीं करता है तो वह स्थापित नहीं हो सकेगा। यदि निर्धारित मानकों और मापदण्डों का अनुपालन किसी स्कूल द्वारा नहीं किया जा रहा हो तो उसे मान्यता नहीं प्रदान की जाएगी।

टीप और सवाल

निजी शालाओं में गरीब और वंचित तबकों के बच्चों को दाखिला करने के इस प्रावधान पर काफी बहस चली है। कुछ लोगों का मानना है कि इससे शासकीय शालाओं से बच्चे हट जाएँगे। कुछ और लोगों का मत है कि इससे उन गरीब बच्चों को काफी प्रताड़ना का सामना करना पड़ेगा। कुछ और लोगों का मत है कि यह इसलिए ज़रूरी है क्योंकि निजी शालाएँ वर्तमान में सामाजिक दूरियाँ बढ़ा रही हैं और इसे कुछ हद तक पाटने में यह प्रावधान काम आएगा। निजी शाला के बच्चे भी गरीब तबकों के बच्चों के जीवन अनुभव व कुशलताओं से काफी सीख सकते हैं।

इन तर्कों के बारे में आपके विचार लिखें।

वित्तीय प्रावधान

केन्द्र सरकार और राज्य सरकार दोनों की साथ–साथ ज़िम्मेदारी है कि वे इस अधिनियम के प्रावधानों के कार्यान्वयन के लिए धन का प्रावधान करें।

केन्द्र सरकार की भूमिका

(अ) शैक्षणिक प्राधिकारी के सहयोग से धारा 29 के तहत राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा विकसित

करेगी।

(ब) शिक्षकों के प्रशिक्षण हेतु मानकों को विकसित करेगी और उन्हें प्रभावी बनाएगी।

(स) नवाचार के उन्नयन, शोध, नियोजन और क्षमता वृद्धि हेतु राज्य सरकार को तकनीकी सहायता एवं संसाधन प्रदान करेगी।

राज्य सरकार की भूमिका

(अ) छह से चौदह साल की उम्र के हर बच्चे को निःशुल्क एवं अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान करेगी।

(ब) यह सुनिश्चित करना कि किसी भी आधार पर कमज़ोर वर्ग और वंचित वर्ग के बच्चों को भेदभाव के चलते प्रारम्भिक शिक्षा पाने और उसे पूरा करने से रोका न जाए।

(स) आधारभूत संरचना, जिसमें स्कूल भवन शामिल है, शिक्षकगण एवं सीखने के उपकरणों को प्रदान करना।

(द) प्रारम्भिक शिक्षा हेतु समायोजित तरीके से पाठ्यक्रम और अध्ययन के विषय निर्धारित करना।

(य) शिक्षकों के लिए प्रशिक्षण सुविधा उपलब्ध कराना।

अभ्यास कार्य

1. निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा क्यो ज़रूरी है?

2. भारत के संविधान के निर्माण के समय निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा को नीति निर्देशक सिद्धान्तों में रखा गया। यदि उस समय इसे मूल अधिकारों में रखकर कानूनी दर्जा दिया जाता तो आपके खयाल से भारत के वर्तमान शिक्षा परिदृश्य में क्या बदलाव होता?

3. जीवन के अधिकार और शिक्षा के बीच क्या अन्तर्सम्बन्ध है?

4. शिक्षा के अधिकार कानून का सबसे अधिक लाभ किसे हुआ? किस प्रकार?

5. क्या शासन द्वारा निःशुल्क शिक्षा देने को आप उचित मानते हैं? कारण सहित समझाइए।

6. बाल केन्द्रित और बाल सुलभ तरीके से विभिन्न क्रियाकलापों, अन्वेषण और खोज के माध्यम से सीखने का क्या तात्पर्य है?

7. मातृभाषा में बच्चों को पढ़ाना क्यों ज़रूरी है? कोई चार कारण बताइए।

8. सतत् मूल्यांकन से आप क्या समझते हैं? यह पूर्ववर्ती परीक्षा प्रणाली से किस प्रकार भिन्न है?

9. शिक्षक को उत्तरदायित्वपूर्ण बनाने के लिए शिक्षा का अधिकार कानून क्या–क्या कहता है?

10. निजी शालाओं में गरीब और वंचित तबके के बच्चों के दाखिले से वे शिक्षा की मुख्यधारा से जुड़ पाएँगे। इस कथन के पक्ष अथवा विपक्ष में कारण सहित अपनी राय दीजिए।

दत्त कार्य

1. शिक्षक और समुदाय के रिश्ते पर एक निबन्ध लिखिए।

2. शाला प्रबन्धन समितियों को सशक्त बनाने के लिए क्या–क्या किया जा सकता है? सुझाव दीजिए।

परियोजना कार्य

1. उन्नीकृष्णन बनाम आन्ध्र प्रदेश शासन मामले पर सर्वोच्च न्यायालय के फैसले की प्रति प्राप्त करें। उसकी विवेचना करते हुए बताएँ कि किस प्रकार इस फैसले ने शिक्षा के अधिकार कानून का मार्ग प्रशस्त किया?

2. ज्योतिबा फुले के शिक्षा के लिए किए गए कार्यों से सम्बद्ध सामग्री का अध्ययन करके एक निबन्ध लिखिए।

इकाई क्र. 5

वैकल्पिक सोच व प्रयोग

(शासकीय तंत्र में प्रयोग)

पठन सामग्री क्र. 14

होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम और प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम

पठन सामग्री क्र. 15

लोक जुम्बिश : शैक्षिक प्रबन्धन का जनतंत्रीकरण

पठन सामग्री क्र. 16

एम.वी. फाउंडेशन व सेतु पाठ्यक्रम

वैकल्पिक सोच व प्रयोग

परिचय

इस इकाई में हम ऐसे प्रयासों के बारे में अध्ययन करेंगे जो शासकीय शालाओं में शिक्षण को बेहतर बनाने के उद्देश्य से शुरू किए गए थे। यूँ तो सबसे महत्वपूर्ण प्रयोग – बुनियादी शिक्षा कार्यक्रम के बारे में और उसकी क्रियान्वयन में आई समस्याओं के बारे में हम पढ़ चुके हैं। हमने देखा था कि शुरू में इसे सेवाग्राम में प्रयोग के तौर पर प्रारम्भ किया गया था। बाद में इसे शासकीय तंत्र में फैलाया गया। एक विस्तृत पाठ्यक्रम, शिक्षक प्रशिक्षण, निरीक्षण के तरीके, मूल्यांकन विधि आदि विकसित किए गए। सैद्धान्तिक रूप में उत्तम होते हुए भी व्यापक तंत्र में यह कार्यक्रम सफल नहीं हुआ। इसके प्रमुख कारण थे शिक्षकों की तैयारी की कमी, आम जनता के बीच ऐसे वैकल्पिक विचारों के प्रति सन्देह और समानान्तर रूप से चलने वाले मुख्यध ारा के पाठ्यक्रम पर अधिक भरोसा करना। इसके अलावा शासकीय तंत्र का अपना जड़त्व भी इस विफलता के लिए काफी ज़िम्मेदार था। लेकिन असफल होते हुए भी इस कार्यक्रम ने भारत में शिक्षा के प्रति सोच में एक गहरा असर छोड़ा है जो आज भी प्रासंगिक है। यहाँ हम सत्तर के दशक के बाद हुए कुछ महत्वपूर्ण प्रयोग और उनके क्रियान्वयन के बारे में भी पढ़ेंगे।

सत्तर के दशक में मध्य प्रदेश में एक अनूठा विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम शुरू हुआ जो तीस साल तक चलता रहा। इसके प्रभाव में साथ–साथ प्राथमिक शिक्षण कार्यक्रम (प्राशिका) और सामाजिक अध्ययन कार्यक्रम भी चलाया जाता था। इनका ध्येय ज़मीनी स्तर पर शिक्षण में बदलाव लाना और उस बदलाव को बनाए रखना था। हालाँकि ये कार्यक्रम 2002 में बन्द हो गए थे, इनका गहरा असर कई मायनों में राष्ट्रीय शिक्षा नीति तथा राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा, 2005 पर देखा जा सकता है।

1987 में आन्ध्र प्रदेश में एम.वी. फाउंडेशन ने एक महत्वपूर्ण अभियान शुरू किया जिसका उद्देश्य था बाल श्रम का उन्मूलन और बाल श्रमिकों को शाला में दाखिला दिलवाना। उन्होंने पाया कि बाल श्रम गाँवों में व्याप्त है जिसके कारण बच्चे स्कूल नहीं जा पाते हैं। पालक खुद उन्हें भेजना नहीं चाहते थे क्योंकि परिवार बच्चों की कमाई पर निर्भर था। इसके विपरीत बच्चे स्कूल जाकर पढ़ना चाहते थे ताकि वे ऐसी ज़िन्दगी से बच सकें। एम.वी. फाउंडेशन ने यह बीड़ा उठाया कि घर–घर जाकर पालकों को समझाया जाए और बच्चों को स्कूल में दाखिला देने के लिए कदम उठाया जाए। आपको बारबियाना का एक बच्चे का बयान याद आ रहा होगा, *'गाय का गोबर उठाने से तो स्कूल आना कहीं अच्छा है।'* एम.वी. फाउंडेशन का अनुभव काफी हद तक शिक्षा अधिकार कानून का प्रेरणा स्रोत था। इसके बारे में भी हम पढ़ेंगे। उसके अनुभव के आधार पर देश भर में कई कार्यक्रम बने, जैसे– छत्तीसगढ़ में सेतु पाठ्यक्रम।

हमने पिछली इकाई में ज़िला शिक्षा परियोजना के बारे में पढ़ा था। इस परियोजना के तहत भी काफी प्रयोग हुए, जिनमें महत्वपूर्ण थे – राजस्थान का लोक जुम्बिश कार्यक्रम, मध्य प्रदेश का सीखना–सिखाना कार्यक्रम, कर्नाटक का नली कल्ली कार्यक्रम। इसी दौर में संयुक्त राष्ट्र बाल कोष (यूनिसेफ) ने भी कई पहल किए, जैसे– शिक्षक समाख्या कार्यक्रम। उल्लेखनीय है कि नली कल्ली का ही एक परिवर्तित रूप हमारे राज्य में एम.जी.एम.एल. कार्यक्रम के नाम से चल रहा है। इनमें से अधिकांश कार्यक्रम किसी न किसी रूप में गैर–सरकारी संगठनों के पहल पर शुरू हुए थे। इससे यह स्थापित हुआ कि शासन और गैर–शासकीय संस्थाएँ मिलकर शिक्षा में सार्थक पहल कर सकती हैं। इस इकाई में इस साझेपन और उसकी सीमाओं पर भी विचार करेंगे।

पिछले दस वर्षों में शासन ने शालेय शिक्षण को सुधारने के लिए कई कदम उठाए हैं। इनमें से कुछ हैं – सेतु पाठ्यक्रम, एम.जी.एम.एल. कार्यक्रम और पोर्टा कैबिन कार्यक्रम। इनके बारे में भी हम पढ़ेंगे।

क्या आपने कभी इस तरह के वैकल्पिक कार्यक्रमों में भाग लिया था? अगर हाँ, तो उसके बारे में विस्तृत समालोचनात्मक विवरण लिखें। उसका उद्देश्य क्या था? उसमें क्या नया था? बच्चों व शिक्षकों पर उसका क्या प्रभाव था? उसका क्रियान्वयन कैसा रहा और उसमें क्या समस्याएँ आईं... इन पर प्रकाश डालें।

पठन सामग्री क्र. 14

होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम और प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम

अध्याय की रूपरेखा

सामान्य परिचय

अध्याय के उद्देश्य

विषयवस्तु के शीर्षक–उपशीर्षक

1. होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम
   - हो.वि.शि.का. के प्रमुख पहलू
   - 1972–1992 के बीच किए गए काम की मुख्य विशेषताएँ
   - हो.वि.शि.का. का विस्तार
   - क्रियान्वयन की समस्याएँ और कार्यक्रम बन्द होने के मुख्य कारण
2. प्राशिका (प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम)
   - मान्यताएँ व सिद्धान्त
   - शिक्षार्थी
   - पाठ्यक्रम और पाठ्यसामग्री
   - शिक्षक
   - मूल्यांकन
   - पाठ्यचर्या
   - शिक्षक प्रशिक्षण

अभ्यास कार्य

दत्त कार्य

परियोजना कार्य

सहायक पठन सामग्री

अध्याय के उद्देश्य

1. भारत में हुए कुछ प्रमुख नवाचारी प्रयोगों के बारे में जानना।
2. पठन–पाठन के नवाचारी तरीकों से साक्षात्कार।
3. हो.वि.शि.का. द्वारा स्कूली विज्ञान शिक्षण में दी गई नई दिशा को समझना।
4. नवाचारी प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम की मूल मान्यताओं व सिद्धान्तों को जानना।
5. यह देखना कि किसी गैर–सरकारी संगठन की शासकीय स्कूली शिक्षा तंत्र में किस तरह की भूमिका हो सकती है।

1. होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम (होविशिका)

भारत में विज्ञान शिक्षा में परिवर्तन की सम्भावनाओं को उजागर करने के साथ–साथ परिवर्तन की दिशा व उसके क्रियान्वयन के विभिन्न आयामों के सन्दर्भ में काम करने की ज़रूरत साठ के दशक में महसूस की गई। इसी दौरान 1972 में मध्य प्रदेश में दो स्वैच्छिक संस्थाओं – किशोर भारती और फ्रेंड रूरल सेंटर ने राज्य शासन के समक्ष सरकारी मिडिल स्कूलों में विज्ञान शिक्षा में नवाचार करने का प्रस्ताव दिया जिसे शासन ने मंजूरी दे दी।

उपर्युक्त प्रस्ताव के आधार पर होशंगाबाद जिले के 16 स्कूलों के शिक्षक, टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फंडामेंटल रिसर्च के वैज्ञानिक, ऑल इंडिया साइंस टीचर्स एसोसिएशन के सदस्य तथा दिल्ली विश्वविद्यालय के अध्यापक दोनों संस्थाओं द्वारा उपलब्ध कराए गए मंच पर साथ आए। यहीं से शुरुआत हुई एक शैक्षणिक जश्न की जिसमें लोगों ने मिलकर विज्ञान शिक्षा को बच्चों के लिए एक सार्थक व आनन्ददायी अनुभव बनाने के लिए प्रयास किए।

होविशिका (होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम) की सबसे बड़ी खूबी और उपलब्धि यही है कि इसने समूचे देश में शिक्षा के क्षेत्र में सृजनात्मक ऊर्जा को मुक्त किया और उसे एक मंच दिया। इस कार्यक्रम में शामिल हर व्यक्ति सीखने–सिखाने की एक मिली–जुली प्रक्रिया में भागीदार रहा। खोज व पर्यावरण पर

आधारित इस कार्यक्रम में बच्चे अपने पर्यावरण से अन्तर्क्रिया करते हुए प्रयोग करके ऐसी परिकल्पनाएँ गढ़ते थे जिनको वे जाँच सकें। यह सम्भवतः पहली बार था कि माध्यमिक कक्षाओं में बच्चे रटन्त प्रणाली से मुक्त, टोलियों में बैठकर प्रयोग करते थे, उनका विश्लेषण करके निष्कर्ष निकालते थे, विज्ञान के सिद्धान्त सीखते थे और मज़ा करते थे।

होविशिका के प्रमुख पहलू

होविशिका के पाठ्यक्रम व उसके विकास के प्रमुख मुद्दे निम्नलिखित थे –

1. पाठ्यक्रम गतिविधि आधारित हो, जिसमें बच्चे खुद प्रयोग करें। केवल शिक्षक द्वारा प्रयोग करके दिखा देने से काम नहीं चलेगा बच्चे आपस में प्रयोग करके चर्चा करें। इस आपसी चर्चा से बच्चे धीरे–धीरे विज्ञान के सिद्धान्त निकालें और वैज्ञानिक सिद्धान्तों की ओर बढ़ें।
2. पाठ्यक्रम बच्चों के पर्यावरण से सम्बन्धित होना चाहिए। स्कूली शिक्षण को पर्यावरण से जोड़ने के लिए परिभ्रमण को पाठ्यक्रम का अंग बनाया जाए।
3. बच्चों में अध्याय के उद्देश्य की समझ बनें, साथ ही उससे जुड़ी अन्य बातों पर भी विचार व अध्ययन करें और खोजबीन की प्रक्रिया को पकड़ें।
4. पाठ्यक्रम का एक अहम हिस्सा यह था कि बच्चे अपने शब्दों में अपने अनुभवों को व्यक्त करें तथा प्रयोग के पश्चात प्रश्नों के उत्तर बच्चे खुद अपने शब्दों में लिखें ना कि शिक्षक द्वारा यह कह दिया जाना कि इस पाठ से हमने यह सीखा है।
5. पाठ्यक्रम में इस बात पर भी ज़ोर दिया गया कि हाथों के कौशलों का विकास हो और बच्चे खुद से प्रयोग सामग्री बनाएँ।
6. पाठ्यक्रम में आँकड़ों के महत्व पर काम किया गया, जैसे– आँकड़े क्या होते हैं? कैसे इकट्ठा किए जाते हैं? और कैसे उनका विश्लेषण कर व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया जाता है आदि।
7. पाठ्यक्रम में समूहीकरण की प्रक्रिया व उसके उपयोग पर काफी ज़ोर दिया गया है।
8. प्रयोग व गतिविधि आधारित पाठ्यक्रम का एक महत्वपूर्ण अंग किट होता है।
9. छात्रों का मूल्यांकन भयमुक्त वातावरण में खुली पुस्तक परीक्षा तथा प्रयोग विधि से किया जाएगा।
10. कार्यक्रम के हर पक्ष के विकास में माध्यमिक शाला के शिक्षकों की सघन भूमिका रहेगी और एक अनुभवी स्रोत शिक्षकों की टीम तैयार की जाएगी जो कार्यक्रम के बारे में सोच–विचार करके निर्णय लें और क्रियान्वयन में मदद करें।
11. सारे सम्बन्धित शिक्षकों को सघन प्रशिक्षण दिया जाएगा जिसमें उन्हें वह अनुभव दिया जाएगा जो कक्षा संचालन में उनकी मदद करे।
12. पूरे कार्यक्रम को क्रियान्वित करने के लिए एक लचीला प्रशासनिक ढाँचा बनाया जाए।

1972–2002 के बीच किए गए काम की मुख्य विशेषताएँ

1. **नवाचार पाठ्यक्रम एवं शिक्षण सामग्री का सतत् विकास–** शिक्षकों तथा छात्रों द्वारा दी गई प्रतिक्रियाओं के आधार पर पाठ्य–कार्यपुस्तिकाओं में कई संशोधन किए गए। पाठ्यक्रम बच्चों के अनुकूल बातचीत की शैली के आधार पर बनाया गया। पुस्तकों में आम शब्दों तथा बच्चों के परिचित शब्दों का प्रयोग किया गया और आवश्यकतानुसार धीरे–धीरे बच्चों के समक्ष मानक शब्दावली प्रस्तुत की गई। बच्चों को आकर्षित करने के लिए पुस्तकों को डिज़ाइन किया गया।

2. **शिक्षक प्रशिक्षण–** प्राथमिक स्तर पर बड़ी संख्या में विज्ञान के शिक्षकों में विज्ञान से सम्बन्धित प्रयोग तथा अवधारणा सम्बन्धी प्रशिक्षण का अभाव था। इसके लिए इस कार्यक्रम के अन्तर्गत तीन सप्ताह का पुनः उन्मुखीकरण/प्रशिक्षण आयोजित किया गया। इसमें शिक्षकों में अवधारणात्मक समझ, प्रयोग, गतिविधियाँ, विश्लेषण, विमर्श, निष्कर्ष तक पहुँच आदि बिन्दु शामिल थे। साथ ही शिक्षकों में चर्चा के माध यम से सामाजिक, दार्शनिक, शिक्षा शास्त्रीय तथा विषय सम्बंधी पहलुओं की समझ विकसित करने की कोशिश की गई। शिक्षकों को प्रायोगिक तथा खुली पुस्तक सम्बंधी मूल्यांकन पद्धति तथा नए प्रश्न निर्माण का भी प्रशिक्षण दिया गया।

3. **स्कूलों में अकादमिक सहयोग–** अकादमिक सहयोग के लिए केवल एक बार शिक्षकों का प्रशिक्षण पर्याप्त नहीं था। इसलिए कार्यक्रम के अन्तर्गत स्कूल स्तर पर अकादमिक तथा अन्य मुद्दों पर सहयोग करने के लिए सतत् सीखने का वातावरण तैयार किया गया। इसमें सहजकर्ता शिक्षक को नियमित रूप से स्कूल जाना, शिक्षकों को अकादमिक सहयोग पहुँचाना तथा साथ ही ब्लॉक स्तर पर प्रत्येक माह शिक्षकों की एक बैठक करनी थी जिसमें शिक्षकों के अनुभवों को सुनना तथा उनकी समस्याओं पर चर्चा करना था।
4. **स्रोत समूह तैयार करना–** इस कार्यक्रम के तहत 200 मिडिल तथा सेकेंडरी शिक्षकों का एक स्रोत समूह तैयार किया गया, जिनसे शिक्षकों को मार्गदर्शन करने में तथा बाल वैज्ञानिक पुस्तक को विकसित करने में सहयोग लिया गया। साथ ही उनकी भूमिका शिक्षक–सहजकर्ता की मासिक बैठक, वार्षिक मूल्यांकन के टेस्ट पेपर, मूल्यांकन दिशा–निर्देश तैयार करना आदि में भी थी।
5. **परीक्षा प्रणाली एवं मूल्यांकन पद्धति में सुधार–** जैसा कि शिक्षा में कौशल–दृष्टिकोण विकास, समस्या समाधान क्षमता तथा अवधारणात्मक समझ विकसित करना हो.वि.शि.का. का मुख्य उद्देश्य था इसलिए मूल्यांकन पद्धति का आधार ये ही थे।
6. **स्कूलों के लिए किट सामग्री उपलब्ध करना–** हो.वि.शि.का. ने इस मिथक को गलत साबित किया कि गरीब देशों में प्रायोगिक आधार पर विज्ञान शिक्षण काफी महँगा होता है। इसके लिए इस कार्यक्रम में कम खर्च पर वैज्ञानिक उपकरणों का विशेष विज्ञान किट बनाया गया।
7. **शैक्षणिक एवं प्रशासनिक संरचना तैयार करना–** इस कार्यक्रम के तहत एक प्रशासनिक विकेन्द्रीकृत संरचना तैयार की गई। इसमें स्कूल प्रबन्धन के कार्य संशोधित किए गए, जैसे– बच्चों को पारम्परिक तरीके से हटाकर 4 के समूह में बिठाना, समय सारणी में बदलाव, ब्लॉक, ज़िला तथा राज्य स्तर पर समन्वय केन्द्र बनाए गए। इससे बच्चों की आपस में बातचीत तथा समझ–साझेकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा मिला। साथ ही शिक्षकों की बच्चों के समूह में सहजकर्ता के रूप में छवि बनी तथा आपसी समन्वय को बढ़ावा मिला।
8. **अध्ययन सहगामी प्रयास–** इस कार्यक्रम के अन्तर्गत बच्चों को कक्षा के बाहर सीखने के अवसर बढ़ाने के लिए अलग तरह के अध्ययन सहगामी के प्रयास किए गए, जैसे– बच्चों की मासिक पत्रिका (चकमक) का प्रकाशन, पुस्तकालय का संचालन, बाल मेला, प्रदर्शनी आदि।

होविशिका का विस्तार

हो.वि.शि. कार्यक्रम के 30 साल के सफर को 4 चरणों में बाँटा जा सकता है –

चरण 1 (1972–77)– कार्यक्रम के प्रथम चरण में ग्रामीण क्षेत्रों के 16 स्कूलों का चयन किया गया तथा उपयुक्त विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम का क्रियान्वयन किया गया।

चरण 2 (1977–83)– सोलह स्कूलों के सघन दौरे के बाद 1978 में कार्यक्रम को होशंगाबाद ज़िले के समस्त (206) मिडिल स्कूलों में फैलाया गया। ज़िला स्तर पर विस्तार का उद्देश्य स्कूल प्रणाली में नवाचार प्रणाली को स्थान देना था। इस दौरान महत्वपूर्ण कार्य इकाइयों में परिचालन समूह, सहजकर्ता समूह, शैक्षिक सेल का निर्माण किया गया था।

चरण 3 (1983–90)– दूसरे चरण के उद्देश्य को आगे बढ़ाते हुए इस चरण में नवाचार प्रणाली के सूक्ष्म स्तर के प्रयोग से हटकर बड़े स्तर पर प्रयोग किए गए। इसी दौरान एकलव्य संस्था की भी स्थापना हुई।

चरण 4 (1990 से 2002)– कार्यक्रम के चौथे एवं आखिरी चरण में नवाचार प्रणाली को राज्य और राष्ट्रीय स्तर पर वैचारिक स्तर पर फैलाया गया।

आखिरी चरण तक कार्यक्रम प्रदेश के 15 ज़िलों के 800 से ज़्यादा स्कूलों तक पहुँच चुका था जिसमें लगभग 3000 शिक्षक सहभागी थे। इसी समय 200 शिक्षकों का एक स्रोत दल भी उभरा था जो अन्य शिक्षकों को प्रशिक्षण देने में सक्षम था।

क्रियान्वयन की समस्याएँ और कार्यक्रम के बन्द होने के मुख्य कारण

हो.वि.शि. कार्यक्रम की प्रक्रिया में कई द्वन्द्व रहे हैं, जैसे— मिडिल स्कूल तक गरीब परिवार के बच्चों का न पहुँच पाना, कार्यक्रम का केवल विज्ञान विषय तक सीमित हो जाना, वैज्ञानिक मानसिकता का कक्षा के बाहर समाज में न पनप पाना।

जुलाई 2002 को मध्य प्रदेश सरकार ने 30 सालों से चले आ रहे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता प्राप्त शिक्षा के नवाचार हो.वि.शि. कार्यक्रम को बन्द करने का निर्णय लिया।

इस कार्यक्रम के क्रियान्वयन में कई समस्याएँ आईं। कुछ कार्यक्रम की सीमा के कारण थे। कुछ शासकीय तंत्र के जड़त्व के कारण थे और कुछ समाज में व्याप्त पूर्वाग्रहों के कारण थे।

होविशिका मूलतः माध्यमिक कक्षाओं के लिए बना था। अतः प्राथमिक स्तर और उच्च माध्यमिक स्तर पर इसका जुड़ाव नहीं था। चूँकि प्राथमिक स्तर से जो बच्चे आ रहे थे वे पढ़ने–लिखने तथा गणित में कमज़ोर थे, तो कार्यक्रम की कई अपेक्षाएँ उनके लिए कठिन थीं। इसी तरह ये बच्चे जब उच्च माध्यमिक कक्षाओं में जाते थे तो वहाँ उन्हें पुरानी रटन्त पद्धति से पढ़ना पढ़ता था। इस विसंगति से बच्चे खास परेशान थे। उनमें यह भय भी उत्पन्न होने लगा था कि वे दूसरों से पिछड़ जाएँगे।

कार्यक्रम के सफल क्रियान्वयन के लिए ज़रूरी था कि शाला नियमित लगे, किट सामग्री उपलब्ध रहे, और शिक्षक बच्चों की टोलियाँ बनवाकर प्रयोग करवाएँ और चर्चा आदि करवाएँ। लेकिन बहुत–सी शालाओं में यह विभिन्न कारणों से सम्भव नहीं था। यही नहीं कई शालाओं की कक्षाओं में छात्रों की संख्या बहुत अधिक थी और शिक्षक वहाँ प्रयोग नहीं करवा पाते थे।

यह कार्यक्रम प्रयोग के तौर पर एक ज़िले में चल रहा था जबकि बाकी ज़िलों में पुराने तरीके से विज्ञान पढ़ाया जाता था। इस कारण पालकों में काफी तनाव था कि कहीं उनके बच्चों के भविष्य पर इसका बुरा असर तो नहीं होगा। अतः वे बार–बार आग्रह करते थे कि इसे या तो पूरे प्रदेश में लागू किया जाए या फिर बन्द ही किया जाए। चूँकि इस कार्यक्रम को पूरे प्रदेश में लागू करने के लिए ज़रूरी वित्तीय और मानवीय संसाधन उपलब्ध नहीं थे तो राज्य शासन इसे फैला नहीं सकी। इस कारण भी पालकों में काफी असन्तोष बना। इसके अलावा आम लोगों के मन में विज्ञान के बारे में कुछ धारणाएँ थीं कि विज्ञान अत्याधुनिक उपकरणों के बिना नहीं पढ़ाया जा सकता है। जब होविशिका में बच्चों को आसपास के पर्यावरण से तथा घरेलू सामान के माध्यम से पढ़ाया जाता था, तो कई पालकों को लगता था कि यह उचित नहीं है।

इस तरह पालकों व शासकीय समस्याओं के चलते यह कार्यक्रम अन्ततः 2002 में बन्द किया गया। लेकिन देशभर के वैज्ञानिकों व शिक्षाविदों ने इसका तीखा विरोध किया।

आपने जिस तरह से विज्ञान पढ़ा और होविशिका के तरीकों में क्या अन्तर है?

कक्षा में प्रयोग के माध्यम से विज्ञान पढ़ाने से बच्चों के सीखने पर क्या असर पड़ेगा?

अगर सब बच्चों से प्रयोग करवाना है तो शिक्षक को क्या समस्याएँ होंगी?

एक नवाचारी कार्यक्रम को पूरे प्रदेश में लागू करने में किस तरह की चुनौतियाँ हैं?

2. प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम (प्राशिका)

प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम यानी प्राशिका का सूत्रपात वर्ष 1983 में हुआ था। कार्यक्रम के बीज उन चर्चाओं के दौरान पड़े थे जो होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम (होविशिका) में जुड़े समूह के कुछ सदस्यों और दिल्ली विश्वविद्यालय के भाषाविज्ञान विभाग के कुछ शिक्षकों व छात्रों के बीच हुई थीं। मिडिल स्कूल के बच्चों में पढ़कर समझने व लिखने के हुनर का जो स्तर था उसे लेकर गहरी चिन्ता, या यों कहें कि निराशा थी। यह साफ था कि इन छात्रों की भाषाई क्षमताएँ बढ़ाने के लिए संजीदा प्रयास करने होंगे। इस बात से सभी इत्तफाक रखते हैं कि छठी कक्षा के एक बारह वर्षीय छात्र में इतनी न्यूनतम क्षमता होनी चाहिए कि वह सरल हिन्दी के किसी पाठ को अपने आप पढ़–समझ सके और समुचित व सुसंगत ढंग से अपने आपको व्यक्त कर सके। वर्ष 1987 में 7 स्कूलों में कक्षा 1 में शासकीय पाठ्यक्रम के स्थान पर प्राशिका कार्यक्रम लागू

किया गया – 4 स्कूल शाहपुर में थे तथा 3 स्कूल हरदा में। 1994 में इसे पूरे शाहपुर विकासखण्ड में लागू किया गया और मध्य प्रदेश के 'सीखना–सिखाना' कार्यक्रम में सम्मिलित किया गया।

प्राशिका की दुनिया – प्राशिका एक ऐसा अनूठा उदाहरण है जिसमें बच्चों, शिक्षकों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, विश्वविद्यालयों के छात्रों, शिक्षकों, शिक्षाविदों व प्रशासन का सक्रिय व उत्पादक योगदान रहा। उपरोक्त सर्वेक्षण तथा कार्यक्रम का भावी विकास इन सब लोगों के बीच गतिशील व निरन्तर सम्पर्क–सहयोग की बदौलत ही सम्भव हुआ। वर्ष 1986–92 के दरम्यान प्राशिका ने इन स्कूलों में जो कुछ किया, उसकी कहानी आगे दी गई है।

मान्यताएँ व सिद्धान्त

प्राशिका में शिक्षार्थी तथा उनके सीखने की प्रवृत्ति, पाठ्यक्रम, पाठ्यसामग्री, शिक्षकों एवं मूल्यांकन सम्बन्धी कुछ मान्यताएँ व सिद्धान्त निहित थे, जो इस प्रकार हैं–

शिक्षार्थी–

शिक्षार्थी अर्थात् बच्चों के सम्बन्ध में निम्नांकित मान्यताएँ व सिद्धान्त इस कार्यक्रम के मूल में थे–

–हर बच्चे में ज्ञान अर्जित करने की अनन्त क्षमता होती है।

–स्कूल में बच्चे काफी ज्ञान से लैस होकर पहुँचते हैं। यह ज्ञान, सारे सीखने की बुनियाद है।

–रचनात्मक व सार्थक शिक्षण तभी सम्भव है जब बच्चों व शिक्षक के बीच गतिशील अन्तर्क्रिया हो। यह समझना गलत है कि बच्चे खाली घड़े हैं जिनमें ज्ञान भरा जाना है।

–यह ज़रूरी है कि बच्चे की प्रकृति का आदर किया जाए।

प्रश्न पूछने के अलावा बच्चों के पूर्वज्ञान का आकलन कैसे कर सकते हैं?

सीखने की प्रवृत्ति

– सीखना कोई ऐसी कतारबद्ध प्रक्रिया नहीं है जिसमें एक के बाद एक चीज़ें निश्चित क्रम में जुड़ती जाएँ। यह हमेशा उपयुक्त नहीं होता कि किसी जटिल चीज़ को टुकड़ों में बाँटकर चरण दर चरण सिखाया जाए और उम्मीद की जाए कि सारे टुकड़ों को अलग–अलग सीखने की इस प्रक्रिया से पूरी चीज़ की समझ आ जाएगी।

– सामूहिक चिन्तन, सामूहिक विचार–विमर्श तथा तार्किक व्याख्या तलाश करने की प्रक्रिया से उम्दा शिक्षण हो सकता है।

– इनपुट व आउटपुट के बीच तत्काल किसी कार्यकारण सम्बन्ध की उम्मीद करना खतरनाक है। बच्चों के सीखने की रफ्तार में काफी अन्तर होता है। उनके सीखने के रास्ते कई बार एक जैसे होते हैं। बच्चा/बच्ची जो भी सीखेगा/सीखेगी उसमें अपना नवाचार ज़रूर जोड़ देगा/देगी।

– गलतियों को भटकाव न मानकर सीखने की प्रक्रिया का अनिवार्य कदम मानना चाहिए।

– सीखने का काम सीखने वाले के सामाजिक–सांस्कृतिक परिवेश से जुड़ा होता है। शिक्षण में सन्दर्भयुक्त से सन्दर्भमुक्त सामग्री की ओर क्रमिक विकास होना चाहिए।

अगर 'सीखना कोई ऐसी कतारबद्ध प्रक्रिया नहीं है' तो शिक्षक क्या तरीके अपनाएँ?

'गलतियाँ सीखने की प्रक्रिया का अनिवार्य कदम हैं' तो बच्चों की गलतियों पर शिक्षक का क्या रुख होना चाहिए?

पाठ्यक्रम एवं पाठ्यसामग्री

– सीखने वाले की ज़रूरतें और आकांक्षाएँ पाठ्यक्रम निर्माण प्रक्रिया की मूल बिन्दु हैं।

– सीखने में संज्ञानात्मक तत्वों का एक निश्चित क्रम होता है। पाठ्यक्रम का तालमेल बच्चे की संज्ञान सम्बन्धी अवस्था से होना चाहिए।

– पाठ्यक्रम में जानकारी या हुनर रूपी उत्पाद की बजाय प्रक्रिया पर बल दिया जाना चाहिए। इससे बच्चे को मात्र जानकारी रटने की बजाय उसे समझने में मदद मिलेगी। इससे बच्चे में विश्लेषण का हुनर भी विकसित होगा।

– एक मायने में ज्ञान एकीकृत होता हे। इस ज्ञान का विभिन्न 'विषयों' में विभाजन बनावटी है। एक ही सामग्री का उपयोग प्रायः कई मकसद से किया जा सकता है, जैसे– भाषा सम्बन्धी हुनर का उपयोग गणितीय कौशल के विकास या सामाजिक जागरूकता के विकास हेतु किया जा सकता है।

– पाठ्यक्रम में गतिशीलता होनी चाहिए। पाठ्यक्रम मात्र निर्धारित पाठ्यपुस्तकों से बँधा न हो। इसमें स्कूल के बाहर की दुनिया के लिए भी स्थान होना चाहिए और बच्चे व शिक्षक की सृजनशीलता के लिए भी।

– पाठ्यसामग्री बच्चों के संज्ञान स्तर की हो तथा उसमें भावी विकास के लिहाज़ से पर्याप्त चुनौती हो।

– जानकारी–आधारित सामग्री तोता रटन्त को बढ़ावा देती है और सीखने की प्रक्रिया में बाधा बनती है।

– सामग्री ऐसी हो जो बच्चों के परिवेश, उनकी संस्कृति व उनके इतिहास के प्रति संवेदनशील हो। अलग–अलग क्षेत्रों के बच्चों की रूचियाँ और पूर्व अनुभव अलग–अलग हो सकते हैं। सामग्री में ऐसी गुंजाइश होनी चाहिए कि उसे परिस्थिति के अनुरूप ढाला जा सके।

– फंतासी, हास्य तथा शब्दों से खिलवाड़ सीखने की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं तथा सामग्री का निर्माण करते समय इन्हें अछूत नहीं माना जाना चाहिए।

– पत्थर, बीज, टहनी, रेत, पानी जैसी कुदरती रूप से उपलब्ध सामग्री का इस्तेमाल करना ज़रूरी है। इसी प्रकार से समुदाय विशेष में प्रचलित कविताओं, कहानियों, पहेलियों, मुहावरों आदि का भी इस्तेमाल किया जा सकता है। जो भी नई सामग्री जोड़ें वह सस्ती, आसानी से उपलब्ध, लचीली तथा बारम्बार उपयोग के लायक होनी चाहिए।

– किसी भी सामग्री की सम्भावनाओं की छानबीन सावधानीपूर्वक की जानी चाहिए। एक ही सामग्री–सेट से कई उद्देश्य पूरे किए जा सकते हैं।

– सामग्री में काफी लचीलापन निहित हो ताकि विभिन्न क्षमताओं वाले बच्चे अलग–अलग बिन्दुओं से शुरू करके इनका उपयोग कर सकें। सामग्री ऐसी हो कि बच्चे बार–बार आसान व बुनियादी अवधारणाओं के सम्पर्क में आ सकें।

क्या प्राथमिक स्तर पर शिक्षण भाषा, गणित आदि विषयों पर आधारित होना चाहिए या मिला–जुला होना चाहिए, अपना मत दीजिए।

पत्थर, बीज, टहनी, रेत, पानी जैसी सामग्री क्या उपयुक्त शिक्षण सामग्री हो सकती है?

शिक्षक

– यदि अवसर मिले तो शिक्षक आश्चर्यजनक रूप से नवाचारी और सृजनशील हो सकते हैं। उन्हें कठोरता से निर्धारित कार्यक्रम में नहीं बाँधा जाना चाहिए।

– शिक्षा से जुड़े सभी मुद्दों पर शिक्षकों का योगदान प्राप्त किया जाना चाहिए और उसका सम्मान किया जाना चाहिए। पाठ्यक्रम, शिक्षण सामग्री व शिक्षण पद्धति के नियोजन में उनका हाथ होना चाहिए।

– शिक्षकों को नए विचारों, पद्धतियों व सामग्रियों से परिचित कराने तथा उनके अनुभवों से सीखने के लिए ज़रूरी है कि प्रशिक्षण भागीदारीपूर्ण तथा अन्तर्क्रिया पूर्ण (दो तरफा अन्तर्क्रिया पूर्ण) हो।

– शिक्षक की भूमिका मूलतः मददगार की होनी चाहिए।

मूल्यांकन

– मूल्यांकन या आकलन समग्र होना चाहिए। इसमें सीखने–सिखाने से सम्बन्धित हर पहलू शामिल होना चाहिए, न कि मात्र सीखने वाले।

– मूल्यांकन से हमें शिक्षार्थी व शिक्षक की क्षमताएँ व कमज़ोरी दोनों समझने में और तदानुसार शिक्षण सामग्री व कार्यक्रम के नियोजन में मदद मिलनी चाहिए।

– मूल्यांकन ऐसा न हो कि शिक्षार्थी डर जाए। उसे अपने बचाव का पूरा अवसर मिलना चाहिए। मूल्यांकन पीड़ादायक नहीं, खुशनुमा और दोस्ताना प्रक्रिया होनी चाहिए।

– एकमुश्त सालाना इम्तिहान प्रणाली भयावह बन ही जाती है। समय–समय पर विभिन्न सामान्य गतिविधियाँ, सामूहिक चर्चा, घर पर करने के कार्य आदि मूल्यांकन के आधार बनने चाहिए।

– मूल्यांकन का मकसद बच्चों को रोकना नहीं होना चाहिए। सतत् मूल्यांकन पाठ्यक्रम में निहित फीडबैक का आधार बन सकता है।

– बच्चे का मूल्यांकन हमेशा किसी बाहरी कसौटी के आधार पर नहीं किया जाना चाहिए। मूल्यांकन का आधार उसका अपना विगत प्रदर्शन और पूरी कक्षा का प्रदर्शन होना चाहिए।

– कई बच्चे किसी एक पहलू में 'कमज़ोर' होते हैं मगर हो सकता है कि वे किसी अन्य पहलू में 'मजबूत' साबित हों। कोई बच्चा/बच्ची अगर समस्याएँ सुलझाने में सिद्धहस्त हो सकता/सकती है तो कोई अन्य चित्र बनाने या कहानी कहने में।

– मूल्यांकन के लिए जो गतिविधियाँ चुनी जाएँ वे आम तौर पर कक्षा में की जाने वाली गतिविधियों से अलग तो हों, मगर उसी स्तर और उसी किस्म की हों।

मूल्यांकन के ये विचार क्या वास्तव में उपयोग किए जा सकते हैं? कौन–से विचार आपको अप्रासंगिक लगते हैं?

पाठ्यचर्या

प्राशिका की पाठ्यचर्या एक ऐसी धुरी थी जिसके इर्द–गिर्द कार्यक्रम के शेष पहलू निर्मित थे। इसे बनाने की प्रक्रिया में स्कूलों की भौतिक परिस्थितियों, मौसमों के वार्षिक चक्र, कृषि व वाणिकी कार्य और त्यौहारों, बच्चों व शिक्षकों की सांस्कृतिक व सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि का ध्यान रखा गया था और इसके अलावा बाल विकास, भाषा सीखने, गणित आदि के बारे में जो आधुनिक विचार हैं, उनका उपयोग पाठ्यक्रम में किया गया था।

वर्ष 1986 से 1992 के दरम्यान प्राशिका में कक्षा 1 से 2 का कक्षावार पाठ्यक्रम विकसित किया गया। पाठ्यक्रम दो हिस्सों में बँटा था – कक्षा 1 व 2 का पाठ्यक्रम एक हिस्सा और कक्षा 3, 4 व 5 का पाठ्यक्रम दूसरा हिस्सा था। दोनों हिस्सों की संकल्पना अलग–अलग ढंग से की गई थी। अतः दोनों हिस्सों की सामग्री विषयवस्तु व स्वरूप के लिहाज़ से अलग–अलग किस्म की थी। प्राशिका के सामने सबसे पेचीदा समस्या यह रही कि कैसे एक ओर हुनर–समूहों (कक्षा 3 से 5 तक के पाठ्यक्रम को विषयों के रूप में नहीं बल्कि हुनर के रूप में परिभाषित किया गया था) के आधार पर एक पाठ्यक्रम बनाया जाए और फिर उसके आधार पर अलग–अलग विषयों की स्थापना की जाए। यह सही है कि कुछ बुनियादी हुनर ऐसे हैं जो विषयगत सीमाओं से स्वतंत्र हैं मगर साथ ही हर विषय की दुनिया को समझने की अपनी विशिष्ट मूल अवधारणाएँ भी हैं।

इस हुनर–आधारित पाठ्यक्रम में उम्मीद यह थी कि कक्षा 5 के अन्त तक बच्चे इन कौशलों का 'अभ्यास' कर चुके होंगे। लक्षित–स्तर को भी जानकारी या 'ज्ञान' के स्तर के रूप में परिभाषित न करके, प्रक्रियाओं व गतिविधियों के रूप में ही परिभाषित किया गया था। वास्तव में ऐसी कोई अपेक्षा नहीं थी कि 'बच्चा जान जाएगा कि... वगैरह...।'

सामग्री का निर्माण, प्रशिक्षण का डिज़ाइन तथा स्कूलों में क्रियान्वयन का काम ऐसी बातों पर आधारित रहा है, जैसे– ज़्यादा 'प्रासंगिक' जानकारी किसे माना जाए, कितनी जानकारी 'बाहरी स्त्रोतों' से दी जाए और कितनी जानकारी 'स्वरचित' हो, या क्या किसी विषय–विशेष में खोज पद्धति हेतु किस जानकारी विशेष की ज़रूरत है।

प्राशिकानुमा नज़रिए में महज़ जानकारी के लिए जानकारी देने के खिलाफ एक स्पष्ट रुझान था। बगैर समझे याद की गई जानकारी को उपलब्धी का सूचक नहीं माना गया। क्योंकि जानकारी और विवरण इसी हद तक महत्व रखते हैं कि इनसे अवलोकन, समझ व विश्लेषण के हुनर को पैना बनाने में मदद मिलती है। ये वे हुनर हैं जिनकी मदद से बच्चे आगे की कक्षाओं में ज़्यादा अमूर्त विचारों को पकड़ सकेंगे। ये हुनर उन बच्चों के लिए भी स्वतः शिक्षण में मददगार होंगे जो कक्षा 5 के बाद स्कूल छोड़ देंगे। इस पद्धति का एक फायदा यह भी है कि इससे बच्चों में विभिन्न विषयों के परस्पर सम्बन्धों का एहसास बनता है।

प्राशिका में सृजनात्मक और 'गैर–कामकाजी' क्षमताएँ या हुनर विकसित करने का प्रयास था। ये हुनर

कहानियों में फंतासी भी हो सकता है और संख्याओं के विन्यास (पैटर्न) की खोज का भी हो सकता है। इससे भी ज़्यादा महत्वपूर्ण बात यह कि प्राशिका में शिक्षार्थी की सोच व चिन्तन को बहुत महत्व दिया गया। यह तत्व पाठ्यक्रम के हर पहलू में तथा सामग्री में झलकता है।

स्कूलों में जिस तरह से 'विषयों' की सीमाओं में 'जानकारी' और 'ज्ञान' पर ज़ोर दिया जाता है, उससे हटकर प्राशिका में ऐसे हुनर, क्षमताओं और उद्देश्यों पर ज़ोर दिया गया जो उन विषयों के मूल में हैं और जो उन विषयों को आपस में जोड़ते हैं। मिसाल के तौर पर अभिव्यक्ति व मुखरता सम्बन्धित खण्ड में मात्र लिखित भाषा नहीं बल्कि मौखिक भाषा, हावभाव से अभिव्यक्ति, चेष्टाओं, भूमिका–निर्वाह, चित्रकारी आदि को भी शामिल किया गया। इसी प्रकार से अवलोकन और अवलोकनों की रिकॉर्डिंग में प्रकृति के अलावा सामाजिक परिघटनाओं या प्रयोग/गतिविधियों को शामिल किया गया। यह स्वतः स्पष्ट था कि ऊपर वर्णित नौ बिन्दुओं में भाषा, गणित, विज्ञान, समाज विज्ञान जैसे 'विषय' भी समा जाएँगे।

बहरहाल, यह उल्लेख करना ज़रूरी है कि कार्यपुस्तिका की किसी एक इकाई में या किसी एक गतिविधि में अलग–अलग किस्म और अलग–अलग स्तर के हुनर हो सकते हैं, अलग–अलग किस्म की जानकारी हो सकती है, इनके परस्पर सम्बन्धों की बात हो सकती है। ये सारे तत्व एक ही स्त्रोत से, आपस में गुंथे हुए उभरते हैं। उदाहरणार्थ, स्कूल व आसपास के क्षेत्र का नक्शा बनाने की गतिविधि में लम्बाई नापने, पैमाने की प्रारम्भिक अवधारणा, त्रिआयामी यथार्थ को दो आयामों में प्रस्तुत करने की अवधारणा, विभिन्न किस्म के पेड़, कीड़े–मकोड़ों और अन्य जीव–जन्तुओं का अध्ययन, गाँव के अलग–अलग मोहल्लों में रहने वाले विभिन्न समुदायों का स्थान, विभिन्न किस्म की ज़मीनें व उनकी मिल्कियत आदि सब कुछ शामिल हो सकता है। प्राशिका में एकीकृत शिक्षण की जो अवधारणा थी, यह उदाहरण उसके सबसे नज़दीक है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि प्राशिका में सीखने का यही एकमात्र ढंग है। ('विषयवार' वर्णन आगे किया गया है।) एकीकरण निम्नलिखित स्तरों पर किया गया था–

1. विषयगत सीमाएँ क्षीण हैं। हुनर को प्राथमिकता देने की वजह से ज्ञान की रूढ़िगत विभाजन रेखाएँ धूमिल पड़ गई हैं। मसलन जल चक्र, भोजन चक्र, कारखाना उत्पादन पद्धति आदि की प्रक्रियाओं के रेखाचित्र को वाक्यों के रूप में व्यक्त करने की क्षमता को भाषा या विज्ञान या यहाँ तक कि गणित (गणना के फ्लो चित्र) भी माना जा सकता है।

2. इसी प्रकार से स्कूली ज्ञान और स्कूल से बाहर के रोज़मर्रा के ज्ञान के बीच का विभाजन भी क्षीण है। हुनर का अभ्यास ऐसी चीज़ों पर किया जाता है जो 'बच्चे के परिवेश की हैं तथा उनके समाज में प्रासंगिक हैं।'

यानी प्राशिका का कक्षा 3 से 5 तक का पाठ्यक्रम हुनर आधारित व एकीकृत था जिसमें जानकारी को प्राथमिकता न दिए जाने के बावजूद बच्चों को सार्थक विषयवस्तु देने का प्रयास किया गया ।

प्राशिका के इन विचारों की समीक्षा कीजिए और बताइए कि इन्हें अपनी कक्षा में लागू करने में क्या समस्याएँ आएँगी?

शिक्षक प्रशिक्षण

प्राशिका एक खुले व लचीले पाठ्यक्रम की बात करता है। इसमें पाठ्यक्रम की एक मोटी–मोटी रूपरेखा ही निर्धारित की गई थी। ऐसे कोई विशिष्ट अभ्यास या चरण निर्धारित नहीं किए गए जो बच्चों को पढ़ने, सीखने या गणितीय हुनर हासिल करने में समर्थ बनाएँ। गतिविधियाँ और अभ्यास विकसित करना तथा ज़रूरत होने पर जानकारी देना शिक्षक को करना होता था और वे सक्षम थे। एक मायने में साथी पाठ्य सामग्री पुस्तक में नहीं दी गई थीं। जो कुछ पाठ्य सामग्री के माध्यम से पूरा किया जाता था उसमें शिक्षक जानकारी व ज्ञान के आंशिक स्त्रोत के बतौर कार्य करते थे। अपेक्षा की जाती थी कि शिक्षक विभिन्न गतिविधियाँ तैयार करेंगे, उनके क्रियान्वयन का ध्यानपूर्वक अवलोकन करेंगे और फीडबैक के आधार पर गतिविधियों में बदलाव व रद्दोबदल करेंगे। बच्चे के समान ही, शिक्षकों की सृजनशीलता में भी प्राशिका की गहरी आस्था थी। शिक्षक से उम्मीद थी कि वे सीखने वालों की सामान्य ज़रूरतों का आकलन भी करेंगे और साथ ही निजी विकास हेतु उपयुक्त अवसर भी उपलब्ध कराएँगे।

कार्यक्रम की अपेक्षा थी कि बच्चे सक्रिय रहें और कक्षा की गतिविधियों से सम्बन्धित निर्णयों में भागीदार हों। शिक्षक को सीखने की प्रक्रिया में भागीदार और मार्गदर्शक (अगुआ) साथ–साथ होना पड़ेगा। इसके लिए

उसे चित्र बनाने, गाने, खेलने, नकल उतारने आदि को लेकर जो झिझक है, उन्हें छोड़ना होगा। उसे बच्चों के मिज़ाज के प्रति संवेदनशील होना पड़ेगा तथा मुश्किल हालातों में भी सीखने को एक आनन्दायक व सार्थक गतिविधि बनाना होगा।

अभ्यास कार्य

1. होविशिका के ऐसे कौन से सिद्धान्त हैं जो दूसरे विषयों पर भी लागू कर सकते हैं?

2. विज्ञान शिक्षण प्रक्रिया में पाठ्यपुस्तकों की भूमिका की समालोचना कीजिए। पाठ्यपुस्तकों से इतर कौन–कौन सी सामग्री को पठन–पाठन सहज बनाने के लिए उपयोग किया जा सकता है?

3. बच्चों में विज्ञान की समझ बढ़ाने के लिए उन्हें प्रयोग करने देना क्यों ज़रूरी है?

4. कक्षा में बैठक के तरीके का पठन–पाठन से क्या रिश्ता है? उदाहरण सहित बताओ।

5. एक शिक्षक के नज़रिए से हो.वि.शि.का. की समीक्षा कीजिए।

6. विज्ञान पाठ्यपुस्तकों की समाग्री बच्चों के परिवेश, संस्कृति और इतिहास के प्रति संवेदनशील कैसे हो सकती है, अपने अनुभव के आधार पर कुछ उदाहरण दीजिए।

7. शिक्षक नए विचारों, पद्धतियों और सामग्री से परिचित होने के लिए स्वयं अपने स्तर पर क्या–क्या कर सकते हैं?

8. कक्षा में किसी बच्ची को सक्रिय बनाने के लिए शिक्षिका क्या–क्या कर सकती हैं?

9. किसी अवधारणा को सीखने में जब बच्चे बार–बार गलतियाँ करते हैं तो शिक्षक को क्या करना चाहिए?

दत्त कार्य

1. किसी ऐसे शिक्षण प्रशिक्षण कार्यक्रम या कार्यशाला का विवरण दें जिसमें आप प्रशिक्षणार्थी के रूप में शामिल हुए थे।

2. किसी कक्षा में बातचीत (शिक्षक–छात्र और छात्र–छात्र) का पठन–पाठन पर प्रभाव के विषय में एक निबन्ध लिखिए।

3. प्राशिका की मान्यताओं व सिद्धान्तों का विश्लेषण करते हुए बताएँ कि आप इनके बारे में क्या सोचते हैं?

4. प्राशिका की मान्यताओं व सिद्धान्तों का विश्लेषण करते हुए बताएँ कि 'सीखना' क्या है?

परियोजना कार्य

1. कक्षा तीन के कोई पाँच बच्चों को चुनें। उन्हें गणितीय क्रियाओं के सवाल (स्थानीय मान, हासिल के जोड़, हासिल के घटाव आदि) करने को दें। उनकी गलतियों का विश्लेषण करें और बताएँ कि बच्चे आम तौर पर किस–किस प्रकार की गलतियाँ करते हैं? (ऐसे बच्चों को चुनें जो आम तौर पर गलतियाँ करते हैं।)

2. प्राथमिक कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए मूल्यांकन के आदर्श आधारों की सूची बनाएँ और उनकी उपयोगिता व महत्व की कारण सहित व्याख्या कीजिए।

सहायक पठन सामग्री

1. जश्ने तालीम, सुशील जोशी, एकलव्य का प्रकाशन
2. प्राशिका, रत्ना सागर प्रकाशन दिल्ली
3. लोकतांत्रिक विद्यालय, एकलव्य का प्रकाशन

पठन सामग्री क्र. 15

लोक जुम्बिश : शैक्षिक प्रबन्धन का जनतंत्रीकरण

लोक जुम्बिश का आरम्भ 1992 में हुआ था। उसके मूल में राजस्थान में शिक्षा के परिदृश्य को बदल देने की साहसी दिशादृष्टि थी। यह स्वीडिश एजेंसी (सीडा), भारत सरकार और राजस्थान सरकार द्वारा समर्पित परियोजना थी। तीनों इसे 3:2:1 के अनुपात में धन समर्थन देते थे।

लोक जुम्बिश के सामने एक मुख्य चुनौती गाँव के लोगों को, विशेषकर औरतों को शिक्षा के क्षेत्र में लाना था। एक दूसरी बड़ी चुनौती थी ऐसी सार्थक शिक्षा प्रबन्ध प्रणाली का विकास जो संकीर्ण कठोरताओं और कमियों से बचकर चल सके।

जनता को शिक्षा के लिए संगठित करने में 'शाला का मानचित्रण (School Maping)' तकनीक लोक जुम्बिश का महत्वपूर्ण योगदान था। यह शुरुआत थी, जो लोक जुम्बिश कार्यकर्ताओं (या किसी स्थानीय गैर–सरकारी स्वयंसेवी संस्था) द्वारा समुदाय के उन लोगों से सम्पर्क साधने से आरंभ होती थी जो अपने गाँव में शिक्षा का स्तर उठाने में रूचि रखते थे। इन लोगों के समूह को ''प्रेरक दल'' कहा जाता था, और इन्हें शाला के मानचित्रण के काम की संक्षिप्त ट्रेनिंग दी जाती थी जिसे ये लोग लोक जुम्बिश कार्यकर्ताओं अथवा स्थानीय गैर–सरकारी स्वयंसेवी संस्था के साथ मिलकर करते थे। स्कूल मेपिंग का आशय गाँव के हर घर को एक सादे नक्शे पर दृश्यांकित करना था। इसे करते समय पूरे गाँव से सम्पर्क साधने का, बातचीत का अवसर रहता था। नक्शा तैयार हो जाने के बाद यह जानना आसान हो जाता था कि गाँव के किस परिवार को विशेष सहायता की आवश्यकता है तथा गाँव में किस तरह की स्कूली सुविधाओं की आवश्यकता है। प्रेरक दल तथा गाँव के लोग मिलकर इस मानचित्रीकरण से प्राप्त आँकड़ों के आधार पर प्रस्ताव तैयार करते थे। प्रायः ये प्रस्ताव दो मुद्दों से सम्बन्धित होते थे– नए स्कूलों तथा अनौपचारिक शिक्षा केन्द्रों की आवश्यकता तथा इस समय चल रहे संस्थानों में सुधार लाना। ये प्रस्ताव प्रखण्ड स्तर की समिति को भेज दिए जाते थे जो इस सम्बन्ध में स्वीकृति देने का अधिकार रखती थी।

इस प्रकार स्कूल मेपिंग तकनीक, एक सामान्य (अशिक्षित भी) गाँववासी को फील्ड सर्वेक्षण में भाग लेने का अवसर देती थी और वह भी सुधार के प्रस्ताव पेश कर सकता था। यह क्रिया अपने आप में व्यक्तित्व क्षमता निर्माण का बहुत बड़ा कार्यक्रम था। गाँव के समुदाय द्वारा तैयार किए गए प्रस्तावों पर तुरन्त एकमत होने से लोगों का आत्मविश्वास भी बढ़ता था।

'शाला के मानचित्रण' से आप क्या समझते हैं? यह शिक्षक के लिए किस तरह उपयोगी है?

स्कूल मेपिंग के साथ–साथ गाँव के स्तर पर सूक्ष्म नियोजन से गाँव के हर बच्चे के बारे में यह जानकारी लेना सम्भव हो जाता था कि प्राथमिक शिक्षा के मामले में उसकी भागीदारी का स्तर क्या है। लोक जुम्बिश कार्य–संस्कृति ब्लॉक स्तर पर ऊँचे स्तर की स्वायत्तता तथा आज़ादी पर बल देती थी। इससे स्थानीय स्तर पर कई प्रकार के नए–नए विचार आधारित कार्यक्रम व पहलकदमियाँ सम्भव हुईं हैं। उदाहरण के लिए, दो–तीन प्रखण्ड अधिकारियों ने एम.वी. फाउंडेशन कैम्पों में एक महीना बिताने के बाद, यह प्रस्ताव रखा कि उनके अपने प्रखण्डों में लड़कियों के लिए आवासीय कैम्प स्थापित किए जाएँ। इस पहलकदमी का इतना स्वागत हुआ कि एक समय में इस तरह के सोलह कैम्प स्थापित हो चुके थे। दूसरा उदाहरण, भरतपुर के कमन प्रखण्ड का है जहाँ मुसलमानों की बड़ी आबादी है और अनेक अभिभावक अपने बच्चों (विशेषकर लड़कियों) को इस कारण घरों में बैठाए रखते थे कि मौलवी लोग पढ़ाई को ठीक नहीं समझते थे। यहाँ प्रखण्ड अधिकारियों ने मौलवियों से बात करने की सोची और बातचीत के दौरान मालूम हुआ कि उन्हें कोई ऐतराज़ नहीं है पर वे अपने बच्चों को निम्न स्तर वाले स्कूलों में पढ़ने के लिए नहीं भेजना चाहते थे। उनकी शिकायत थी कि स्थानीय अध्यापक मुसलमानों के विरूद्ध भेदभाव बरतते हैं। मौलवियों की इच्छा थी कि उर्दू को भी पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया जाए। आज 120 गाँवों में से 84 गाँवों में सुचारू ढंग से संचालित स्कूल

हैं और मुसलमान बच्चे भी बड़ी संख्या में पढ़ते हैं। इस तरह की सफलताएँ अन्यत्र भी, इस प्रकार की पहलकदमियों और प्रयोगों को प्रेरणा देती हैं। लोक जुम्बिश प्रक्रिया से निरन्तर आकलन का तरीका अपनाकर उन्हें अधिक विकसित किया जा सकता है।

लोक जुम्बिश औरतों को शक्ति प्रदान करने पर भी बल देती थी। प्रेरक दल के साथ–साथ उन महिलाओं की भी पहचान की जाती थी जो गाँव में महिला समूह की अगुआई कर सकें। ये महिलाएँ लोक जुम्बिश के सारे विचार–विमर्श में भाग लेती थीं। महिला कर्मियों से कार्य कराना लोक जुम्बिश की ही नीति थी। पढ़ने की इच्छा रखने वाली (लेकिन अवसर से वंचित) अनेक निरक्षर महिलाओं को ''वीमेंस रेसीडेंशियल इंस्टीट्यूट फॉर ट्रेनिंग एडं ऐजुकेशन'' नाम के दो संस्थानों ने प्रशिक्षित किया है। उनमें से अनेक आँगनबाड़ी कर्मियों, एन.एफ.ई. प्रशिक्षकों तथा ऐसे ही दूसरे रूपों में काम कर रही हैं। अनेक कार्यकर्ताओं को लोक जुम्बिश के स्टाफ में भी रख लिया गया था।

अनौपचारिक शिक्षा, जिसे ''सहज शिक्षा'' कहा जाता है, के प्रति लोक जुम्बिश की कार्य नीति एन.एफ. ई. की मुख्य प्रणाली से एकदम अलग थी। यह पाठ्यक्रम पूरे पाँच वर्ष चलता था। बच्चे को अपने ढंग से, अपनी गति से पढ़ने की पूरी छूट होती थी और उसे कक्षा पाँच तक पूरा समर्थन दिया जाता था। प्रति एन. एफ.ई. केन्द्र पर आने वाला वार्षिक खर्च लगभग 20,000 रुपए बैठता था (सरकारी एन.एफ.ई. केन्द्र का कोई पाँच गुना ज़्यादा बैठता है) और इन केन्द्रों को तथा वहाँ काम करने वाले प्रशिक्षकों को पूरा ध्यान और समर्थन दिया जाता था।

लोक जुम्बिश की कुछ अपनी समस्याएँ और कमज़ोरियाँ भी थीं। यद्यपि बच्चों के दाखिले और उनके स्कूल में बने रहने की दर में बढ़ोत्तरी हुई, पर लोक जुम्बिश स्कूलों के छात्रों की उपलब्धियाँ साधारण थीं। मुख्य धारा की स्कूली प्रणाली पर लोक जुम्बिश का प्रभाव भी आशा से कम ही रहा। यह एक महत्वपूर्ण मुद्दा है, क्योंकि लोक जुम्बिश एक अस्थायी परियोजना थी। महिलाओं को अधिक अधिकार देने का लक्ष्य भी आंशिक रूप से ही प्राप्त हुआ (एक आकलन से पता चला कि नमूना गाँवों में महिला समूह की कुछ ही सदस्याएँ सक्रिय थीं)। कुल मिलाकर, लोक जुम्बिश कार्य की गति आशा से धीमी रही। लेकिन इससे अब तक मिली सफलताओं का महत्व कम नहीं हो जाता। जैसा कि एक स्वतंत्र आकलन रिपोर्ट में कहा गया है– इस परियोजना ने उच्च संवेदनशीलता और यथार्थ में बहुत कठिनाई में काम करने की योग्यता दर्शाई है।

लोक जुम्बिश में समुदाय को शाला से जोड़ने पर ज़ोर था। इसके कुछ उदाहरण दीजिए। इससे किन लोगों को परेशानी हुई होगी?

अभ्यास कार्य

1. स्थानीय परिवारों से सम्बद्ध आँकड़ें उपलब्ध होने से किसी शाला को क्या–क्या लाभ हो सकते हैं?

2. शिक्षा के प्रसार में समुदाय की भागीदारी क्यों ज़रूरी है?

दत्त कार्य

1. शासकीय शिक्षा तंत्र में गैर–सरकारी संगठनों की भूमिका पर एक निबन्ध लिखिए।

2. शिक्षा में महिलाओं की सामुदायिक भागीदारी किस–किस प्रकार की हो सकती है? इस भागीदारी को बढ़ाने के लिए शाला स्तर पर क्या–क्या किया जा सकता है?

परियोजना कार्य

1. मान लीजिए कि आपको किसी ऐसे एक ग्राम पंचायत क्षेत्र में शाला मानचित्रण करना है जहाँ एक ही प्राथमिक विद्यालय है। इसके लिए आप क्या–क्या करेंगें? समूची योजना की रूपरेखा बनाइए।

पठन सामग्री क्र. 16

एम.वी.फाउंडेशन और सेतु पाठ्यक्रम

अध्याय के उद्देश्य

1. बाल मज़दूरी और शाला के रिश्ते को समझना।
2. बाल मज़दूरी करने वाले बच्चों को भी शाला की मुख्य धारा से जोड़ा जा सकता है, यह समझना।
3. गैर–सरकारी संगठन के सहयोग के महत्व को जानना।
4. वैकल्पिक सेतु पाठ्यक्रम की उपयोगिता को समझना।
5. एक शिक्षक के रूप में सामाजिक दायित्व का एहसास करना।

अध्याय की रूपरेखा

अध्याय के उद्देश्य
विषयवस्तु के शीर्षक–उपशीर्षक
अलगाव की भावना को मिटाना
एम.वी. फाउंडेशन
 एम.वी.एफ. अनुभव के कुछ संकेत
आवासीय सेतु पाठ्यक्रम
 प्रस्तावना
 उद्देश्य एवं आवश्यकता
 लक्ष्य
 आवासीय केन्द्र हेतु बच्चों का चयन
 समयावधि
 वैकल्पिक नवाचारी शिक्षा केन्द्र हेतु शिक्षा स्वयंसेवकों का चयन
 केन्द्र हेतु शैक्षणिक गतिविधियाँ
 बच्चों का शाला में प्रवेश
अभ्यास कार्य
दत्त कार्य
परियोजना कार्य
सहायक पठन सामग्री

अलगाव की भावना को मिटाना

जब स्कूल ठीक ढंग से अपनी भूमिका नहीं निभाते तब लोग कभी–कभी उनके विरुद्ध कदम उठाते हैं। कभी–कभार इसके लिए वे गैर–सरकारी स्वैच्छिक संस्थाओं या सरकारी संस्थानों द्वारा उत्प्रेरित किए जाने की भी प्रतिक्षा नहीं करते। जनता के ये कदम अनेक रूप ले सकते हैं–

कुछ मामूली कदम, जैसे– अतिरिक्त कक्षा के निर्माण के लिए धन इकट्ठा करना, प्रखण्ड शिक्षा अधिकारी के पास शिकायतें लिख भेजना।

यथार्थवादी दृष्टि से देखें तो ऐसे उदाहरण अधिक नहीं हैं। सुविधा सम्पन्न बस्तियों में अभिभावक खामोश नहीं बैठते, उन्हें पता होता है कि कैसे ठीक किया जाय। अखबारों में मध्यमवर्गीय लोगों के पत्र प्रकाशित होना असामान्य बात नहीं है जिनमें पढ़ाई के तौर–तरीकों, दाखिले की प्रक्रिया, परीक्षाफलों आदि जैसे मुद्दों पर नाराज़गी दर्शाई जाती है। लेकिन वंचित क्षेत्रों और वर्गों के अभिभावकों के लिए अपनी आवाज़ उठाना और सही कानों तक पहुँचाना अधिक कठिन होता है। उनकी प्रवृत्ति सरकारी स्कूलों की स्थिति को अपनी दूसरी विसंगतियों की तरह स्वीकार करने की बन जाती है और अगर न सहा जा सके तो व्यवस्था के सुधार के लिए लड़ने की बजाय वहाँ से दूर हो जाने में भलाई समझी जाती है। जब तक यह सुनिश्चित न किया जाए कि शिक्षा प्रणाली का प्रशासन तंत्र अभिभावकों की शिकायतों पर अवश्य ध्यान दे, तब तक अभिभावकों की निराशा और पलायनवादी प्रवृत्ति में सुधार की सम्भावना नहीं।

फिर भी समय–समय पर माता–पिता (अथवा बच्चे) जैसे–तैसे पर्याप्त ऊर्जा और मिलकर कुछ करने की आशा का भाव जुटा लेते हैं। निस्सन्देह स्कूल व्यवस्था की निष्क्रियता को चुनौती देने वाले प्रेरक उदाहरण कभी–कभी अखबारों के माध्यम से नज़र में आ जाते हैं लेकिन अनेक उदाहरण खबरें भी नहीं बन पाते। इस अनुभाग में हम ऐसे ही कुछ प्रेरक सार्वजनिक प्रयासों को प्रस्तुत कर रहे हैं। शायद एक दिन ये चिंगारियाँ ज्वाला बनकर भड़क उठें।

आप पिछले माह के समाचार पत्रों से ऐसी खबरें छाँटिए जो आम लोगों की पहल पर हैं। इनका एक एल्बम बनाइए।

एम.वी. फाउंडेशन

जब 1987 में एम.वी. फाउंडेशन ने आन्ध्र प्रदेश के रंगारेड्डी ज़िले में अपना कार्य बढ़ाना आरम्भ किया, उस समय बँधुआ बालश्रमिकों और स्कूल न जाने वाले बच्चों का मुद्दा लोगों का ध्यान खींचने लगा था। जिन प्रदेश में सर्वाधिक संख्या में बाल श्रमिक हैं उनमें आन्ध्र प्रदेश शामिल है। बँधुआ बालश्रमिकों पर ध्यान केन्द्रित करना शुरू करने के फौरन बाद ही एम.वी. फाउंडेशन को यह महसूस हुआ कि उन्हें सभी बच्चों के लिए शिक्षा सुलभ बनाकर उनको श्रमिक बनने से रोकने के व्यापक पटल पर कार्य करना होगा। परिणामतः उन्होंने कारखाना अधिनियम की परिभाषा से परे जाकर बाल श्रमिक को नए सिरे से परिभाषित किया और स्कूल न जाने वाले 6 से 14 आयु वर्ग के सभी बच्चों को बाल श्रमिक माना।

एम.वी. फाउंडेशन की सचिव शान्ता सिन्हा अकसर कहती हैं, बच्चों के लिए सही जगह विद्यालय है। बच्चों के स्कूल न जाने की वजह गरीबी है, इस रूढ़िवादी विचार को चुनौती देते हुए एम.वी. फाउंडेशन इस विश्वास पर कार्य करता है कि सब माता–पिता, चाहें वे कितने ही गरीब क्यों न हों, अपने बच्चों को शिक्षित करना चाहते हैं। अनुकूल शिक्षा व्यवस्था के अभाव में बच्चे स्कूल से बाहर रहने को बाध्य हैं। अतः उस समय पहला लक्ष्य था बच्चों को स्कूल में लाना। 'क्या स्कूल प्रभावशाली ढंग से काम कर रहा है? क्या पाठ्यचर्या प्रासंगिक है? क्या स्कूली पढ़ाई पूरी करने के बाद बच्चों की सीखने की योग्यता में वृद्धि होती है?' इन्हें ऐसे मुद्दों के रूप में देखा गया जिनसे किसी तरह जूझा जाना था। यदि समाज संगठित हो और बच्चों का स्कूलों में नामांकन किया जाए तो इन मुद्दों से समेकित ढंग से निपटा जा सकता है।

एम.वी. फाउंडेशन "अनौपचारिक शिक्षा प्रणाली" में हेरफेर करने में विश्वास नहीं रखता जहाँ स्कूलों के समय मज़दूर बच्चों की सुविधा के अनुसार निश्चित किए जाते हैं। यह केवल बालश्रम को बनाए रखने में मदद करता है। इसके विपरीत एम.वी.एफ. बाल मज़दूरी की ज़ंजीरें तोड़ने में आस्था रखता है – बाल मज़दूरी को खत्म करने का एक मात्र तरीका है, बच्चे को स्कूल में वापस भेजना। बालश्रम की समस्या की समाप्ति के एक साधन के रूप में औपचारिक शिक्षा के प्रति प्रतिबद्धता के साथ औपचारिक विद्यालय एम.वी. फाउंडेशन की नीतियों के केन्द्र में आ गए। गरीब बच्चों के लिए प्रायः सरकारी स्कूल ही एकमात्र विकल्प होता है। इसलिए एम.वी. फाउंडेशन ने सरकारी स्कूलों को केन्द्र में रखा जिसके आसपास पहल को आकार दिया गया। इसके पीछे यह सैद्धान्तिक आधार भी है कि देश में प्राथमिक शिक्षा देने और उसे सुनिश्चित करने का दायित्व सरकार का है।

स्कूल के लिए तैयारी : सेतु पाठ्यचर्या

स्कूल तक पहुँच का अर्थ प्रायः ऐसी जगह स्कूल खोलने से लिया जाता है जहाँ बच्चे आसानी से पहुँच पाएँ। एम.वी. फाउंडेशन ने पहुँच के मुद्दे को एक नए आयाम के रूप में देखा है। क्या स्कूल तक शारीरिक पहुँच ही काफी है? अथवा यदि इस पहुँच को वास्तविक होना है तो क्या ऐसी नीति की ज़रूरत नहीं होगी जो बच्चों के जीवन के अनुभव और स्वयं में एक हद तक विश्वास के साथ औपचारिक व्यवस्था में शामिल होने की योग्यता के बीच के बड़े अन्तर को पाट सके। इसी के उत्तर के रूप में एम.वी. फाउंडेशन ने सेतु पाठ्यचर्या की अवधारणा विकसित की है जो सेतु कैम्प के रूप में कार्य करती है। एम.वी. फाउंडेशन ने अकसर स्कूल आने वाली पहली पीढ़ी के बड़े बच्चों को स्कूल से जोड़ा, बच्चों के औपचारिक धारा में जुड़ने से पहले सेतु कोर्स ने एक मध्यवर्ती चरण के रूप में कार्य किया। ये सेतु कोर्स लम्बे दीर्घकालीन आवासीय शिविरों में लगाए जाते हैं। नीति के रूप में ये आवासीय शिविर विवाद का विषय रहे हैं क्योंकि इन्हें महँगे ढाँचे की तरह देखा गया है।

एम.वी. फाउंडेशन का तर्क है कि जब तक बच्चों को उनके अपने परिवेश से दूर न किया जाए, तब तक तो उन पर फिर से काम करने का दबाव इतना अधिक होता है कि जिसे रोक पाना कठिन होता है। यदि बच्चा दूर होगा तो परिवार अपने आप उन दायित्वों को पूरा करने के विकल्प खोजेगा जिनका भार बच्चा उठा रहा था, चाहे वह कार्य के रूप में हो या आय के रूप में। आवासीय शिविरों में रहकर बच्चे आत्मविश्वासी बनते हैं और उनका परिचय औपचारिक शिक्षा के संसार से होता है। यद्यपि बच्चा अपने साथ अनुभव की सम्पदा लाता है, फिर भी व्यवस्थित रूप से अक्षर–ज्ञान, शब्द, अंक–ज्ञान और पाठ्यपुस्तकों से परिचित होना उसके लिए भयभीत करने वाली व असम्बद्ध प्रक्रिया हो सकती है। बच्चे के लिए शिविर अकसर बचपन का

अनुभव होता है जहाँ बच्चे काम करने या कमाई करने की चिन्ता से मुक्त होकर, निश्चित और आनन्दपूर्ण समय बिताते हैं।

लड़के–लड़कियों के लिए अलग–अलग ग्रीष्म शिविर लगाए जाते हैं और उनकी अवधि तीन से नौ महीने के बीच होती है। पढ़ाई के समय का अनुशासन कठोर है – सुबह 9 से शााम 5 बजे तक। शाम को लाइब्रेरी, समीक्षा, और होमवर्क की सभा होती हैं। रोज़मर्रा के काम पूरे करने के लिए बच्चों को विभिन्न समूहों में बाँट दिया जाता है (बरतनों की सफाई, झाड़ू लगाना आदि)। व्यस्त कार्यक्रम के बावजूद शिविर का वातावरण, उल्लासपूर्ण होता है। बच्चों को मारना मना है और डाँटने पर भी समीक्षात्मक सभा में प्रतिवाद उठ सकता है। पढ़ाई के स्तर से बच्चे आतंकित नहीं होते। इसका अच्छा उदाहरण है, उनकी प्रथम पाठ्यपुस्तक। इसमें केवल 30 प्रचलित शब्दों की सूची है जिन्हें बच्चे स्वयं सुझाते हैं। नाचना, गाना, सिक्के और माचिस की तीलियाँ, लोककथाएँ और मुहावरे, इन सबका प्रयोग किया जाता है। शिविर की समाप्ति के बाद औपचारिक स्कूल में प्रवेश की दृष्टि से छोटे बच्चों की तैयारी कराई जाती है। कुछ कक्षा 3 में जाते हैं तो कुछ कक्षा 4 व 5 में।

सेतु पाठ्यक्रम पूरा करने के बाद बच्चों को उम्र के हिसाब से उचित कक्षाओं में दाखिला दिया जाता है। सरकारी शालाओं में बच्चों की संख्या अधिक होने के कारण संगठन को कक्षागत प्रक्रियाओं, विशेष रूप से बच्चों के सीखने और उनकी उपलब्धियों पर अधिक ध्यान देना पड़ा है। इस दिशा में सबसे अधिक दबाव स्वयं पालकों की ओर से डाला गया है जिन्होंने अपनी चिन्ता व्यक्त करते हुए कहा है कि अभिभावक के रूप में उन्होंने बच्चों को स्कूल भेजने का उत्तरदायित्व पूरा कर दिया है, अब संस्था अपनी ज़िम्मेदारी पूरी नहीं कर रही है। बच्चे लिख या पढ़ क्यों नहीं पा रहे हैं? यदि स्कूल न्यूनतम शिक्षा भी नहीं दे सकता तो उसका क्या लाभ है?

स्थानीय स्कूल में भी एम.वी. फाउंडेशन के स्वयंसेवक होते हैं। वे गाँववालों को इस बात का ध्यान रखने को कहते हैं कि स्कूल में पर्याप्त सुविधाएँ हों और अध्यापक बच्चों को ज़िम्मेदारी की भावना से पढ़ाएँ।

एम.वी.एफ. स्थानीय साधनों का रचनात्मक उपयोग करना चाहता है। इसके स्वयंसेवक आदर्शवादी युवक–युवतियाँ हैं, जो स्वयं भी वंचित सामाजिक वर्गों से होते हैं। वे अच्छी तरह जानते हैं कि औपचारिक शिक्षा कैसा गौरव और आत्मविश्वास प्रदान कर सकती है। इन बेरोज़गार युवकों को आवारा कहने के बजाय एम.वी. फाउंडेशन उनकी ऊर्जा का उपयोग बच्चों को स्कूल भेजने में, शिविरों के संचालन में, बच्चों को पढ़ाने में और इसे सुनिश्चित करने में करता है कि स्कूल व्यवस्था सुचारू रूप से चलती रहे। स्थानीय साधनों का एक अन्य कल्पनाशील उपयोग है ग्रीष्म शिविर लगाने के स्थान। ये बेकार पड़ी सरकारी इमारतों में लगाए जाते हैं। इनके लिए कोई अनुमति नहीं ली जाती, एम.वी. फाउंडेशन केवल सरकार को सूचित कर देता है कि इन भवनों को अस्थायी उपयोग में लाया जाएगा। उसी भाव से माता–पिता (भूस्वामी और प्रतिष्ठानों के मालिक भी) जैसे–तैसे बच्चों के मित्र बना लिए जाते हैं। माँ–बाप शुरू–शुरू में कुछ घबराए हुए और अनिच्छुक रहते हैं। कुछ तो आत्महत्या करने की धमकी तक दे डालते हैं। लेकिन अधिकांश लोग शिविरों में अपने बच्चों के उल्लास से प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाते। वे सामंजस्य बिठाते हैं, और काम की ज़िम्मेदारियों का बँटवारा इस ढंग से करते हैं ताकि बच्चा स्कूल जा सके। वे लड़कियों का विशेष समर्थन करते हैं।

एम.वी.एफ. की सफलता का अर्थ यह नहीं कि इस क्षेत्र में बाल मज़दूरी समाप्त हो गई। लेकिन आन्दोलन ने जड़ें जमा ली हैं। लोग इसका समर्थन कर रहे हैं। 1992 में किए गए एक सर्वेक्षण में एम.वी. फाउंडेशन ने शंकरापल्ली मण्डल में 5–14 आयु वर्ग के कुल 10,661 बच्चों में से स्कूल न जाने वाले बालकों की संख्या 5,550 बताई थी। दो वर्षों के अन्दर ही एम.वी.एफ. उनमें से 4,190 बच्चों को स्कूलों में भेजने में सफल हुई। एम.वी. फाउंडेशन का निष्कर्ष है कि गरीब माँ–बाप अपने बच्चों को स्कूल भेजना चाहते हैं और बहुत समय से बाल मज़दूर रहे बच्चों को भी स्कूल प्रणाली में शामिल किया जा सकता है।

कुछ विचार

एम.वी. फाउंडेशन के अनुभवों से बहुत कुछ सीखना है। लक्ष्य की स्पष्टता ने बालश्रम के मसले पर

एम.वी.एफ. अनुभव के कुछ संकेत

1. बाल मज़दूरी का उन्मूलन और स्कूली शिक्षा के सार्वजनीकरण का मतलब एक ही है।
2. कामगार बच्चों के माँ–बाप ऐसा सामंजस्य बैठाने को तैयार हैं जिससे उनके बच्चे स्कूल जा सकें।
3. बाल मज़दूरी के अधिकतर मामलों में बाल मज़दूर की आमदनी कोई ऐसा बड़ा कारक नहीं है कि जिसके चलते माँ–बाप बच्चे को स्कूल न भेजना चाहें।
4. शिक्षा के सार्वजनीकरण अभियान में सरकारी संस्थानों के उपयोग का कोई विकल्प नहीं है क्योंकि गैर–सरकारी स्वैच्छिक संस्थाएँ आवश्यक स्तर पर आधारभूत ढाँचा नहीं उपलब्ध करा सकतीं।
5. प्रारम्भिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के अभियान में गाँववालों को शामिल करने की काफी गुंजाइश है।

शान्ता सिन्हा

व्यापक सहमति बनाने में संगठन को समर्थ बनाया है। दूसरी कोशिशों से अलग एम.वी. फाउंडेशन ने यह सम्भावना प्रदर्शित की कि औपचारिक व्यवस्था व्यापक सामाजिक मुद्दों का समाधान दे सकती है। यह विचार एक प्रकार से संगठन के इस दृढ़ विश्वास से उपजा है कि वह सरकार की पहुँच और व्यापकता, विशेष रूप से प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में, का स्थान नहीं ले सकता। स्कूल तथा शिक्षकों को सुविधाएँ देकर एम.वी. फाउंडेशन ने आम तौर पर बदनाम स्कूल शिक्षक को उसका सम्मान पुनः दिलाने और शिक्षक समुदाय में मिशन की भावना जागृत करने की चेष्टा की है।

पिछले कुछ वर्षों में एम.वी. फाउंडेशन की पहुँच पूरे देश में हो गई है। एम.वी. फाउंडेशन की प्रभावी सामाजिक जागृति की नीति और जोड़ने वाले प्रभावी तंत्र के द्वारा शिक्षा तक पहुँच की सुनिश्चितता को अनेक गैर–सरकारी संगठनों ने भी अपनाया है और सर्वाधिक प्रमुखता से राज्य शिक्षा विभाग ने सभी के लिए प्राथमिक शिक्षा में पहुँच बढ़ाने के एक साधन के रूप में अपनाया है। राज्य शासन ने बालश्रम की परिभाषा को स्वीकार करते हुए स्कूल से बाहर के सब बच्चों को इसमें सम्मिलित कर लिया है। शिक्षा तक पहुँच बढ़ाने के एक साधन के रूप में अनौपचारिक शिक्षा को अस्वीकार कर दिया है। पूरे समय की शिक्षा पर बल दिया है। बच्चों को मुख्यधारा में समाहित करने की पद्धति के रूप में इसने कम अवधि और लम्बी अवधि के शिविरों को अपनाया है। नामांकन की दर में वृद्धि के परिणामस्वरूप अनेक स्कूलों में जो शिक्षक–छात्र अनुपात बिगड़ गया है, उसमें सुधार लाने के लिए सरकार ने पैरा–शिक्षकों के विचार को स्वीकार कर लिया है, जिन्हें पढ़ाने में अतिरिक्त सहायता के लिए स्थानीय स्तर पर चयनित किया गया है।

एम.वी. फाउंडेशन ज़िला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम तथा राज्य के शिक्षा विभाग जैसी एजेंसियों के लिए स्रोत संस्था के रूप में कार्य करता है। राजस्थान के लोक जुम्बिश कार्यक्रम, उत्तर प्रदेश के ज़िला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम तथा मुम्बई की प्रथम जैसी संस्थाओं ने बालश्रमिकों की समस्याओं को सुलझाने में एम.वी. फाउंडेशन के अनुभवों से बहुत मदद ली है।

एम.वी. फाउंडेशन की सामाजिक जागृति और सेतु शिविर की नीतियों को जिस उत्साह के साथ राज्य सरकारों ने अपनाया था वे अब केवल नामांकन के रूप में संख्यात्मक सफलता का प्रदर्शन मात्र बनकर रह गई हैं, यह देखकर पीड़ा हो सकती है। शिक्षण की उपेक्षा के परिणामस्वरूप हो सकता है कि अब एक और पीढ़ी प्राथमिक शिक्षा सफलतापूर्वक पूरी न कर सके। विद्यालयों में कुछ नहीं होता इस कारण पढ़ाई छोड़ने वाले बच्चों की संख्या के बारे में स्थिति स्पष्ट नहीं है।

यद्यपि एम.वी. फाउंडेशन निरन्तर कहता रहा है कि सामाजिक जागृति प्राथमिक शिक्षा के सर्वव्यापीकरण का महत्वपूर्ण प्रथम निर्णायक कदम है, परन्तु सामाजिक जागृति और अध्ययन–अध्यापन की प्रक्रिया की गुणवत्ता को क्रमबद्ध स्तरों के रूप में देखने की प्रक्रिया का पुनर्परीक्षण और पुनरावलोकन आवश्यक है। बच्चों के लिए स्कूलों की व्यवस्था सामाजिक प्रतिमान के रूप में उभर रही है, इस कारण देश के कुछ भागों में यह अधिक आवश्यक है कि इन्हें परस्पर शक्तिदायक सहगामी प्रक्रियाओं के रूप में देखा जाए। इस पर ध्यान केन्द्रित करना उपयोगी हो सकता है कि सामाजिक जागृति और सीखने के परिणाम, इन दो समान्तर प्रतीत होने वाली प्रक्रियाओं को कैसे जोड़ा जाए? क्या ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू नहीं हैं?

सेतु पाठ्यक्रम
आवासीय सेतु पाठ्यक्रम

प्रस्तावना

एम.वी.एफ. के काम पर आधारित यह कार्यक्रम अपने प्रदेश में चल रहा है।

वैकल्पिक एवं नवाचारी शिक्षा कार्यक्रम ''सभी बच्चों की शिक्षा'' (Education for all) का लक्ष्य पूर्ति की दिशा में उठाया गया एक महत्वपूर्ण कदम है। 'डोर टू डोर' सर्वे से प्राप्त आँकड़े तथा पढ़ने लायक बच्चों के प्रवेश हेतु किए गए व्यापक प्रयास के बावजूद शाला से बाहर रह गए बच्चों की बड़ी संख्या इस कार्यक्रम की आवश्यकता व महत्व को और अधिक बढ़ाती है। भारत जैसे विशाल देश में सबके लिए शिक्षा भविष्य का सम्बल है।

बच्चों की पारिवारिक परिस्थितियाँ उनकी नियमित विद्यालय तक पहुँच में सबसे बड़ी बाधा होती हैं। इसी कारण बहुत से बच्चे शिक्षा से वंचित रह जाते हैं। वास्तव में विद्यालय नहीं जाने वाले बच्चे किसी न किसी काम, जैसे– खेतों में मज़दूरी करना, बरतन माँजना, होटलों, दुकानों, कारखानों में कार्य कर पारिश्रमिक प्राप्त करना या परिवार को सहारा देने के रूप में घर का कार्य करना, छोटे–मोटे सामान बेचना, मवेशी चराना या छोटे भाई–बहनों की देखभाल करना इत्यादि कार्यों में संलग्न होते हैं। ऐसे बच्चों को शाला से जोड़ना अत्यावश्यक है। इस क्षेत्र में सबसे बडी चुनौती उन बच्चों को शाला से जोड़ने की है, जो पहले कभी शाला नहीं गए और जो विद्यालय जाने की उम्र पार कर चुके हैं। वे अब अपने से कम उम्र के बच्चों के साथ कक्षा में बैठकर पढ़ने में असहज महसूस करेंगे। ऐसे बच्चों के लिए वैकल्पिक व नवाचारी शिक्षा की व्यवस्था एक अनिवार्यता है। इस वृहत कार्य के लिए सभी के सहयोग से वैकल्पिक शिक्षा की सुविधा स्थापित की जा रही है।

यह व्यवस्था पूर्णतः अस्थाई होते हुए भी तब तक चलेगी जब तक शाला से बाहर के सभी बच्चे शिक्षा की मूल धारा में न आ जाएँ। यह नियमित विद्यालय का विकल्प न होकर यहाँ पहुँचने का माध्यम बस होगी। पूर्णकालिक नियमित विद्यालय ही बच्चों के सर्वांगीण विकास के एकमात्र केन्द्र हैं जहाँ सभी बच्चों का दाखिला उनका मौलिक अधिकार है।

उद्देश्य एवं आवश्यकता

वैकल्पिक एवं नवाचारी शिक्षा के अन्तर्गत सेतु पाठ्यक्रम का उद्देश्य उन बच्चों को जो कभी शाला नहीं गए या जिन्होंने बीच में ही पढ़ाई छोड़ दी है, उन्हें उनके द्वारा अर्जित दक्षता के आधार पर नियमित शाला में उपयुक्त कक्षा में प्रवेश दिलाना है।

इसके अन्तर्गत आवासीय केन्द्र का मुख्य उद्देश्य एक ऐसा प्रेरक स्थान उपलब्ध कराना है जो न केवल बच्चों के लिए उपयोगी हो बल्कि पालकों, शिक्षा स्वयंसेवकों, तथा समुदाय के लिए भी उपयोगी हो। जहाँ बच्चों के लिए शिक्षा की आवश्यकता पर परस्पर संवाद हो सके। आवासीय तथा गैर–आवासीय केन्द्र के लिए सबसे बड़ी चुनौती बच्चों को केन्द्र से हटाकर औपचारिक शाला में लाने की है। प्रायः ये बच्चे 6 से 14 आयु समूह के हैं, जो कभी शाला नहीं गए या प्रवेश लिए भी तो कक्षा 5वीं की शिक्षा पूर्ण किए बिना ही शाला छोड़कर चले गए और उनकी आयु उस कक्षा में पढ़ने की आयु से अधिक भी हो गई है। अब वे अपनी आयु से छोटे बच्चों के साथ कक्षा में असहज महसूस करते हैं। इसमें उच्च प्राथमिक कक्षा में पढ़ने लायक खासकर लड़कियों की संख्या भी काफी अधिक है, जो अनेक सामाजिक, आर्थिक व विशिष्ट स्थानिक कारणों से कक्षा 5वीं या 6वीं की पढ़ाई के बाद विद्यालय छोड़ देती हैं।

इस आयु समूह के बच्चे यदि शाला में नहीं हैं तो निश्चित रूप से कोई न कोई अवैतनिक या वैतनिक कार्य कर रहे हैं। इन्हें इस बन्धन से छुड़ाकर नियमित विद्यालय में दाखिला के लिए आवासीय व गैर–आवासीय सेतु पाठ्यक्रम अत्यावश्यक है।

आवासीय तथा गैर–आवासीय सेतु पाठ्यक्रम शिक्षा केन्द्रों में शालात्यागी/अप्रवेशी, साथ ही बड़ी उम्र के बच्चों को लाने में समुदाय की बड़ी भूमिका होगी। इन केन्द्रों की सार्थकता उन बच्चों के साथ उनके परिवार की आवश्यकता व समय की सुविधा को केन्द्रित कर संचालन करने पर निर्भर करेगी। अतः लचीली समय

सारिणी व केन्द्र व्यवस्था अधिक कारगर होगी।

लक्ष्य

प्रत्येक ज़िले में सेतु पाठ्यक्रम बच्चों की सुविधा व आवश्यकतानुसार अनेक स्थानों पर प्रारम्भ होना चाहिए। जिन ग्रामों में बच्चों की संख्या कम है तथा जहाँ बच्चे किसी कार्य में संलग्न हैं। जहाँ लम्बी अवधि के पलायन की समस्या है वहाँ ऐसे बच्चों को आवासीय सेतु पाठ्यक्रम में प्रवेश हेतु प्रोत्साहित करना आवश्यक है। आवासीय केन्द्र में बच्चों के लिए निःशुल्क पठन–पाठन, आवास, भोजन व स्वास्थ्य के देखभाल की व्यवस्था होती है।

दो तरह के लक्ष्य समूह –

(अ) 6–11 आयु वर्ग वाले बच्चे

(ब) 11–14 आयु वर्ग वाले बच्चे

तात्कालिक रुप से सेतु पाठ्यक्रम के निम्नांकित प्रमुख लक्ष्य हैं –

1. वैकल्पिक व नवाचारी शिक्षा केन्द्र में आने वाले बच्चे जो मुख्य धारा में नहीं जा पाए उन्हें पुनः मुख्यधारा, अर्थात् नियमित शाला के लिए तैयार करना।
2. उन वर्गों के लिए प्रयास करना, जिन वर्गों के अधिक बच्चे शाला से बाहर हैं।
3. बालिकाएँ।
4. एक से अधिक बार अनुत्तीर्ण होकर शाला छोड़ देने वाले बच्चे।

आवासीय केन्द्र हेतु बच्चों का चयन

आवासीय सेतु पाठ्यक्रम ऐसे बच्चों के लिए होता है जिनके लिए स्थानीय स्तर पर गैर–आवासीय सेतु पाठ्यक्रम की व्यवस्था नहीं की जा रही है। ऐसे ग्रामों में जहाँ बच्चों की संख्या 10 से कम है, उन्हें एक स्थान पर इकट्ठा कर 50 बच्चों के लिए आवासीय केन्द्र प्रारम्भ किया जाता है।

1. बच्चों के चयन में यह ध्यान रखा जाता है कि प्राथमिकता से अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अल्पसंख्यक वर्ग, पिछड़ा वर्ग एवं गरीबी रेखा से नीचे जीवन यापन करने वाले शिक्षा से वंचित बच्चों का चयन हो।
2. बच्चे केन्द्र से जुड़ें इसलिए ऐसे दूरदराज़ क्षेत्र जहाँ शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं है वहाँ के बच्चों का प्राथमिकता के आधार पर चयन किया जाता है।
3. विकलांग बच्चों को भी इस कोर्स से जोड़ा जाता है।

वैकल्पिक नवाचारी शिक्षा केन्द्र हेतु शिक्षा स्वयंसेवकों का चयन

1. 50 बच्चों के शिविर में 02 शिक्षा स्वयंसेवक/स्वयंसेविका का होना आवश्यक होता है। चयन पश्चात् कम से कम 07 दिवसीय प्रशिक्षण अनिवार्य होता है।
2. आवासीय केन्द्रों में जहाँ तक सम्भव हो सके, केवल महिला शिक्षा स्वयंसेविकाओं को रखा जाता है।

समयावधि

वैकल्पिक व नवाचारी शिक्षा केन्द्र में बच्चे को रखने की अधिकतम अवधि 9 माह होती है। केन्द्र का कार्यकाल तब तक चलता रहता है, जब तक एक भी बच्चा शिक्षा की मुख्य धारा में प्रवेश लेने से बचा होता है। वैकल्पिक नवाचारी केन्द्र के लिए कोई निर्धारित सत्र अवधि नहीं होती। बच्चे के लिए सत्र की गणना उसके दर्ज माह से आगामी 9 माह तक मानी जाती है। नियमित विद्यालयों के समान सत्र प्रारम्भ व ग्रीष्मवकाश जैसी व्यवस्था यहाँ के लिए लागू नहीं होती। यदि 9 माह बाद भी बच्चा मुख्य धारा में प्रवेश नहीं कर पाता है, तब भी उसे इन केन्द्रों में रखा जा सकता है, परन्तु इसके लिए सुसंगत कारणों सहित ज़िला परियोजना कार्यालय की अनुमति आवश्यक होती है। सत्र अन्त का अर्थ यहाँ प्रत्येक बच्चे के मुख्य धारा में प्रवेश से है।

आवासीय केन्द्र हेतु शैक्षणिक गतिविधियाँ

आवासीय केन्द्रों में शिक्षण के साथ–साथ सह–शैक्षिक गतिविधियों का अत्याधिक महत्व होता है। केन्द्र के लिए निम्नलिखित गतिविधियाँ प्रस्तावित होती हैं –

प्रातः स्मरणः शिक्षा स्वयंसेवक/सेविका की मदद से दिन की शुरुआत भोर गीत से करना। धीरे–धीरे क्रमवार बच्चों के समूहों की ज़िम्मेदारी तय करना जो प्रातः जागरण के समय भोर गीत गाकर जागरण एक समय पर कराएँ।

व्यायाम सत्रः प्रातः दैनिक निवृत्ति पश्चात नाश्ते से आधा घण्टा पूर्व व्यायाम करवाना जिसमें आराम, सावधान, साधारण योग, प्राणायाम, कदमताल आदि सिखाया जाना शामिल है।

प्रार्थना सत्रः इस सत्र में कम से कम दो प्रार्थनाएँ/प्रेरक गीत, दोहे, एकता मंत्र, सुभाषित का वाचन एवं सरल अर्थों में बच्चों द्वारा प्रयास व अभ्यास करवाना।

प्रेरक प्रसंगः सामान्य ज्ञान व चरित्र निर्माण की बातें तथा बच्चों को प्रेरित करना तथा सामान्य ज्ञान के प्रश्न पूछना।

केन्द्र में दैनिक समाचार पत्र वाचन सुनिश्चित करना।

बच्चों का अखबारः श्यामपट, दीवार आदि जिस पर बच्चे स्वयं आस–पास घट रही घटनाओं के बारे में लिखें।

केन्द्र में आवास स्थलः कक्ष की सफाई, जल व्यवस्था, पेड़–पौधों की देखभाल आदि द्वारा श्रमदान का संस्कार डालना।

खेलकूदः केन्द्र में 1 घण्टे का खेल सत्र का भी प्रवधान होता है।

केन्द्र में बच्चे व शिक्षा स्वयंसेवक दोनों को निवास करना होता है। परिवार छोड़कर आने वाले बच्चे 10–14 आयु अर्ग के होते हैं। ये किशोर बच्चे सम्भवतः पहली बार घर से बाहर निकलते होंगे, अपने परिवेश से बिल्कुल भिन्न परिवेश व वातावरण में रहते हैं। अतः सम्भव है कि उन्हें प्रारम्भ में समायोजन में कुछ कठिनाइयाँ हो सकती हैं।

पोर्टा कैबिन में शिक्षा

पोर्टा कैबिन का अर्थ है ऐसा कमरा जिसे एक जगह से दूसरी जगह ले जाया जा सकता है। यह लोहे के ढाँचे पर टीन या बाँस की छत व दीवारों से बना होता है जिसे आसानी से एक जगह से निकालकर दूसरी जगह ले जाया जा सकता है। इसके निर्माण और विखण्डन में बहुत कम समय और खर्च लगता है। लेकिन इनकी एक समस्या यह है कि गर्मी व सर्दी से इनमें बचाव कम हो पाता है। दन्तेवाड़ा और बीजापुर के लगभग दस हज़ार बच्चे ऐसे शाला भवनों में शिक्षा ले रहे हैं। ऐसा क्यों? वहाँ सामान्य शाला भवन क्यों नहीं हैं? चलें पता करें।

छत्तीसगढ़ के दक्षिणी ज़िले नक्सल आन्दोलन प्रभावित रहे हैं और यहाँ आए दिन माओवादियों व सुरक्षा बलों के बीच सशस्त्र संघर्ष होता रहता है। इसका एक नतीज़ा यह रहा है कि कई गाँव उजड़ गए हैं और उनके साथ स्कूल भी। गाँव के लोग, जो अधिकांशतः आदिवासी हैं अपने घर छोड़कर अस्थाई कैम्पों में रह रहे हैं। अन्य गाँवों में भी सुरक्षा बलों ने पक्की इमारतों वाली शालाओं को अपने उपयोग में ले लिया है और इसके चलते ये भवन माओवादियों के विध्वंस के शिकार हो रहे हैं। ऐसे में बच्चों को इन भवनों में शिक्षा देना खतरे से खाली नहीं है। दूसरी ओर, ऐसे क्षेत्रों में रहकर कुछ शिक्षक पढ़ाने से घबराते हैं। इन कारणों से इन इलाकों के बच्चों की शिक्षा बहुत बुरी तरह प्रभावित हुई है। इन बच्चों के पास एक ही विकल्प बचता है कि वे संघर्ष के किसी एक तरफ शामिल हो जाएँ। ऐसी विकट परिस्थितियों में शिक्षा विभाग ने इन प्रभावित बच्चों के लिए आवासीय शालाएँ बनाई हैं जो पोर्टा कैबिन तकनीक से निर्मित हुई हैं। सुरक्षा के घेरे में बनी इन शालाओं में आज बच्चे शान्तिपूर्वक रह रहे हैं और शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं।

पोर्टा कैबिन शालाओं में दर्ज बच्चों को निःशुल्क आवास, भोजन, स्वास्थ्य, रक्षा आदि सुविधाओं के साथ मासिक स्टाईपेंड –शिष्यावृत्ति– भी दिया जा रहा है। शुरू में इन बच्चों के लिए कक्षा एक से आठ तक का सेतु पाठ्यक्रम चलाया जाता था। जिसके पूरे होने पर केन्द्र सरकार की स्वीकृति से इसी पाठ्यक्रम को स्थाई रूप से पोर्टा कैबिन शालाओं में चलाया जा रहा है।

बच्चों का शाला में प्रवेश –

सेतु पाठ्यक्रम के अन्त में बच्चों का एक मूल्यांकन कर कक्षा में प्रवेश।

यह आवश्यक नहीं है कि सेतु पाठ्यक्रम के अन्त में ही बच्चे कक्षा में दर्ज हों, अपितु सेतु पाठ्यक्रम के दौरान जैसे–जैसे बच्चे दक्षता प्राप्त करते जाएँगे, वैसे–वैसे उन्हें उनकी योग्यता अनुरूप कक्षा में उनकी सहमति लेकर दर्ज करवाने का प्रावधान है।

प्रत्येक स्थिति में प्रधान पाठक/शिक्षक द्वारा इन बच्चों को शाला में दर्ज किया जाता है।

ऐसे बच्चे जो सेतु पाठ्यक्रम में रहने के उपरान्त भी किन्हीं कारणवश शाला में दर्ज न हो सकें उनके लिए निजी परीक्षार्थी के रूप में सम्मिलित होने का भी विकल्प होता है।

एम.जी.एम.एल शिक्षण प्रक्रिया

प्राथमिक शिक्षा में शैक्षिक गुणवत्ता विकास हेतु अनेक प्रयास किये जा रहे हैं किन्तु अपेक्षित सफलता प्राप्त न होने का प्रमुख कारण प्रत्येक बच्चे की विलक्षणता और विविधता है उनकी विभिन्न विषयों को समझने और सीखने की क्षमता भी अलग अलग होती है, साथ ही बच्चे के सीखने की अपनी गति भी होती हैं जिसके कारण किसी एक समय पर समान आयु के, समान कक्षा के बच्चे भी अधिगम के विभिन्न स्तरों पर होते हैं परिणाम स्वरूप बच्चों के सीखने की गति में असमानता परिलक्षित होती है।

शिक्षण प्रक्रिया की इस कमी को दूर करने हेतु परिषद द्वारा बहु स्तर की समस्याओं को सम्बोधित करने हेतु एम.जी.एम.एल. के नाम से एक शिक्षण पद्धति का विकास किया गया है। जिससे बच्चा अपनी विविधता और विशिष्टता को बनाए रखते हुए सीखने का पर्याप्त अवसर प्राप्त कर सके और अपनी गति और स्तर के साथ सीख सके ।

इस विधि में पूरे पाठ्यक्रम को क्रमवार छोटे छोटे सोपानों में बांटा गया है जिन्हें माइलस्टोन का नाम दिया गया है। प्रत्येक सोपान में पाठ्यक्रम के उद्देश्य एव ंअपेक्षाएं स्पष्ट होती हैं उदेश्यों को पूर्ण करने के लिए विभिन्न रोचक गतिविधियों का प्रयोग किया जाता है। इन छोटे सोपानों को इस प्रकार व्यवस्थित किया गया है कि बच्चे के सीखने में क्रमबद्धता रह सके। छोटे उद्देश्य और रोचक गतिविधियों के कारण प्रत्येक बच्चे के सीखने की गति रूचिकर होती है, सीखने की प्रक्रिया के दौरान बच्चे की उपलब्धि का पता लगाया जाता है इस प्रकार कहा जा सकता है कि यह उद्देश्यपूर्ण पाठ्यक्रम के क्रियान्वयन और प्रत्येक बच्चे के स्तर निर्धारण की प्रक्रिया का एक अंग है।

बहुस्तर की समस्याओं को दूर करने के लिए इस शिक्षण तकनीक में शिक्षण सामग्री का प्रबंधन, पाठयक्रम का प्रबंधन, समूह शिक्षण के लिए समूह प्रबंधन, स्तर और गति प्रबंधन की आवश्यकता होती है। प्रबंधन की सुविधा की दृष्टि से लोगो (logo) का निर्माण किया गया है प्रत्येक लोगो कोई न कोई गतिविधि को प्रदर्शित करता है यह लोगो, लेडर (माइलस्टोन) में गतिविधि के क्रम और समूह की प्रकृति को भी निर्धारित करने में सहायता प्रदान करता है। साथ ही सामग्रियों के रखरखाव और प्रबंधन में मदद करता है।

माइलस्टोन के उद्देश्यों के अनुसार गतिविधियों को, लोगो के आधार पर कमिक रूप से जमाया गया है जिसे लेडर का नाम दिया गया है। लेडर कक्षा कक्ष के भीतर समूह शिक्षण की प्रकिया और समूह वार बैठक व्यवस्था का प्रबंधन करता है। समूह और बैठक व्यवस्था के प्रबंधन के लिए समूह थाली भी मददगार होती है। लेडर समूहवार गतिविधि का नियत्रंण के साथ साथ बच्चों के गति और स्तर के मापन के लिए भी उपयोगी है।

सीखने के स्रोतों के विस्तार के लिए इस प्रक्रिया में समूह शिक्षण की व्यवस्था है। बच्चे छः समूह में शिक्षण कार्य करतें हैं।

1 **शिक्षक समर्थित समूह** में शिक्षक द्वारा बच्चों को मुख्य अवधारणा सिखाने में मदद की जाती है।

2 **दूसरा आंशिक शिक्षक समर्थित समूह** होता है इस समूह में शिक्षक द्वारा सिखाई गई अवधारणा का पुर्नबलन होता है यदि बच्चे को अवधारणा सीखने में कहीं कोई कमी रह गई हो तो शिक्षक उस बिन्दु पर आंशिक रूप से मदद कर उस अवधारणा की समझ को पुष्ट करता है जिससे आगे के समूह में उन अवधारणाओं के विस्तार के लिए तैयार हो सके और बच्चा प्रत्येक अवधारणा को सीख सके।

3 **सहपाठी समर्थित समूह** जिन अवधारणाओं को पहले और दूसरे समूह में सीखा गया है उससे सबंधित अभ्यास इस समूह में करता है चूंकि इस समूह में यदि सीखने में कोई कमी रह गई हो तो वह अपने साथियों से मदद लेता है।

4 **आंशिक सहपाठी समर्थित समूह** इस समूह में पहले दूसरे और तीसरे समूह में सीखी गई विषय वस्तु का स्वयं अभ्यास करने का प्रयास करता है अर्थात बच्चा सीखने में स्वाबलम्बन की ओर अग्रसर होता चला जाता है यदि कहीं मदद की जरूरत है तो वह अपने साथियों से मदद प्राप्त करता है।

5 स्वअधिगम समूह पहले समूह से चौथे समूह तक जिस विषय वस्तु को सीखता है बच्चा उन का स्वयं अभ्यास करता है अर्थात सीखने की प्रक्रिया में यह स्वालबंन की स्थिति होती है।

6 मूल्यांकन समूह इस समूह में सीखी हुई बातों का मूल्यांकन होता है। समूह शिक्षण से बच्चों में विषय वस्तु से संबधित कौशलों के साथ साथ स्वाध्याय , नेतृत्व क्षमता , सहयोग लेना और देना स्वमूल्यांकन आदि सहसंज्ञानात्मक पक्षों का विकास होता है। इस प्रक्रिया में प्रत्येक बच्चे को सीखने के लिए पर्याप्त अवसर उपलब्ध है ।

प्रत्येक माइल स्टोन में मूल्यांकन की व्यवस्था की गई है इस प्रकिया में बच्चों के सीखने के दौरान, उसकी क्रियाकलाप, क्षमता, साथियों से व्यवहार कार्यकुशलता आदि का सूक्ष्म मूल्यांकन किया जाता है । प्रत्येक विषय के मध्य में लगभग आधे माइलस्टोन के पूरा होने पर मध्यावधि मूल्यांकन कार्ड और उस कक्षा के समस्त माइलस्टोन पूरा होने के बाद अंतिम मूल्यांकन की भी व्यवस्था है।

इस प्रकार राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रुपरेखा 2005 की सिफारिशों के आधार पर विशेषकर पाठ्यक्रम और पाठ्य पुस्तकों के स्वरूप में परिवर्तन और सीखने के प्रति समाज की मानसिकता में बदलाव लाने की दिशा में परिषद का यह एक संवेदनशील प्रयास है जिसमें बच्चों को बिना डर के सीखने के लिए प्रेरित करना, बच्चों के अनुभवों और स्वरों को सक्रिय सहभागिता के साथ प्राथमिकता देने का प्रयास किया गया हैं। इस प्रक्रिया के द्वारा शिक्षा की कठोरता को दूर करने का प्रयास किया गया है तथा शिक्षकों और बच्चों में रचनात्मक चिंतन और अंतर्दृष्टि को अधिक सक्रिय बनाने का प्रयास किया गया है।

अभ्यास कार्य

1. स्थानीय परिवारों से सम्बद्ध आँकड़ें उपलब्ध होने से किसी शाला को क्या–क्या लाभ हो सकते हैं?
2. शासकीय स्कूलों में स्वयंसेवकों व अतिथि शिक्षकों द्वारा पढ़ाए जाने के बारे में आपके क्या विचार हैं?
3. बाल मज़दूरी करने वाले बच्चों को शाला भेजने हेतु मनाने के लिए एम.वी. फाउंडेशन के कार्यकर्ताओं ने अभिभावकों के समक्ष क्या–क्या तर्क रखे होंगे?
4. न पढ़ने वाले बच्चों को शिक्षा की मुख्याधारा में जोड़ने के लिए सेतु पाठ्यक्रम जैसा कार्यक्रम क्यों ज़रूरी है?
5. अगर इन बच्चों को सीधे स्कूल की पहली कक्षा में दाखिल कर दिया जाता तो इससे उनकी शिक्षा पर क्या असर पड़ता?
6. बच्चों के अखबार उनके शिक्षण में किस–किस प्रकार सहायक हो सकते हैं?

दत्त कार्य

1. बाल मज़दूरी के विविध स्वरूपों का उल्लेख करते हुए बताएँ कि यह बच्चों को कैसे प्रभावित करती है?
2. आवासीय सेतु पाठ्यक्रम की व्यवहार्यता के सम्बन्ध में एक समालोचनात्मक टीप लिखिए।

परियोजना कार्य

अपनी तहसील के इलाके में व्याप्त बाल मज़दूरी के प्रकारों का पता लगाएँ। उनका वर्गीकरण करें और उन बच्चों को शाला में लाने की प्रक्रिया की रुपरेखा बनाएँ।

सहायक पठन सामग्री

1. *Improving Government Schools*; Edited by – Mandira Kumar & Padma S. Sarangapani; Published by - Books for Change; 2005.

2. *सामाजिक बदलाव के लिए शिक्षाः एमवीएफ और बालश्रम*; सुचेता महाजन; नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया; 2009.

इकाई 6

शाला का संस्थागत रूप

पठन सामग्री 17. अच्छी शाला की कल्पना
पठन सामग्री 18. भारत में स्कूल शिक्षा का ढाँचा
पठन सामग्री 19. शालाओं के प्रकार और सार्वभौमिक शिक्षा की चुनौती
पठन सामग्री 20. शाला प्रबन्धन में सामुदायिक सहभागिता
पठन सामग्री 21. कक्षा का ढाँचा कितना उचित
पठन सामग्री 22 .लोकतांत्रिक विद्यालय
पठन सामग्री 23 .अध्यापक और समाज

शाला का संस्थागत रूप

इकाई परिचय

हमने पिछली इकाईयों में देखा था कि शाला आधुनिक युग के अति महत्वपूर्ण संस्थाओं में से एक है और इस युग की मुख्य विशेषताओं से गहराई से जुड़ी हुई है। हमने यह भी देखा कि शाला समाज में दो विपरीत तरह की भूमिकाएँ निभाती है। एक ओर शाला समाज में व्याप्त भेदभावों को बनाए रखने में मदद करती है तो दूसरी ओर वह उन्हें चुनौती देने और बदलने में मदद भी कर सकती है।

इस कारण ये बातें बहुत महत्वपूर्ण हो जाती हैं कि इस पर किसका नियंत्रण है? उसके उद्देश्य और क्रियाकलाप कौन किस तरह तय करेगा? कौन इसके खर्च का वहन करेगा?

इस प्रकार, शाला के एक सामाजिक संस्था होने के बावजूद शिक्षण कार्य वास्तव में शिक्षक और छात्रों के बीच एक निजी रिश्ता है। कक्षा में शिक्षक और छात्रों के बीच के संवाद में बाहरी लोग सीधे तौर पर हस्तक्षेप नहीं कर पाते हैं। इसी कारण शालेय शिक्षण में शिक्षक की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाती है। शिक्षक किस हद तक स्वतंत्र है और स्वायत्ततापूर्ण निर्णय ले सकता है? शाला के शिक्षक मिलकर क्या निर्णय ले सकते हैं? किस सीमा तक अपने काम पर खुद नियंत्रण रख सकते हैं? वे बाहरी समाज की ज़रूरतों को किस तरह समझते हैं और किस तरह अपने काम को उनसे प्रभावित होने देते हैं, ये सब विचारणीय मुद्दे हैं।

स्कूल के बाहर समाज के कई वृत्त हैं – पालकों का समूह, गाँव या मोहल्ला का समाज, वर्ग–जातियों में बँटा व्यापक समाज, राष्ट्र, अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाएँ, ये सब किसी न किसी रूप में शाला में हस्तक्षेप करते हैं। शिक्षक इन सब विरोधाभासी ताकतों के प्रभावों को आत्मसात करते हुए अपनी व्यूहरचना करता है और कक्षा में प्रवेश करता है। इस इकाई में हम हमारी शालाएँ किस तरह के ढ़ाँचों के तहत काम करती हैं और इनका शिक्षण–कार्य के लिए क्या निहितार्थ है, आदि बातों पर हम विचार करेंगे।

पठन सामग्री 17

अच्छी शाला की कल्पना

अध्याय की रूपरेखा

सामान्य परिचय
अध्याय से उद्देश्य
शीर्षक तथा उप–शीर्षक
– शाला है कि जेलखाना
– एक भारतीय अध्ययन
– कारगर शाला
शाला के उद्देश्य तय करना
शाला नेतृत्व
शाला में सुरक्षित माहौल
आकलन
अभ्यास कार्य
दत्त कार्य
परियोजना कार्य

अध्याय के उद्देश्य

1. एक अच्छी शाला कैसी हो– इस पर विचार करना

2. भारत में शालाओं की गुणवत्ता पर हुए कुछ शोधों से परिचय पाना

3. अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययनों में उभरे कारगर शाला के लक्षणों पर विचार करना

4. अपनी शाला की गुणवत्ता सुधार के लिए योजना बनाना

सामान्य परिचय

हम यहाँ आदर्श शाला की बात नहीं कर रहे हैं मगर एक अच्छी शाला जो व्यवहार में सम्भव है। आपने कई अच्छी शालाओं को देखा होगा। क्या आप उन शालाओं की एक सूची बना सकते हैं और तत्वों को गिना सकते हैं जिनके आधार पर आप किसी शाला को अच्छी मानते हैं। आप जितने विस्तार में लिख सकते हैं, उतना लिखने का प्रयास करें।

वहाँ किस तरह का शिक्षण कार्य होगा? तथा शिक्षण में किन बातों पर ज़ोर होगा? वहाँ के संसाधन, वहाँ के शिक्षक... वहाँ किस तरह के छात्रों को आगे बढ़ने के लिए मदद की जाएगी (मेधावी, धीमी गति से अध्ययन करने वाले, दलित, सम्भ्रान्त...) उस शाला का अपने समुदाय से क्या रिश्ता होगा... शाला सम्बन्धित निर्णय, उसका वित्तीय प्रबन्धन कैसे और कौन करेगा...?

अपना आलेख लिखने के बाद इसे अपने साथियों के साथ अदला–बदली कीजिए और एक–दूसरे के विचारों को समझने का प्रयास कीजिए।

इसके आधार पर कक्षा में चर्चा कीजिए कि एक अच्छी शाला के गुण क्या होंगे?

हो सकता है कि आपकी चर्चाओं से एक से अधिक तरह की छवियाँ उभर सकती हैं। उन्हें सूचिबद्ध करने का प्रयास करें। (उदाहरण के लिए, एक विचार के अनुसार अच्छी शाला वह है जहाँ सब बच्चों के शैक्षणिक उपलब्धी पर ज़ोर हो और दूसरे विचार के अनुसार अच्छी शाला वह है जहाँ पालक शाला के शिक्षण कार्य और प्रबन्धन में योगदान दें।)

शाला है कि जेलखाना?

अक्सर जिन्हें हम अच्छी शाला मानते हैं, वहाँ के अधिकांश बच्चे खुश नहीं रहते। वे या तो भयभीत रहते या प्रतियोगिता और शैक्षणिक उपलब्धि के दबाव से ग्रस्त होकर अपने बचपन से हाथ धो रहे होते हैं। कई शालाओं में अनुशासन के नाम पर बच्चों पर बड़ा आतंक होता है – यह उन्हें स्वतंत्रता से विकसित होने से रोकता है और कुण्ठित मानसिकता वाला व्यक्ति बना देता है।

कई अच्छी शालाएँ ऐसी होंगी जो किसी न किसी रूप में गरीबों व वंचित समूहों के बच्चों को वहाँ तक पहुँचने से रोकती भी होंगीं – चाहे वह फीस के माध्यम से या अन्य किसी तरीके से।

कई अच्छी शालाएँ ऐसी होंगी जहाँ माता–पिताओं को डरे–सहमे शाला के नियमों को स्वीकार करना होता है – उन पर सवाल उठाने या अपने सुझाव रखने या मनवाने के लिए कोई सम्भावना नहीं होगी।

कई अच्छी शालाएँ ऐसी भी होंगी जहाँ बच्चे खुश होंगे, अपनी क्षमता व रुचि अनुसार सीख भी रहे होंगे लेकिन वे सामान्य प्रतियोगिताओं में पिछड़ जाते हों।

कई अच्छी शालाएँ होंगी जहाँ शिक्षकों को केवल बताए गए काम करने होते हैं, वे खुद सोचकर नया नहीं कर सकते हैं।

कई अच्छी शालाएँ होंगी जहाँ बच्चों को इंजिनीयर, डाक्टर या ऊँचे अधिकारी बनने की सफल तैयारी करवाते होंगे मगर ये बच्चे खेती–किसानी, कारीगरी या घरेलू काम से कतराते होंगे।

इन सब बातों का मतलब यह है कि कई तरह की अच्छी शालाएँ होंगी जो अपने घोषित या अघोषित उद्देश्यों को लेकर चलते हैं और उन्हें पाने में सफल भी रहते होंगे।

दूसरी ओर ऐसी शालाएँ हैं जिनके स्पष्ट उद्देश्य ही नहीं हो और बिना उद्देश्य के बहती चली जाती हैं।

आपको क्या लगता है?

क्या हर शाला का अपना कोई निश्चित उद्देश्य होना चाहिए जिसकी प्राप्ति के लिए वह काम करे? या फिर सभी शालाओं को एक से उद्देश्य से काम करना चाहिए? इन सब बातों पर आप विचार–विमर्श करके एक रपट तैयार करें।

एक भारतीय अध्ययन

1989–91 के बीच अविभाजित मध्य प्रदेश में प्राथमिक शाला गुणवत्ता पर एक व्यापक अध्ययन किया गया था। इस अध्ययन में शाला के विभिन्न पहलुओं का बच्चों के सीखने पर पड़ने वाले असर का आकलन किया गया। इस अथ्ययन के निष्कर्ष का सारांश यहां प्रस्तुत है। यह मूल अंग्रेजी पुस्तक पर आधारित है।

(R Govinda & NV Varghese, Quality of Primary Schooling in India: A Case Study of Madhya Pradesh, UNESCO 1993)

1. न्यूनतम संसाधन

प्राथमिक शालओं में कुछ न्यूनतम व्यवस्थाओं की आवश्यकता है, जैसे शाला भवन, जहां हरेक कक्षा के लिए अलग कमरे हों, पर्याप्त प्रशिक्षित निर्धारित अर्हतावाले शिक्षक (हर कक्षा के लिए एक शिक्षक)। बच्चों के बैठने के लिए ठीक ठीक व्यवस्था, हर कक्ष में उपयोग लायक श्यामपट, चाक, डस्टर, सभी बच्चों के लिए पाठ्यपुस्तक और कापी पेंसिल। लेखकों का मानना था कि ये गुणवत्ता के लिए आवश्यक शर्तें हैं पर्याप्त नहीं। कई शालाएं ऐसी भी थीं जहां ये सुविधाएं थीं मगर बच्चों की उपलब्धी कम थी।

आपके अनुसार वे अन्य शर्तें क्या होंगी जिनसे छात्रों की उपलब्धि तय होती है?

इस अध्ययन में जो न्यूनतम शाला की कल्पना है, वह शिक्षा अधिकार कानून के न्यूनतम प्रावधानों से कैसे समान या भिन्न है?

क्या आपकी शाला में ये व्यवस्थाएं हैं? हरेक पहलू की समीक्षा करें।

2. सीखने सिखाने के काम में पर्याप्त समय लगाना

यह पाया गया कि छात्रों की उपलब्धि स्तर का सीधा संबंध शिक्षकों व बच्चों द्वारा सीखने सिखाने की गतिविधियों पर लगाये गये समय से है। इसका मतलब है कि गुणवत्ता बढ़ाने के लिए जरूरी है कि इस अवधि को बढ़ाया जाये और बच्चों को उचित गृह कार्य दिया जाये ताकि वे शाला के बाहर भी शैक्षणिक गतिविधियों को जारी रखें। जाहिर है कि शिक्षकों की अनुपस्थिति से यह समयावधि बहुत घट जाता है, विशेषकर एक शिक्षकीय या कम शिक्षकों वाली शालाओं में।

शाला की अवधि व सीखने–सिखाने पर लगाये गये समय, इन दोनों में क्या कोई अन्तर है

आपके शाला में शाला शुरू होने तथा बंद होने का समय क्या है। सीखना सिखाने की गतिविधियों में हर कक्षा में दिन भर में कितना समय लगाया जाता है?

आपके शाला में हर बच्चे को शिक्षकों से व्यक्तिगत शैक्षणिक चर्चा के लिए कितना समय हर दिन मिलता है?

गृह कार्य किस तरह का हो ताकि बच्चों को सीखने को भी मिले मगर बोझिल और उबाऊ न हो?

3. प्रधानाध्यापक की भूमिका

यह पाया गया कि जिन शालाओं में प्रधान पाठक हैं और वे कारगर नेतृत्व दे पाते हैं और शिक्षकों के शिक्षण कार्य का निरीक्षण कर पाते हैं वहां शैक्षणिक उपलब्धि बेहतर है। अध्ययन के समय (1991 में) प्रधान पाठक केवल बड़ी शालाओं में थे और छोटे शासकीय शालाओं में वरिष्ठ शिक्षक के पास प्रशासनिक प्रभार होता था। इस कराण ज्यादातर दूरस्थ व ग्रामीण अंचलों की छोटी शालाएं बिना नेतृत्व के काम कर रहे थे। यह देखते हुए कि इन्हीं शालाओं में सबसे जरूरतमंद बच्चे आते हैं इससे गरीब व वंचित समुदायों के बच्चों की शिक्षा बुरी तरह प्रभावित होती है। ज्यादातर शासकीय शालाओं के प्रधान पाठकों की स्थिति आम शिक्षकों से अलग नहीं है, वे उतने ही रोजमर्रा के काम में उलझे रहते हैं कि दूसरों के काम का निरीक्षण करके मार्गदर्शन देना संभव नहीं होता है। अतः शासकीय शालाओं की गुणवत्ता को बढ़ाने के लिए हर शाला में विशेष रूप से प्रशिक्षित प्रधान पाठक हों जिनके पास योजना बनाने व निरीक्षण करने के लिए पर्याप्त समय हो।

आपकी शाला में क्या प्रधान पाठक पदस्थ हैं या प्रभारी प्रधान पाठक? इनकी शाला संचालन में वास्तव में क्या भूमिका आपने अनुभव किया है?

क्या शाला को नेतृत्व की जरूरत है? अगर हां तो क्या प्रधान पाठक नेतृत्व दे सकते हैं या शाला प्रबंधन समिति?

क्या प्रधान पाठक एक महिला हो सकती है?

4. शिक्षक प्रशिक्षण

यह देखा गया कि जिन शालाओं में विभिन्न विषयों को पढ़ाने कि लिए उस विषय में प्रशिक्षित शिक्षक होते हैं वे ऐसी शालाओं से बेहतर हैं जहां एक शिक्षक कई विषयों को पढ़ाता हो। ऐसे शिक्षक किसी एक विषय के शिक्षण में गहराई से नहीं उतर पाते हैं और न ही वे अपने प्रशिक्षण का उपयोग कर पाते हैं।

क्या आपके विचार में प्राथमिक स्तर पर विषय आधारित शिक्षण होना चाहिए और हर विषय के लिए अलग शिक्षक होना चाहिए? अपने अनुभव व समझ के आधार पर लिखें।

क्या प्रशिक्षण से शिक्षण कार्य में लाभ होता है?

5. शिक्षण विधि

जिन शालओं में बच्चों की उपलब्धि स्तर अधिक हैं वहां ये शिक्षण विधियां उपयोग में लाये जाते हैः

क. नई अवधारणाओं को श्यामपट की सहायता से समझाना

ख. बच्चों से प्रश्न पूछकर कक्षा की गतिविधियों में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करना

ग. नियमित रूप में कक्षा कार्य करवाना ताकि पर्याप्त अभ्यास मिले

घ. नियमित रूप से गृह कार्य देना और जांचना

ड. अगले पाठ पढ़ाने से पहले पिछले पाठ की पुनरावृत्ति करना

क्या आप इस सूची में और कुछ जोड़ना चाहेंगे या किसी बात को हटाना चाहेंगे? कारण सहित लिखें।

6. सहायक शिक्षण सामग्री

जिन शालाओं की उपलब्धि स्तर बेहतर है वहां सहायक शिक्षण सामग्री का भरमार देखा गया है। शायद हर शासकीय शाला में इतना खर्च करना संभव न हो मगर शिक्षकों को स्थानीय सामग्री से शिक्षण सामग्री निर्मित करने के लिए प्रोत्साहित व प्रशिक्षित किया जा सकता है।

7. बच्चों का आकलन

जिन शालाओं में बच्चों का अकादमिक प्रदर्शन कमजोर रहा है वहां के शिक्षकों को अपने ही छात्रों के शैक्षणिक स्तर व उपलब्धि का ज्ञान नहीं है क्योंकि वे समय समय पर उनके सीखने का मूल्यांकन नहीं कर

रहे हैं। अतः यह जरूरी है कि शिक्षक बच्चों का समय समय पर उचित आंकलन करके उनके सीखने पर और उनकी कमजोरियों पर नजर रखें।

क्या आप परीक्षा और आकलन में कोई अन्तर देखते हैं?

क्या आप बता सकते हैं कि आपकी कक्षा में कौन सा छात्र क्या कर पाते हैं और क्या नहीं?

क्या आप शिक्षण योजना बच्चों का आकलन करके बनाते हैं या अपने अंदाज से?

आर गोविंदा और वरगीज का यह अध्ययन लगभग 25 वर्ष पुराना है। शालाओं की परिस्थिति में आप क्या सुधार देख पाते हैं?

कारगर शाला

कारगर शाला क्या है, उसके लक्षण क्या हैं, इस पर विकसित देशों में भी सतत अध्ययन चल रहे हैं। इनसे कुछ सामान्य बातें उभरते हैं जिन्हें हम यहां आपके विचारार्थ दे रहे हैं।

1. शाला का उद्देश्य निरूपित करना

संस्थाएँ किसी न किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बनाई जाती हैं, शाला भी अपवाद नहीं है। शालाओं का कुछ तो सामान्य उद्देश्य होगा, जैसे – बच्चों को शिक्षित करना। लेकिन किन बच्चों को शिक्षित करना? शिक्षा माने क्या? कैसे शिक्षित करना? – इन बातों को लेकर बहुत मतभेद और विभिन्नता हो सकती है। इन उद्देश्यों को तय करने में भी अलग अलग तरीके अपनाए जा सकते हैं। एक तरीका यह हो सकता है कि शासन के कुछ उच्च पदाधिकारी कुछ राष्ट्रीय विशेषज्ञों की मदद से सभी शासकीय शालाओं के लिए उद्देश्य तय कर सकते हैं। या फिर किसी शैक्षणिक विचारधारा से प्रेरित लोगों का समूह मिलकर उस विचार के अनुरूप शाला बनाने का निर्णय ले सकते हैं या फिर किसी गाँव या मोहल्ले के निवासी और शिक्षक मिलकर तय कर सकते हैं कि इस शाला में किन उद्देश्यों के लिए काम किया जाएगा? किन–किन बच्चों पर विशेष ध्यान देना है? उन्हें आगे किस काम के लिए तैयार करना है? उसके लिए कौन क्या मदद करेगा? आदि। यह भी हो सकता है कि किसी शाला के उद्देश्य में इन तीनों बातों का मिश्रण हो।

2. शाला नेतृत्व

उद्देश्यों की स्पष्टता नेतृत्व को बल देती है। शाला के लिए कार्य कर रहे सभी लोगों को काम बाँटना, उनके काम में सहयोग देना, समस्याओं का निदान करना आदि नेतृत्व से अपेक्षित है। यह तभी सम्भव है कि शाला में कोई मंच या पद हो जिसे यह अधिकार प्राप्त हो और इसके लिए समय और उत्तरदायित्व हो। शाला नेतृत्व का एक महत्वपूर्ण काम है शाला के सभी लोगों को (शिक्षक, छात्र, पालक, अन्य कर्मचारी, समुदाय आदि) उन मूल उद्देश्यों के प्रति संवेदनशील बनाए रखना और उन्हें ध्यान में रखते हुए समस्याओं का निदान करना।

3. शाला में सुरक्षित माहौल

आम तौर पर शालाओं की सबसे बड़ी समस्या है उद्देश्यों के अनुरूप महौल का न होना। हिंसा (शिक्षक व छात्रों द्वारा) अव्यवस्था, देखरेख की कमी – ये सारी बातें बीमार शाला की ओर इंगित करती हैं, जहाँ किसी प्रकार के व्यवस्थित शिक्षण की सम्भावना कम हो जाता है। ऐसे माहौल में बच्चे व शिक्षक सुरक्षित महसूस नहीं करेंगे और न ही वे कोई शैक्षणिक कार्य कर सकते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि अनुशासन, जिसमें सब बच्चे चुप और सहमे हों, वह अधिक उपयोगी है। दरअसल कड़ा अनुशासन हिंसात्मक रिश्तों का ही बाह्य रूप है। उद्देश्यों की स्पष्टता और सबकी स्वीकृति के साथ जो काम होता है, वह वास्तविक अनुशासन को बढ़ावा देता है।

शाला में सुरक्षा का एक और पक्ष है उन छात्रों के प्रति भावना जो किसी न किसी रूप में जोखिम श्रेणी में है (रिस्क ग्रूप)। चाहे वे अल्पसंख्यक समुदाय से हों या निचली जाति के हों या अन्यथा सक्षम हों या धीमी गति से सीखने वाले हों। अगर ये बच्चे शाला में सुरक्षित और सहज महसूस नहीं करते तो अधिक

सम्भावना है कि वे शैक्षणिक कार्य से विमुख हो जाएँ। आपको याद होगा बारबियाना के बच्चों का कहना था कि शाला ऐसी हों जैसे कि वे ऐसे ही बच्चों के लिए बनी हों और उनके सीखने के बाद ही आगे बढ सकता है।/उनके सीखने के बाद ही शिक्षक आगे बढ सकता है।/उनके सीखने के बाद ही बाकी बच्चे आगे बढ सकते हैं।/उनके सीखने के बाद ही कक्षा आगे बढ सकती है।

शाला माहौल का दूसरा पक्ष है देखरेख। शाला के हर पहलू से लगना चाहिए कि उस पर कोई चिन्तित है और उसे व्यवस्थित रखने का प्रयास कर रहा हो। अतः गन्दगी, टूट–फूट, अनदेखे कोने किसी न किसी रूप में इस बात को व्यक्त करते हैं कि उस संस्था में दिशा और नेतृत्व की कमी है। एक अच्छी शाला में गन्दगी हो सकती है और अव्यवस्था भी लेकिन वह किसी सोची–समझी नीति के तहत होगी और यह बात सबको स्पष्ट होगी कि इसका शैक्षणिक मकसद क्या है?

4. आकलन

आकलन का मकसद बच्चों को पास या फेल करना नहीं है बल्कि यह देखना कि शाला अपने उद्देश्यों की प्राप्ति किस प्रकार कर रही है और उसकी रणनीति में क्या फेरबदल करना है। इसके लिए जरूरी है कि उद्देश्यों की स्पष्ट जानकारी और स्वीकृति शाला परिवार के सब लोगों के बीच हो। इससे सब खुद के काम का आकलन भी कर पाएँगे और जो आकलन संस्था द्वारा किया जाएगा उसे भी बेहतर समझ पाएँगे। इस तरह आकलन छात्रों व शिक्षकों को भयभीत करने या छल–कपट करने के मौके न बनकर उन्हें अपने काम को बेहतर समझने में मदद कर सकता है।

शालाओं की सफलता को आँकने तथा उसके कारण समझने के कई प्रयास हुए हैं। इनकी आम सहमति है कि वे शालाएँ अधिक सफल हैं जिनके उद्देश्यों में स्पष्टता हो और उद्देश्य के प्रति सभी की समझ और स्वीकृति हो; जिनमें कारगर नेतृत्व हो, जो उन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए रणनीति बनाए और क्रियान्वयन करने का प्रयास करे; जिनमें सीखने व सिखाने वालों – दोनों के लिए हिंसा रहित, सुरक्षित व संवेदनशील माहौल हो; जिनमें उद्देश्यों की प्राप्ति का आकलन सतत किया जाए और सबके साथ साझा किया जाए।

अभ्यास कार्य

1. किसी शाला की गुणवत्ता आप किस तरह आंकेंगे – उसके संसाधन के आधार पर, उसके शिक्षकों की शैक्षिणिक स्तर पर, शिक्षण के तरीकों पर, छात्रों की उपलब्धि पर, पालकों की हैसियत पर, कितने छात्र उच्च पदों में हैं? इस पर, अपना मापदण्ड पेश करें और अपने समर्थन में तर्क भी दें।

2. अक्सर लोगों का मानना है कि गुणवत्ता केवल निजी शालाओं में हो सकता है, शासकीय शालाओं में नही। आप इस मत से कितना सहमत या असहमत हैं, कारण सहित लिखें।

3. छात्रों की शैक्षणिक उपलब्धि शाला के शिक्षण पर निर्भर है कि पालकों के पृष्ठभूमि पर?

दत्त कार्य

1. अपनी शाला के गुणवत्ता सुधार के लिए एक कार्यक्रम तैयार करें और इस संबंध में शाला के अन्य शिक्षकों से चर्चा करके उनकी भी राय के साथ अपना प्रतिवेदन दें।

परियोजना कार्य

1. प्रधान पाठक की भूमिका के बारे में दो सामान्य शिक्षक, दो शिक्षका, चार छात्र और दो प्रधान पाठकों से चर्चा कीजिये और उनके अलग अलग मतों की तुलना कीजिये।

2. आप जिस शाला को अपेक्षाकृत अच्छा मानते हैं, वहां जाकर शिक्षकों व छात्रों व शाला प्रधान से चर्चा करें और एक रिपोर्ट तैयार करें। उस शाला ने आपको क्यों प्रभावित किया, वह शाला अच्छा क्यों बन पाया और क्या उससे कुछ सीख अन्य शालाओं को भी मिल सकता है...

पठन सामग्री 18

भारत और छत्तीसगढ़ में शाला के संस्थागत ढाँचे की समीक्षा

अध्याय की रूपरेखा

अध्याय के उद्देश्य
संवैधानिक प्रावधान
केन्द्रीय व्यवस्थाएँ
वित्तीय प्रावधान
– शासन कितना खर्च करता है?
राज्य स्तर पर शिक्षा का प्रबन्धन
– आदिमजाति एवं अनुसूचित जाति विकास विभाग
– पंचायत विभाग
शाला स्तर पर
शालाओं के प्रकार
– शासकीय शालाओं का खण्डित और पीरामिडी ढाँचा
– शासकीय शालाओं में विविधता
– राज्य सरकार द्वारा संचालित शालाएँ
– भारत में निजी शालाएँ
– शिक्षा अधिकार कानून और निजी शालाएँ
दत्त कार्य
परियोजना कार्य
सहायक पठन सामग्री

अध्याय के उद्देश्य

1. शाला के स्वरूप से साक्षात्कार करना।
2. शालाओं के विविध प्रकारों व स्तरों को समीक्षात्मक दृष्टि से देखना।
3. सार्वभौमिक शिक्षा के लक्ष्य के मद्देनज़र शालाओं की उपलब्धियों व सीमाओं से परिचय करना।
4. केन्द्रीय स्तर पर शालाओं के विविध स्वरूप, संचालन आदि की जानकारी प्राप्त करना।
5. राज्य स्तर पर शालाओं के विविध स्वरूप, संचालन आदि की जानकारी प्राप्त करना।
6. शासन द्वारा स्थापित विविध प्रकारों की शालाओं के उद्देश्यों को जानना और गुणवत्ता, संसाधनों आदि `को तुलनात्मक दृष्टि से देखना।
7. निजी शालाओं के बहुरूपी स्वरूप को पहचानना।
8. विविध स्तरों की शालाओं की मौजूदगी से समाज पर पड़ने वाले असर का आकलन कराना।
9. गरीब और वंचित तबके के बच्चों पर शिक्षा के अधिकार कानून के प्रभाव की समीक्षा करना।
10. एक शिक्षक के रूप में शैक्षिक जगत् में अपने स्थान और भूमिका के महत्व का अहसास करना।

संवैधानिक प्रावधान

संविधान के तहत शिक्षा के विषय पर केन्द्र सरकार व राज्य सरकार दोनों कानून बना सकते हैं और अगर दोनों के बीच विरोधाभास हो ता केन्द्रीय कानून को ही माना जाएगा। आम तौर पर प्रारम्भिक स्तर पर जनसाधारण के लिए शिक्षा की व्यवस्था करना राज्य सरकार का काम है। शिक्षा अधिकार कानून में यह भी कहा गया है कि राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा बनाने की ज़िम्मेदारी केन्द्र सरकार की होगी। अपेक्षा यह है इसके अनुरूप राज्य सरकारें अपने प्रदेश की पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें विकसित करेंगी।

राष्ट्रीय स्तर पर केन्द्र व राज्य सरकारों को सलाह देने के लिए सेंट्रल एडवाईजरी बोर्ड फार एजुकेशन (केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार समिति) बनाई गई है जिसमें केन्द्र सरकार, राज्य सरकारें, शिक्षाविद् आदि सहभागी हैं। यह समिति साल में कम से कम एक बार मिलती है और देशभर में शिक्षा की स्थिति तथा शिक्षा नीति आदि की समीक्षा करती है और अपनी सलाह सम्बन्धित सरकारों को देती है।

केन्द्रीय व्यवस्थाएँ

केन्द्र सरकार ने शिक्षा के मामलों के लिए एक मंत्रालय बनाया है जिसका नाम, मानव संसाधन विकास मंत्रालय है। इस मंत्रालय के तहत राष्ट्रीय शैक्षिक शोध एवं प्रशिक्षण परिषद बनी हुई है जो राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा व पाठ्यक्रम बनाती है और उनके अनुरूप पाठ्यपुस्तकें व अन्य शैक्षिक सामग्री का निर्माण करवाती है। इसके अलावा राष्ट्रीय स्तर पर केन्द्रीय उच्चतर माध्यमिक शिक्षा बोर्ड बनाया गया है जो बारहवीं कक्षा के लिए परीक्षा लेकर प्रमाण–पत्र जारी करती है। राष्ट्रीय शिक्षक शिक्षा आयोग भी गठित हुआ है जो शिक्षक शिक्षा के मापदण्ड और शिक्षकों की न्यूनतम योग्यता स्थापित करता है। ये संस्थाएँ एक तरह से पूरे देश के लिए मानक स्थापित करती हैं।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय के तहत समय समय पर देशभर में शिक्षा के उन्नयन के लिए कार्यक्रम उठाए जाते हैं जैसे वर्तमान में 'सर्व शिक्षा अभियान' और 'राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान' चल रहे हैं। इन कार्यक्रमों को लागू करने के लिए राज्य सरकरों को वित्तीय अनुदान केन्द्र सरकार देता है।

वित्तीय प्रावधान

सरकार को कर आदि से जो आय प्राप्त होती है या फिर ऋण आदि से जो पैसे उपलब्ध होते हैं उससे वह शिक्षा व अन्य क्षेत्रों में खर्च करती है। वह केन्द्र सरकार की आय का एक हिस्सा राज्य सरकारों को देती है और इसके अलावा राज्य सरकार अपने करों आदि से आय अर्जित करती है। पिछले कुछ वर्षों र्से केन्द्र सरकार एक विशेष कर (शिक्षा उपकर) के माध्यम से आय अर्जित कर रही है, जिसका प्रमुख उद्देश्य है 'शिक्षा का अधिकार कानून' को लागू करने के लिए आवश्यक संसाधन जुटाना। इसका भी एक अंश राज्य सरकारों को दिया जाता है और बाकी 'सर्व शिक्षा अभियान' जैसे कार्यक्रमों को लागू करने के लिए दिया जाता है।

जो भी हो, केन्द्र सरकार द्वारा किया गया खर्च राज्य सरकारों के शिक्षा पर किए गए खर्च से काफी कम होता है क्योंकि सार्वजनिक शिक्षा मुख्य रूप से राज्य सरकारों की ज़िम्मेदारी मानी गई है। अतः शाला भवनों की मरम्मत, शिक्षकों व अधिकारियों का वेतन आदि सामान्य खर्च राज्य सरकार ही वहन करती है।

शासन शिक्षा पर कितना खर्च करता है?

2010–11 में केन्द्र व राज्य सरकारों ने मिलकर पूरे देश में लगभग 2,44,156 करोड रुपए खर्च किए जो कि कुल शासकीय खर्च का 11.4 प्रतिशत था।

हमारे देश में जितना उत्पादन होता है (जिसे सकल घरेलू उत्पादन कहते हैं) शासन उसका लगभग 3.13 प्रतिशत शिक्षा पर खर्च करता है, जो काफी कम माना जाता है। विकसित देशों में यह अनुपात लगभग छः प्रतिशत होता है। कई विद्वानों का आकलन है कि किसी भी देश में शिक्षा पर उस देश के सकल घरेलू उत्पादन में से कम से कम 6 से 8 प्रतिशत शिक्षा पर खर्च करना होता है। इसका मतलब यह है हमारे देश के लोग अपने जेब से बाकी तीन या चार प्रतिशत खर्च कर रहे हैं। यह खासकर गरीब लोगों के लिए बहुत बड़ा बोझ बन जाता है। इस कारण लगातार यह माँग रही है कि शासन सकल घरेलू उत्पादन की कम से कम 6 प्रतिशत राशि शिक्षा पर खर्च करे।

शासन द्वारा सकल घरेलू उत्पादन का 6 प्रतिशत खर्च करने का मतलब है कि शिक्षा पर शासकीय खर्च लगभग दुगना हो जाएगा। क्या आपको यह ज़रूरी लगता है?

क्या खर्च बढ़ाए बिना शिक्षा में गुणवत्ता और सब के लिए शिक्षा सम्भव नहीं है? क्या खर्च बढ़ाने मात्र से शिक्षा में गुणवत्ता आ पाएगी – इन बातों पर कक्षा में वाद–विवाद करें और अपने विचार लिखें।

राज्य स्तर पर शिक्षा का प्रबन्धन

राज्य में स्कूली 'शिक्षा मंत्रालय' होता है जहाँ शिक्षा संम्बंधी नीति तथा वित्तीय योजनाएँ बनाई जाती हैं। यह शिक्षा मंत्री के निर्देशन में काम करता है और इस मंत्रालय का संचालन स्कूली शिक्षा सचिव करते हैं।

शाला की सामान्य व्यवस्था 'लोक शिक्षण निदेशालय' द्वारा की जाती है, जो शिक्षकों की नियुक्ति, वेतन, शालाओं की देखरेख आदि का काम देखता है। इस निदेशालय के अधीन ज़िला शिक्षा अधिकारी व विकास खण्ड शिक्षा अधिकारी होते हैं।

राज्य स्तर पर 'राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद' गठित है, जिसका प्रमुख काम शालेय शिक्षण के अकादमिक पक्षों पर काम करना है। पाठ्यचर्या व पाठ्यक्रम निर्माण, पाठ्यपुस्तक निर्माण, मूल्यांकन के तरीके, शैक्षिक शोध और नए प्रयोग करना, शिक्षकों का प्रशिक्षण आदि इसमें शामिल हैं।

केन्द्र की ही तरह राज्य में भी 'राज्य माध्यमिक शिक्षा मण्डल' है जिसकी प्रमुख ज़िम्मेदारी उच्चतर माध्यमिक स्तर पर परीक्षा लेना तथा प्रमाण–पत्र जारी करना है।

केन्द्र सरकार द्वारा संकल्पित योजना, जैसे – सर्व शिक्षा अभियान और राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान के राज्य में क्रियान्वयन के लिए एक स्वतंत्र ढाँचा बनाया गया है जिसे सर्व शिक्षा अभियान – राजीव गांधी शिक्षा मिशन के नाम से जाना जाता है। इस ढ़ाँचे के अन्तर्गत हर ज़िले में ज़िला परियोजना अधिकारी और विकास खण्ड स्तर पर विकास खण्ड परियोजना समन्वयक काम करते हैं। इनकी मुख्य ज़िम्मेदारी इन केन्द्रीय कार्यक्रमों का क्रियान्वयन है।

आदिमजाति एवं अनुसूचित जाति विकास विभाग

इस विभाग के अधीन आदिवासी विकासखण्डों में शालाएँ, व आश्रम शालाएँ चलाई जाती हैं। राज्य में कुल 86 आदिवासी विकास खण्ड हैं। इन शालाओं का संचालन ज़िला स्तर पर इस विभाग के सहायक आयुक्त करते हैं।

पंचायत विभाग

पिछले कुछ वर्षों से शिक्षकों की नियुक्ति राज्य शासन न करके ज़िला, जनपद व नगर पंचायतें कर रही हैं। इन शिक्षकों का वेतन पंचायत विभाग से निकलता है और इनकी सेवा शर्तें भीं यही विभाग तय करता है। लेकिन इन शिक्षकों के काम का निर्धारण शिक्षा विभाग करता है।

शाला स्तर पर

शाला स्तर पर शाला का संचालन प्रधान पाठक करते हैं या उनके अनुपस्थिति में प्रभारी प्रधान पाठक करते हैं। उनके काम हैं – शाला की व्यवस्था बनाए रखना, शिक्षकों के बीच काम का वितरण, समय सारिणी बनाना, शिक्षकों के कामकाज पर नज़र रखना, शाला प्रबन्धन समिति की बैठकें बुलाना आदि। एक तरह से वे संस्था के सुचारु रूप से चलने के लिए ज़िम्मेदार हैं। प्रधान पाठक ज़िला व विकास खण्ड शिक्षा अधिकारी के आदेशों का पालन करते हैं उन्हें अपने कामकाज का प्रतिवेदन देते हैं।

हम आगे के एक अध्याय में शाला प्रबन्धन समिति की भूमिका पर विचार करेंगे।

शालाओं के प्रकार और सार्वभौमिक शिक्षा की चुनौती

पिछले दो दशकों में हमारे देश में प्रारम्भिक शिक्षा (कक्षा 1 से 8) की माँग लगातार बढ़ती जा रही है और धीरे–धीरे दुर्गम इलाकों में रहने वाले तथा उपेक्षित समुदायों के लोग शिक्षा की महत्व को समझकर अपने बच्चों को स्कूल भेजने लगे हैं।

तालिका 1 में हम कुछ सरल आँकडे पेश कर रहे हैं – पहला आँकडा सन् 1950 का है जब अपना देश आज़ाद हुआ ही था। दूसरा है सन् 2000–01 का और तीसरा है 2005–06 का।

2000 से 2005 के बीच केवल पाँच वर्षों में दर्ज संख्या में लगभग 20 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। इसके पीछे प्रमुख कारण उन तबकों का शाला में पहुँचना है जो पहले शिक्षा से वंचित थे। शालाओं की संख्या में भी 25 प्रतिशत की बढ़ोतरी दिखती है, हालाँकि शिक्षकों की संख्या में वृद्धि इसके समतुल्य नहीं दिखती है।

शिक्षा की इस बढती माँग को पूरे करने के लिए किस तरह की शालाएँ उपलब्ध हैं। क्या वे शिक्षा में सम्मिलित हो रहे तबकों की तमन्नओं को पूरा कर पाएँगे। चलिए देखें।

तालिका – 1 प्रारम्भिक शालाओं में बच्चों की दर्ज संख्या और शाला संख्या सन् 1950 से 2006 तक

(लाखों में)

वर्ष	दर्ज संख्या	शाला संख्या	शिक्षक संख्या
1950–1	222	2.23	6.2
2000–1	1566	8.45	37.5
2005–6	1842	10.61	38.5

(Source: Government of India, Selected Educational Statistics 2004-5)

शालाओं के प्रकार

अपने देश में कई तरह की शालाएँ हैं जिनकी संस्थागत व्यवस्थाएँ भी भिन्न–भिन्न हैं। इनमें शायद सबसे महत्वपूर्ण अन्तर है शासकीय व निजी शालाओं के बीच। हम आगे देखेंगे कि किस प्रकार इनमें भी आन्तरिक विभेद हैं। दोनों तरह की शालाओं में बुनियादी फर्क यह है कि निजी शालाओं में बच्चों को दाखिला लेने के लिए फीस और अन्य खर्च करना पड़ता है और शासकीय शालाओं में कम खर्च होता है। हालाँकि यह कहा जाता है कि शासकीय शालाओं में शिक्षा निःशुल्क दी जाती है और यह शिक्षा अधिकार कानून में निहित है – फिर भी, सर्वेक्षणों में यह सिद्ध हुआ है कि शासकीय शालाओं में भी पालकों को खर्च करना पड़ता है। वर्ष 1996 में प्रोब टीम द्वारा किए गए सर्वेक्षण के आधार पर कहा गया है कि प्राथमिक शिक्षा पर एक बच्चे पर प्रतिवर्ष कम से कम रु. 318.00 खर्च होता है। तीन बच्चों वाला एक मज़दूर परिवार के लिए इसका मतलब है कि वह साल में 40 दिन दिहाड़ी काम करने से इन बच्चों को स्कूल भेज सकते हैं। (प्रोब दल, प्रारम्भिक शिक्षा, एक सार्वजनिक रिपोर्ट (ओ.यू.पी. 2002)

लगभग दस साल बाद 2005 में उत्तर प्रदेश में किए गए एक सर्वेक्षण में ये आँकड़े उभरकर आए –

तालिका 2. परिवार द्वारा शिक्षा पर प्रति छात्र सालाना खर्च

(फीस, पुस्तक, कापी, यातायात, गणवेश, ट्यूशन आदि सहित)(आँकड़े रुपयों में)

	प्राथमिक	माध्यमिक
शासकीय शाला	रु 500	रु 1,579
सस्ती निजी शाला	रु 1.373	रु 1,969
मध्यम निजी शाला	रु 2,427	....
महंगी निजी शाला	रु 6,174	रु 5,924

इन आँकड़ों से स्पष्ट होगा कि शिक्षा निःशुल्क कतई नहीं है। विशेषकर गरीब, मज़दूरी पर आश्रित परिवारों के लिए यह खर्च उनकी क्षमता के बाहर ही है। इन आँकड़ों से यह भी स्पष्ट होगा कि शासकीय शालाओं की तुलना में निजी शाला में पढ़ाना किसी भी पालक के लिए कम से कम तीन गुना अधिक खर्चीला है। यह भी उल्लेखनीय है कि यह खर्च उच्च माध्यमिक स्तर पर और अधिक बढ़ जाता है। कुल मिलाकर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अगर अपने देश के अत्यधिक गरीब तबके के बच्चों को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा उपलब्ध कराना है तो यह शासकीय शालाओं के माध्यम से ही सम्भव है न कि निजी शालाओं से।

अब देखें कि किस तरह की शालाएँ शिक्षा की बढ़ती हुई माँग को पूरी कर रही हैं? यहाँ हम दो आँकड़ों के समूहों का अध्ययन करेंगे – सन् 1973–74 का और सन् 2004–05 का। तालिका 3.

तालिका 3. सन् 1973–4 तथा 2004–5 में शालाओं का वितरण (प्रतिशत में)

शाला प्रकार	वर्ष	शासकीय	शासकीय सहायता प्राप्त	निजी
प्राथमिक	1973–74	93.3	5.0	1.6
	2004–05	90.2	2.6	7.2
माध्यमिक	1973–74	77.6	17.8	4.7
	2004–05	72.2	6.4	21.4
उच्च माध्यमिक	1973–74	37.4	57.0	5.6
	2004–05	41.1	29.4	29.6

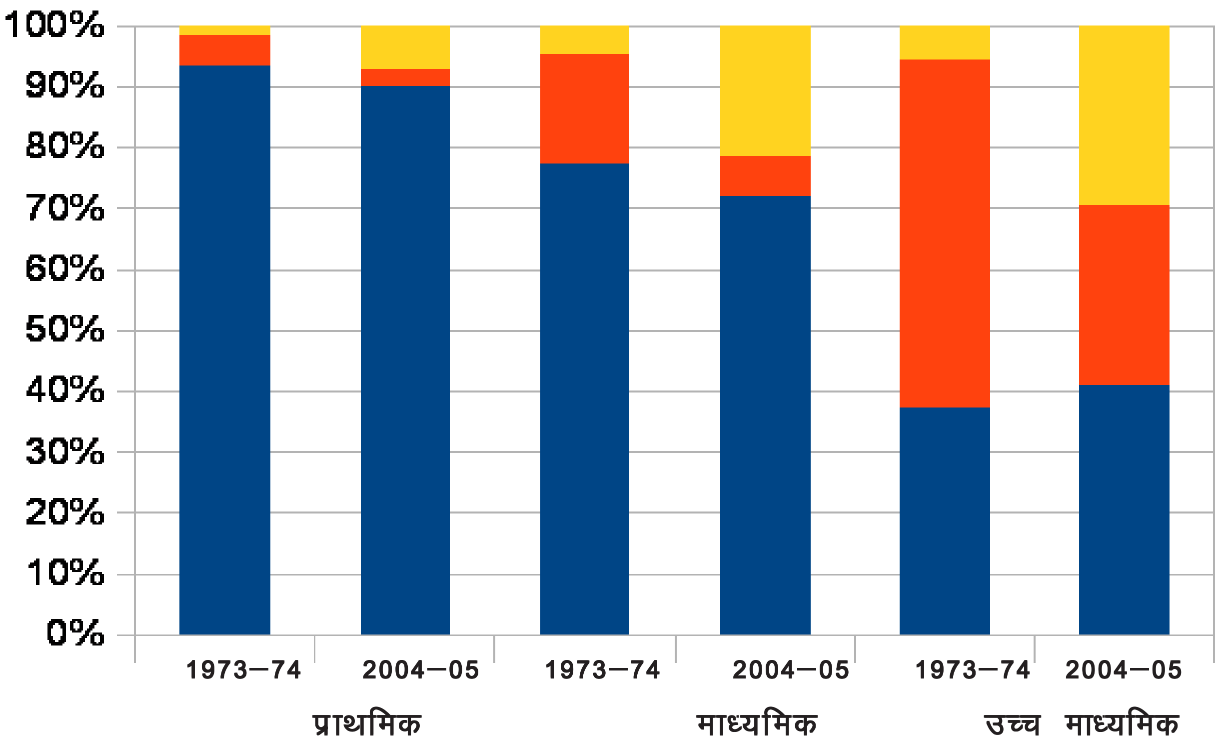

इन आँकडों से तीन महत्वपूर्ण बातें उभरती हैं–

1. शासकीय तथा शासकीय अनुदान प्राप्त शालाओं का अनुपात में गिरावट आयी है। (ध्यान रहे हम यहाँ अनुपात की बात कर रहे हैं, कुल संख्या की नहीं। इस दौरान कुल शालाओं की संख्या में बढ़ोतरी हो रही थी।) निजी अनुदान न लेने वाली शालाओं का अनुपात का हर स्तर में वृद्धि हो रही है। खासकर उच्च माध्यमिक और माध्यमिक स्तर पर।

2. माध्यमिक और उच्च माध्यमिक स्तर पर निजी शालाओं की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण होती जा रही है। यानी जो नई खुली शासकीय शालाएँ हैं वे केवल प्राथमिक स्तर पर केन्द्रित हैं।

3. शासकीय अनुदान प्राप्त निजी शालाओं का ह्रास हो रहा है।

जो लोग इन सरकारी आँकडों का अध्ययन करते हैं वे बताते हैं कि निजी शालाओं की वास्तविक बढ़ोतरी इन आँकड़ों में नहीं झलकती है। उनका कहना है कि बहुत सारी निजी शालाएँ शासन द्वारा पंजीकृत नहीं हैं, इस कारण उनसे सम्बन्धित आँकड़े शासकीय रिपोर्टों में शामिल नहीं हैं। जगह–जगह हुए

ज़मीनी सर्वेक्षणों से पता चलता है कि 40 से 80 प्रतिशत निजी शालाएँ विधिवत पंजीकृत नहीं है। अतः हो सकता है कि निजी शालाओं का वास्तविक अनुपात तालिका में दिए आँकड़े से और अधिक है।

अगर माध्यमिक और उच्च माध्यमिक स्तर पर शिक्षा के लिए बच्चों को निजी शालाओं पर निर्भर होना पड़े तो इसका प्रभाव गरीब तबकों के बच्चों पर कैसा रहेगा? खर्च से सम्बन्धित ऊपर दी गई जानकारी के सन्दर्भ में चर्चा करें।

शासकीय शालाओं का खण्डित और पिरामिडी ढाँचा

भारत में शासकीय शालाओं की स्थापना बहुत चुनौतियों भरी प्रक्रिया थी। शिक्षा विभागों के पास संसाधन बहुत सीमित थे और उनसे अपेक्षा थी कि इस वृहद और विविधतापूर्ण आबादी को पूर्णतया शिक्षा के दायरे में लाएँ। इस कारण शिक्षा विभागों ने शुरू में हर गाँव–मोहल्ले में केवल न्यूनतम प्राथमिक शालाओं को स्थापित करने पर ज़ोर दिया। फिर माध्यमिक शाला और अन्त में उच्च माध्यमिक शाला। यह भी अपेक्षा थी कि उम्र के साथ बच्चे अधिक दूरी पर स्थित माध्यमिक या उच्च माध्यमिक शालाओं में जा सकते हैं। माध्यमिक व उच्च माध्यमिक शिक्षा कस्बों व शहरों के निजी तथा शासकीय अनुदान प्राप्त निजी शालाएँ देंगीं। इस इतिहास का एक नतीजा यह हुआ कि शासकीय शालाएँ संस्थागत रूप में खण्डित रह गईं।

आपने ध्यान दिया होगा कि शासकीय शालाएँ आम तौर पर तीन या चार स्तर पर विभाजित होती हैं – प्राथमिक शाला, माध्यमिक शाला, उच्च माध्यमिक व उच्चतर माध्यमिक शाला। पाँचवी उत्तीर्ण होने के बाद टी.सी. लेकर एक दूसरी जगह (अक्सर दूर के गाँव) स्थित माध्यमिक शाला में दाखिला लेना पड़ता है। इसी तरह आठवीं कक्षा उत्तीर्ण होकर उच्च माध्यमिक स्तर की शिक्षा के लिए एक अन्य जगह की शाला में दाखिला लेना पड़ता है। इसके विपरीत आम तौर पर निजी शालाएँ पूर्व प्राथमिक स्तर से लेकर उच्चतर माध्यमिक स्तर तक एक ही संस्था में शिक्षा देते हैं।

हर स्तर की अलग शाला होने के साथ साथ हम यह भी देख सकते हैं कि माध्यमिक व उच्च माध यमिक शालाओं की संख्या और उनकी क्षमता लगातार कम होती जाती हैं। मोटे तौर पर हर छः प्राथमिक शाला पर दो माध्यमिक शाला और एक उच्च माध्यमिक शाला उपलब्ध है। अक्सर माध्यमिक शालाओं की क्षमता इतनी नहीं होती है कि उस क्षेत्र के सभी प्राथमिक शालाओं के बच्चों को वे पढ़ा पाएँ। उदाहरण के लिए सन् 2005 के आँकड़ों के अनुसार छत्तीसगढ में अड़सठ हजार प्राथमिक शिक्षक थे, जबकि माध्यमिक स्तर पर केवल पच्चीस हजार शिक्षक थे। पूरे देश के आँकड़े भी यही बताते हैं – बीस लाख प्राथमिक शिक्षकों पर सोलह लाख माध्यमिक शिक्षक ही उपलब्ध हैं। इस तरह लगातार उच्च स्तर में क्षमता का कम होते जाने की हम एक पिरामिड से तुलना कर सकते हैं जिसका धरातल व्यापक होता है और जैसे ऊपर चढ़ते हैं वैसे संकरा होते जाता है।

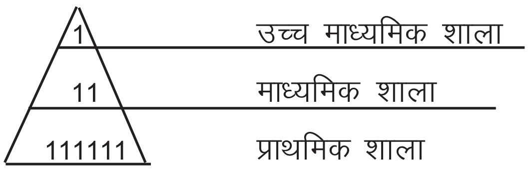

शासकीय शालाओं के इस विखण्डन का शाला के स्वरूप पर क्या असर होगा? इसका बच्चों की शिक्षा पर क्या प्रभाव पड़ता होगा, खासकर दूर–दराज़ के इलाकों में?

इस तरह के विखण्डन के कारण शासकीय शालाओं में समग्रता विकसित नहीं हो पाई, शालाओं में संसाधनों का समग्र उपयोग नहीं हो पाया और शाला का समग्र कोई दर्शन विकसित नहीं हो पाया। इससे भी अधिक नुकसान यह हुआ कि हर स्तर पर इस विखण्डन ने बच्चों को शाला त्यागने के लिए प्रेरित किया। विद्वानों का मानना है कि हमारे देश में पाँचवी, आठवी और दसवीं में बच्चों का शाला त्यागने के पीछे इसका बहुत बड़ा हाथ है।

आज यह विखण्डित और पिरामिडी ढाँचा शिक्षा अधिकार कानून को लागू करने में एक बड़ी बाधा बन गई है। इसी कारण भारत शासन अब राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान (RMSA) के तहत माध्यमिक शालाओं की संख्या व गुणवत्ता बढाने के लिए विशेष कदम उठा रहा है।

शासकीय शालाओं में विविधता

हमने एक विविधता तो ऊपर देखी थी। अधिकांश शासकीय शालाएँ स्तर आधारित हैं (प्राथमिक, माध्यमिक आदि) जबकि बहुत कम ऐसी हैं जो पहली से बारहवीं तक की शिक्षा देती हैं। लेकिन शासकीय शालाओं में इससे भी अधिक विविधता है।

सर्वप्रथम हम केन्द्रीय व राज्य सरकारों द्वारा संचालित शालाओं की बात देखें। 1960 के दशक में केन्द्र सरकार पर केन्द्र सरकारी कर्मचारियों का दबाब पड़ा कि चूँकि उनका विविध राज्यों के बीच लगातार तबादला होता रहता है, उनके बच्चों की शिक्षा पर प्रतिकूल असर पड़ता है। इसलिए ऐसी शालाओं की स्थापना हो जिनका जाल पूरे देश में हो और जिनमें एक समान पाठ्यक्रम भी चले। इस कारण केन्द्र सरकार ने सन् 1965 में केन्द्रीय विद्यालयों की स्थापना की। इनके पीछे एक और उद्देश्य था कि वे हर राज्य में उत्कृष्ठ शाला का नमूना पेश करेंगे और वहाँ नवाचार और शोध करने के लिए जगह भी बनेगी। केन्द्रीय विद्यालय के रूप में एक तरह से केन्द्र शासन की ओर से शाला का एक मानक स्थापित किया कि एक शाला कैसी हो और उसमें किस तरह के संसाधन हों। एक केन्द्रीय विद्यालय के छात्र पर केन्द्र शासन लगभग ग्यारह हजार रुपए प्रति वर्ष खर्च करता है, जबकि सामान्य शासकीय शालाओं में प्रति छात्र खर्च केवल अठारह सौ रुपए हैं। इससे दोनों के बीच जो वित्तीय प्रावधान का अन्तर था उससे स्वाभाविक है कि शासकीय शालाओं में ही विभेद पैदा हो गया। सन् 1986 में नई शिक्षा नीति के तहत केन्द्र सरकार ने निर्णय लिया कि देश के प्रत्येक ज़िले में ग्रामीण अंचलों के प्रतिभावान छात्रों के लिए नवोदय विद्यालय स्थापित किए जाएँगे। आज लगभग 860 ऐसी शालाएँ हैं। ये शालाएँ साधन सम्पन्न हैं और आवासीय हैं। इनमें विशेष परीक्षा के आधार पर तथा आरक्षण नीतियों का पालन करते हुए दाखिला होता है। यह ज़रूर एक सवाल रहा है कि प्रारम्भिक शिक्षा के स्तर पर प्रतिभा परीक्षण का क्या मायने हैं।

आपके विचार में क्या वास्तव में प्रारम्भिक स्तर पर कुछ बच्चे प्रतिभावान और बाकी बच्चे प्रतिभाहीन होते हैं। यह धारणा शैक्षणिक व मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कहाँ तक उचित है?

हाल में दिल्ली शहर में स्थित शासकीय व शासकीय सहायता प्राप्त शालाओं के एक अध्ययन में पाया गया कि वहाँ निम्न प्रकार की शालाएँ अलग अलग तबकों के लिए उपलब्ध हैः

1. नगर पालिका द्वारा संचालित प्राथमिक शालाएँ
2. दिल्ली कन्टोन्मेंट बोर्ड द्वारा संचालित शालाएँ
3. दिल्ली राज्य सरकार द्वारा संचालित माध्यमिक शालाएँ
4. दिल्ली राज्य सरकार द्वारा संचालित उच्चतर माध्यमिक शालाएँ
5. आदर्श शालाएँ (बेहतर साधनयुक्त)
6. सर्वोदय शालाएँ (बेहतर साधनयुक्त शाला जिनमें लाटरी से प्रवेश मिलता है)
7. प्रतिभा विकास विद्यालय (जहाँ परीक्षा से प्रवेश मिलता है)
8. आर्मी पब्लिक स्कूल (शासकीय सहायता प्राप्त लेकिन निजी ट्रस्ट द्वारा संचालित)
9. नेवल पब्लिक स्कूल (शासकीय सहायता प्राप्त लेकिन निजी ट्रस्ट द्वारा संचालित)
10. एयर फोर्स पब्लिक स्कूल (शासकीय सहायता प्राप्त लेकिन निजी ट्रस्ट द्वारा संचालित)
11. दिल्ली पुलिस पब्लिक स्कूल (शासकीय सहायता प्राप्त लेकिन निजी ट्रस्ट द्वारा संचालित)
12. संस्कृति स्कूल (केन्द्र शासन अधिकारियों के बच्चों के लिए शासकीय सहायता प्राप्त लेकिन निजी ट्रस्ट द्वारा संचालित)

इनके अलावा केन्द्रीय विद्यालय आदि भी शासन द्वारा चलाए जा रहे हैं।

उपरोक्त सूची से स्पष्ट होगा कि इन शालाओं में संसाधन और गुणवत्ता की दृष्टि से काफी विविधता

है और इन तक सब बच्चों की समान रूप से पहुँच नहीं है। बहुत सी शालाएँ तो विशिष्ट कर्मचारी–वर्ग के बच्चों के लिए निर्धारित हैं।

राज्य सरकार द्वारा संचालित शासकीय शालाएँ

किसी भी राज्य में शिक्षा की प्रमुख ज़िम्मेदारी वहाँ के राज्य शासन पर होता है। राज्य शासन भी कई प्रकार की शालाओं का संचालन करता है। सन् 1990 से पहले शालाओं की संख्या अपर्याप्त थी। जो बच्चे कामकाजी थे, उनके लिए रात्रिकालीन या सायंकालीन अनौपचारिक शालाओं का प्रावधान था। लेकिन ये सफल नहीं रहे। 1990 के दशक के बाद हर बस्ती में एक प्राथमिक शाला चलाना शासन अपना दायित्व समझता है। लेकिन हर शासकीय शाला समान संसाधनों से युक्त नहीं होती है। ग्रामीण और सुदूर अंचलों में अक्सर एक शिक्षकीय शाला ही चलती रही हैं। 1990 के दशक में जब यह ज़रूरत महसूस हुई कि बच्चों के निवास के एक किलोमीटर परिधि में एक शाला होना चाहिए, तब शासन ने कई ऐसी कनिष्ट शालाएँ खोली जिनमें न शाला भवन था, न सामान्य शिक्षक, केवल स्थानीय स्तर पर नियुक्त अल्पकालीन गुरुजी। इन शालाओं के कारण दूर–दराज के क्षेत्रों के समुदायों तक शिक्षा को पहुँचा पाए। लेकिन समय के साथ यह भी एक समस्या बन गई है कि इन शालाओं के आगे क्या? – क्या इन बच्चों को सामान्य शाला तक पहुँच प्राप्त होगी? पिछले दस वर्षों में इन शालाओं को सामान्य शाला में बदलने के प्रयास चल रहे हैं। कई राज्यों में हर ज़िले में एकाध उत्कृष्ट शाला, बहुउद्देशीय शाला, आदि चलाई जाती है। कुछ निजी शालाओं को शासन वित्तीय अनुदान भी देता है। इनके अलावा आदिवासी बच्चों के लिए व लड़कियों के लिए आवासीय शालाएँ (आश्रम शालाएँ व कस्तूरबा शालाएँ) खोली गईं।

सन् 2009 में पारित 'शिक्षा अधिकार कानून' के तहत यह स्थापित हो गया है कि हर बच्चे को शाला में पढने का अधिकार होगा (यानी अनौपचारिक शिक्षा या सायंकालीन शाला आदि में नहीं)। कानून ने किसी शाला के न्यूनतम व्यवस्था को भी निर्धारित किया जिसके बारे में आपने पिछली इकाई में पढ़ा होगा।

भारत में निजी शालाएँ

हमारे देश में प्राथमिक शालाओं में पढ़ने वाले बच्चों में से लगभग 17 प्रतिशत निजी शालाओं में पढ़ते हैं। इनमें से कुछ अल्पसंख्यक समुदायों द्वारा संचालित हैं, लेकिन अधिकांश शालाएँ अलग–अलग तरह के स्वयंसेवी संस्थानों या ट्रस्टों द्वारा संचालित है। ये शालाएँ छात्रों से फीस लेती हैं जो कि कई स्तरों की हैं – कुछ शालाएँ बहुत अधिक फीस लेने के कारण समाज के एक सीमित अभिजात्य वर्ग के लिए सुरक्षित हैं तो दूसरी तरफ ऐसी शालाएँ हैं जो बहुत कम फीस लेने के कारण गरीब तबकों के बच्चों को भी शिक्षा देती हैं। जाहिर है कि इन शालाओं में उपलब्ध संसाधनों में भी भारी अन्तर होगा।

भारतीय संविधान में अल्पसंख्यक समुदयों को अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए शाला चलाने की अनुमति दी गई है। इसके साथ साथ जीविका के अधिकार के तहत किसी भी व्यक्ति को शाला खोलने व संचालन करने का अधिकार है। इन दो प्रावधानों के चलते अपने देश में गैर–शासकीय शालाओं को स्थापित किया गया। सन् 1980 के दशक तक निजी शालाओं की संख्या सीमित थी – वे या तो अल्पसंख्यक समुदायों की शालाएँ थीं (जैसे – मदरसे, खालसा स्कूल, कान्वेंट आदि) या फिर किसी विचारधारा के तहत स्थापित शालाएँ थीं (जैसे – जे. कृष्णमूर्ति या अरविन्द घोष के विचारों से प्रेरित शालाओं का संचालन)। बहुत कम ऐसी भी शालाएँ थीं जो बहुत ऊँची फीस वाली थीं जहाँ केवल अमीर तबकों के बच्चे पढ़ सकते थे।

पिछले दो दशकों में इस परिस्थिति में तेजी से परिवर्तन आया है। आज देश के लगभग हर राज्य में निजी शालाओं का दायरा बढ़ रहा है। हालाँकि केरल जैसे कई राज्यों में यह अब भी धीमा है। कई राज्यों में ग्रामीण इलाकों में भी निजी शालएँ खुल रही हैं और पालकों पर दबाव बढ़ता जा रहा है कि अगर वे गुणवत्तापूर्ण शिक्षा चाहते हैं तो वे अपने बच्चों को निजी शालाओं में भेजें। पालकों के आय के अनुरूप शालाएँ खुल रहीं हैं – चालीस–पचास रुपए महीने के फीस से हजारों रुपए प्रति महीने के फीस वाले स्कूल तक अनगिनत स्तरों पर उपलब्ध हैं।

शिक्षा अधिकार कानून और निजी शालाएँ

शिक्षा के बढ़ते निजीकरण और उस कारण सामाजिक स्तरीकरण पर होने वाले विपरीत प्रभाव को देखते हुए शिक्षा अधिकार कानून में प्रावधान है कि हर निजी शाला को कम से कम 25 प्रतिशत सामाजिक रूप से कमज़ोर तबकों के बच्चों को लेना होगा। इन बच्चों पर होने वाले खर्च का वहन शासन करेगा (यानी शासन सामान्य शासकीय शाला में होने वाले प्रति छात्र खर्च की राशि उस निजी शाला को दे देगा)। इससे अपेक्षा है कि निजी शालाएँ केवल उच्च व धनी वर्ग के बच्चों के लिए आरक्षित न रहकर उनमें समाज के कमज़ोर तबकों के लिए भी जगह बनेगी। इस कानून के बारे में विभिन्न मत रहे हैं। कुछ लोगों का मानना है कि इससे सामाजिक दूरियाँ घटेंगीं और अमीर बच्चों की शालाओं में भी गरीब बच्चों की आवाज़ और अनुभव सुने जाएँगे। अन्य लोगों का मत है कि इस प्रावधान के कारण निजी शालाओं को बढ़ावा मिलेगा। कुछ और लोगों का मानना है कि गरीब तबकों के बच्चों के साथ अमीर शालाओं में असंवेदनशील और अपमानजनक व्यवहार होगा और गरीब बच्चों पर बुरा असर ही होगा।

आपको इनमें से कौन सा विचार अधिक सही लगता है। कक्षा में चर्चा करें और चर्चा के बाद बनी अपनी राय तर्क सहित लिखें। .

निजी शालाओं के प्रबन्धन या शिक्षकों के परिस्थिति में भी बहुत भिन्नताएँ देखी जा सकती हैं। जो भी हो इनमें माना जाता है कि प्रबन्धकों व प्रधान पाठकों का वर्चस्व होता है और उनके निर्देश से शाला चलता है। चूँकि ज़्यादातर निजी शालाओं पर दबाव होता है कि वे अपना खर्च बच्चों से लिए जाने वाले फीस से निकालें, इसका कई तरह के असर देखे जा सकते हैं। पहला तो यह है कि शिक्षकों का वेतन व सेवा शर्तें कॉफी नकारात्मक होती हैं। अनेक निजी शालाओं में शिक्षकों को न्यूनतम मज़दूरी से भी कम वेतन मिलना आम बात है और किसी प्रकार की सामाजिक सुरक्षा (जैसे – पी.एफ., मेडिकल बीमा आदि) उन्हें उपलब्ध नहीं है। ज़्यादातर शिक्षकों को अस्थाई व अल्पकालीन काम पर रखा जाता है और लगभग पूर्णकालीन काम करवाया जाता है। शिक्षकों के काम पर प्राचार्यों व प्रबन्धकों का कड़ा नियंत्रण होता है। वे स्वतंत्रता से अपने काम का नियोजन नहीं कर सकते हैं। दूसरी ओर निजी शालाओं में यह देखा गया है कि पालकों से विभिन्न बहानों से पैसे वसूल किए जाते हैं और शाला के संचालन में उनकी कोई सुनवाई नहीं होती है।

निश्चिय ही, कई निजी शालाएँ हैं जो इस तरह की शालाओं से हटकर हैं – लेकिन अधिकांश निजी शालाएँ बाज़ार के दबाव में कई ऐसी नीतियाँ अपनाने पर मजबूर हो जाते हैं जो शैक्षणिक और सामाजिक दृष्टि से नकारात्मक हैं।

क्या भारत जैसे देश में निजी शालाओं को होना चाहिए?

क्या निजी शालाएँ अवसरों की समता का संवैधानिक उद्देश्य के अनुरूप नहीं हैं?

क्या निजी शालाओं का कोई शैक्षणिक मकसद भी हो सकता है?

उपरोक्त सवालों पर चर्चा करें और अपना अभिमत तर्क के साथ लिखें।

अभ्यास कार्य

1. आपके विचार में इतनी तरह की शासकीय व शासकीय सहायता प्राप्त शालाओं की ज़रूरत क्या है? और वे किन कारणों से बनी होंगे?
2. हर बच्चे के गुणवत्तापूर्ण शिक्षा पाने के अधिकार को इस तरह की विविधता कैसे प्रभावित करती होगी? अपने विचार लिखें।
3. छत्तीसगढ में कितने तरह की शासकीय शालाएँ चलती हैं? उनकी एक सूची बनाइए और हरेक प्रकार के उद्देश्य और वहाँ किस तरह के बच्चे पढ़ते हैं, यह भी पता कीजिए।
4. क्या आपको लगता है कि शिक्षा से वंचित विभिन्न समूहों को शिक्षा के दायरे में लाने के लिए विशिष्ट शालाओं की ज़रूरत है।
5. सब बच्चों के लिए समान साधनयुक्त शालाएँ क्यों नहीं बन पाई हैं।
6. ऐसे में शिक्षा सामाजिक विभेद को पाटने में मदद करेगी या उसे बनाए रखने में मदद करेगी?
7. क्या आपको लगता है कि निजी शालाएँ क्यों बढ़ रही हैं?

8. वर्तमान में आपके राज्य के बच्चों की शिक्षा में केन्द्र व राज्य सरकारों की क्या भूमिका रही है? चर्चा करें।
9. पाठ्यचर्या रूपरेखा राष्ट्रीय स्तर पर निर्धारित करना क्यों जरूरी है? क्या इसकी कोई हानि भी हो सकती है?
10. कई लोगों का मानना है कि पिछले दो दशकों से शिक्षा के क्षेत्र में केन्द्र शासन का हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा है। आपके अनुभव को देखते हुए यह किस हद तक सही लगता है? किन बातों में आपको लगता है कि केन्द्र सरकार की भूमिका बढ़ी है और किन बातों में नहीं? आपके शिक्षण कार्य पर इसका क्या प्रभाव रहा है?
11. केन्द्र सरकार का हस्तक्षेप किस लिए उपयोगी है – गुणवत्ता लाने के लिए? वंचित समूहों तक शिक्षा को पहुँचाने के लिए? नए प्रयोग करने के लिए? पैसों के गलत उपयोग को रोकने के लिए? अपने अनुभव के आधार पर विश्लेषण करें।
12. आपने राज्य में प्रचलित शिक्षा प्रबन्धन ढाँचे के बारे में पढ़ा। इसे और कारगर और प्रभावी बनाने के लिए आपके क्या सुझाव हैं?
13. आपकी शाला में महत्वपूर्ण निर्णय कौन लेता है और कैसे – आम शिक्षकों, छात्रों व पालकों की उसमें क्या कोई भूमिका होता है?
14. शालेय शिक्षा में पंचायतों की भूमिका के विषय में आपके क्या विचार हैं?

दत्त कार्य

1. अगर निजीकरण को रोकना है तो शासकीय शालाओं में किस तरह का परिवर्तन आवश्यक है? एक विस्तृत टीप लिखें।
2. छत्तीसगढ में मौजूद शालेय शिक्षा के ढ़ाँचे का विवरण देते हुए बताएँ कि इसमें समुदाय की भागीदारी को बढाए जाने के लिए क्या–क्या किया जा सकता है?
3.शालेय शिक्षा में शिक्षक की स्वायत्तता' विषय पर एक निबन्ध लिखें।

परियोजना कार्य

1. किसी चयनित शाला के प्रधान पाठक से उनके काम के बारे में साक्षात्कार लीजिए – उनकी क्या जिम्मेदारियाँ हैं? वे उन्हें कैसे निभाते हैं? उन्हें कौन, किस प्रकार का मदद करता है? आदि। वे दिन भर में क्या काम करते हैं? बच्चों के साथ, शिक्षकों व पालकों व अधिकारियों के साथ क्या करना होता है? उनसे मिली जानकारी की समीक्षा करें और उनके नाम आदि विवरण की जगह काल्पनिक नाम देकर एक विस्तृत रपट प्रस्तुत करें।
2. किसी चयनित शाला में पाठ में दिए नज़रिए से सुरक्षा और व्यवस्था की समीक्षा कीजिए। इसके लिए शाला का अवलोकन, शिक्षकों, बच्चों व पालकों से बातचीत आदि करें। शाला का काल्पनिक नाम देकर एक रपट प्रस्तुत करें।
3. किसी चयनित शाला में आकलन पद्धति की इसी तरह समीक्षा करें।
4. पिछले वित्त वर्ष के अपने राज्य के बजट प्रस्ताव का अध्ययन करें और बताएँ कि राज्य शासन के कुल खर्च में शिक्षा पर कितने प्रतिशत खर्च किया। उसमें से कितना हिस्सा वेतन और व्यवस्था पर खर्च हुआ और कितना गुणवत्ता सुधार पर खर्च हुआ।
5. किसी ग्राम पंचायत क्षेत्र में किन्हीं 10 शाला त्यागी व्यक्तियों से साक्षात्कार करें। यह ध्यान रखने का प्रयास करें कि वे अलग–अलग आयु समूह के हों। उनसे शाला त्यागने के कारणों, शाला की अवस्था, रोज़गार के अवसर, शिक्षा प्राप्त करने की आकांक्षा, शिक्षा का खर्च आदि मुद्दों पर बात करके एक विस्तृत नोट बनाएँ।

सहायक पठन सामग्री

1. प्रेब दल, प्रारम्भिक शिक्षा, एक सार्वजनिक रिपोर्ट (ओ.यू.पी. 2002)
2. आर गोविंदा एवं एन वी वर्गीज़, क्वलिटी आफ प्रायमरी स्कूलिंग इन इंडिया, युनेस्को, 1994
3. आर गोविंदा, हू गोज़ टु स्कूल, आक्स्फोर्ड नई दिल्ली, 2012

पठन सामग्री 20

शाला प्रबन्धन में सामुदायिक सहभागिता

अध्याय की रूपरेखा

अध्याय के उद्देश्य–

समुदाय और स्कूली शिक्षा– सिद्धांत और अनुभव।

शिक्षा में समुदायिक सहभागिता –छत्तीसगढ़ के संदर्भ में।

शिक्षा के अधिकार कानून– में शाला प्रबंध समिति का गठन व दायित्व।

समुदाय से संबंधित समस्यायें– शिक्षा में सामुदायिक सहभागिता के कुछ व्यवहारिक उदाहरण।

अभ्यास के प्रश्न

दत्त कार्य

परियोजना कार्य

अध्याय के उद्देश्य–

1. सामुदायिक सहभागिता के अथै को समझकर विस्तृत विवेचना कर सकेंगे।

2. छत्तीसगढ़ के संदर्भ में सामुदायिक सहभागिता के स्वरूप को समझ पायेगें।

3. शिक्षा के अधिकार कानून 2009 के अनुसार शाला प्रबंधन समिति की भूमिका से परिचित होंगे।

4. शाला संचालन में समुदाय की भागीदारी प्राप्त करने की पहल कर सकेंगे।

5. पालको व समुदाय से उनकी भूमिका और दायित्वों के संबंध में बातचीत कर सकेंगे।

समुदाय और स्कूली शिक्षा – सिद्धांत और अनुभव

स्कूली शिक्षा का सूत्रधार कौन है, इसके बारे में कई संकल्पनाएं हैं – एक ओर यह कहा जा सकता है कि इसका सूत्रधार राष्ट्र राज्य है जिसकी जरूरतों के कारण स्कूल का निर्माण हुआ। दूसरी ओर यह भी कहा जा सकता है कि अलग अलग तबकों व समुदायों के पालक इसके सूत्रधार होंगे क्योंकि उनके बच्चों की शिक्षा की बात हो रही है। या फिर यह भी कहा जा सकता है कि इसका कुछ तो सूत्र उन बच्चों के हाथ में भी होना चाहिए जो स्कूल में पढ़ रहे हैं चूंकि यह उनके रुचि, क्षमता और भविष्य का सवाल है और फिर उस सूत्र पर शिक्षकों का भी तो कुछ हक है।

तो सवाल यह है कि स्कूल का संचालन कौन करेगा, या फिर इस संचालन में हरेक की भूमिका क्या है। नई तालीम में यह विचार निहित था कि स्कूल का संचालन स्थानीय ग्राम समुदाय को करना है जिसे स्कूल का पाट्यक्रम, समय सारणी, आदि के साथ साथ स्कूल के आय व्यय पर भी नियंत्रण रखना था। इसमें शासन की भूमिका नगण्य थी। स्वतंत्रता के बाद शिक्षा का जो स्वरूप उभरा उसमें राष्ट्र यानी शासन का वर्चस्व था, और पालक, समुदाय आदि की विशेष भूमिका नहीं रही। इस संदर्भ में आर गोविंदा और रश्मि दीवान कहते हैं,*''स्वतंत्रता के बाद के वर्षों मैं प्राथमिक शिक्षा का पूर्णतया शासकीकयरण हुआ और शालाएं पूरी तरह समुदाय से अलग थलग हो गये।''* R Govinda & Rashmi Diwan, Community Participation and Empowerment in Primary Education, Sage, New Delhi 2003, Page 12

यह परिस्थिति 1990 के दशक से बदलने लगा। इसके कई कारण थे। पहला कारण यह था कि विभिन्न कारणों से शासकीय स्कूल अपना दायित्व पूरा नहीं कर पा रहा था। बहुत कम बच्चे शाला में पढ़ने जा रहे थे और जो पढ़ भी रहे थे उनकी उपलब्धि संतोषजनक नहीं था और बहुत बड़ी मात्रा में वे निराश होकर शाला त्याग रहे थे। इसको देखते हुए यह कहा जाने लगा कि शायद शासकीय तंत्र शिथिल और अक्षम है और यह तभी बेहतर काम कर पायेगा जब स्थानीय लोग जिनके बच्चे उसमें पढ़ रहे हैं, उसके संचालन में रुचि लेंगे। इसी दौर में एक और प्रकरण चला, जिसके तहत यह कहा गया कि भारत जैसे देशों में शासन जरूरत से अधिक भारी भरकम है और इस भार को कम करने की जरूरत है। इसका एक तरीका यह बताया गया कि शासन के काफी कामकाज को स्थानीय लोगों को सौंपा जा सकता जो कम खर्चे में अधिक लचीलेपन

के साथ और स्थानीय जरूरतों के अनुरूप कार्य कर सकते हैं। इस सोच को गांधी जी के पंचायती राज के आग्रह से जोड़ा गया और यह कहा गया कि इससे जमीनी स्तर पर लोकतंत्र स्थापित हो पायेगा। इसके चलते संविधान 1992 में दो महत्वपूर्ण संशोधन किये गये 73वें और 74वें संशोधन) जिन्होंने त्रिस्तरीय पंचायत व्यवस्था के निर्माण को एक वेग प्रदान किया। आमतौर पर यह माना गया था कि स्कूली शिक्षा पंचायती राज के ढांचों के सुपर्द किया जाना उचित है। लेकिन यह हुआ नहीं। अभी भी देश के लगभग सभी राज्यों में स्कूली शिक्षा राज्य सरकार के कड़े नियंत्रण में चल रहा है और यही नहीं बल्कि इसमें केन्द्र शासन की भी भूमिका बढ़ती जा रही है।

इस संदर्भ में आर गोविंदा और मधुमिता बंद्योपाध्याय कहते हैः *''कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि पंचायतों का स्कूल व्यवस्था के कामकाज में भूमिका बहुत सीमित रहा है। पंचायतों को ज्यादा से ज्यादा शाला भवनों के निर्माण और मरम्मत के काम ही सौंपे गये हैं। स्थानीय शाला के शैक्षणिक मामलों या संचालन मे पंचायतों की कोई भूमिका नही रही है। इसके अलावा, संसाधन की कमी और ग्रामीण समाज के पिछडे तबकों व महिलाओं के भागीदारी की कमी और भूमिकाओं और जिम्मेदारियों के प्रति अस्पष्टता आदि के कारण पंचायत कारगर रूप से काम नहीं कर पाये हैं। शैक्षणिक कार्यकर्त्ताओं ने आमतौर पर यही पाया है कि स्थानीय नेताओं का अत्यधिक राजनैतिक हस्तक्षेप या फिर शिक्षा के प्रति उदासीनता ने पंचायतों के सकारात्मक भूमिका को कमजोर किया है।''* R Govinda & Madhumita Bandyopadhyay, 'Local Governance and Community Participation in Elementary Education' in R Govinda, (Ed) Who Goes To School? OUP, New Delhi 2011, page 256

पिछले दो दशकों में एक महत्वपूर्ण परिवर्त्तन जो हुआ है, वह है जिला और विकास खण्ड स्तर पर शैक्षिक जरूरतों का आंकलन करना और योजना बनाना। इसमें विकास खण्ड और जिला स्तर पर शिक्षा अधिकारियों की भूमिका बढ़ी है। इसी दौर में ग्राम शिक्षा समिति, शाला प्रबंधन समिति आदि पर भी जोर दिया गया और शिक्षकों से आग्रह किया जा रहा है कि वे शाला संचालन में सामुदायिक सहभागिता को बढ़ावा दें। गोविंदा और रश्मि दीवान इन दोनों शब्दों – सामुदायिक और सहभागिता – की विवेचना विस्तार से करते हैं। समुदाय का अर्थ क्या है – आमतौर पर हम इससे मानते हैं कि स्थानीय लोग जो वास्तव में वर्ग, जाति, और लिंग के आधार पर बंटे हुए हैं। या फिर चुने हुए प्रतिनिधियों (पंच, सरपंच, विधायक, सांसद आदि) को समुदाय मान लिया जाता है। दोनों ही परिस्थितियों में यह शब्द समाज के अंदरूनी भेदभावों को नजरंदाज कर देता है। विमला रामचन्द्रन के राजस्थान परिप्रेक्ष्य के अध्ययन का हवाला देते हुए वे कहते हैं कि समुदाय की सहभागिता की जरूरत विशेष इसलिए है क्योंकि हम चाहते हैं कि समाज के उपेक्षित लोगों को वह ताकत मिले जिससे वे अपने वंचित बच्चों को शिक्षित करवा पाये। उनकी भागीदारी से ही उन अवरोधों को दूर किया जा सकता है, जो उनके बच्चों को कई तरीकों से शिक्षा से दूर रखते हैं।

अतः सहभागिता का मतलब केवल यह नहीं है कि समुदाय के कुछ लोग शाला के कामकाज में भाग लें बल्कि यह सुनिश्चित करना कि समाज के गरीब और हाशिए के लोगों के हितों की रक्षा की जाए। गोविंदा और रश्मि दीवान सहभागिता के कई प्रकारों का भी उल्लेख करते हैः

1. केवल शाला में अपने बच्चों को भेजना
2. श्रम, धन या संसाधन उपलब्ध कराकर
3. बैठकों में उपस्थिति दर्ज करके (जहां दूसरों के निर्णयों को स्वीकार करना होता है)
4. किसी विशेष मुद्दे पर अपने सुझाव देकर
5. प्राप्त अधिकारों का निर्वहन करके
6. निर्णय लेने के हर कदम पर वास्तविक भागीदारी, समस्या पहचानने में, समाधान खोजने में, योजना बनाने में, क्रियान्वयन तथा मूल्यांकन में

इसके लिए जरूरी है कि समाज के लोग जो आमतौर पर उदासीन हैं, उन्हें भागीदार बनाना तथा शासकीय व्यवस्थाओं व तरीकों को लचीला बनाना ताकि आम लोग प्रबंधन में भाग ले सकें। पिछले बीस वर्षों मैं र्लगभग हर राज्य में इस दिशा में प्रयास हुए हैं। कई राज्यों ने अपने कार्यक्रमों में सामुदायिक सहभागिता

को जगह दिया है तो कई राज्यों ने इस दिशा में कानून भी बनाए हैं। लेकिन अध्ययनों से पता चलता है कि केरल जैसे राज्यों में भी जहां इसकी सफलता का बखान किया जाता है, जमीनी स्तर पर बदलाव कम ही हुआ है। ज्यादातर राज्यों में परिस्थिति यह है कि पालकों व यहां तक कि समितियों के सदस्यों को इनके कामकाज के बारे में जानकारी तक नहीं है।

आमतौर पर सामुदायिक सहभागिता के नाम से पालकों से अपेक्षा की जाती है कि वे अपने बच्चों को शाला में नियमित भेजें। गांव के लोगों से शाला भवन निर्माण या अतिथि शिक्षक की नियुक्ति के लिए संसाधन जुटाया जाता है। पालकों को विशेष आयोजनों में आमंत्रित किया जाता है। कहीं कहीं पालकों से यह भी आग्रह किया जाता है कि यथासंभव शाला आकर शाला का निरीक्षण करें और बच्चों के सीखने का मूल्यांकन करें। इनका महत्व यह है कि समुदाय और शाला के बीच लोगों का आना जाना बना रहता है और कुछ हद तक आत्मीयता बढ़ती है। लेकिन ये सवाल फिर भी अनुत्तरित रहते हैं कि शाला में किस हद तक वंचित समुदाय के पालकों व बच्चों की भूमिका बढ़ती है और किस हद तक हर समुदाय अपने बच्चों की शैक्षणिक जरूरतों को पहचानकर उन्हें शाला में लागू करवा पाते हैं, और किस हद तक शिक्षकों की शैक्षणिक कार्य की गुणवत्ता को सुनिश्चित कर पाते हैं।

इन्हीं सब बातों को देखते हुए 2009 में पारित शिक्षा अधिकार कानून में शाला प्रबंधन समिति का प्रावधान है जिसके अधिकांश सदस्य उस शाला में अध्ययनरत बच्चों के पालक होंगे। शुरू में यह विचार था कि इस समिति के पास कुछ महत्वपूर्ण अधिकार हों, जैसे, शिक्षकों के वेतन, शाला का खर्च आदि। लेकिन अंत में जब कानून बना तो इस समिति को केवल योजना प्रस्तावित करने तथा मानीटरिंग का अधिकार दिया गया। यानी, वह केवल काम प्रस्तावित कर सकता है और शासन उसे स्वीकृत करेगा। वह केवल यह पता कर सकता है कि शाला में काम ठीक से चल रहा है या नहीं, लेकिन वह किसी प्रकार कारगर हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। कई विद्वानों का मत है कि इस तरह के सीमित अधिकारों के कारण पालक वास्तव में कोई जिम्मेदारी नहीं महसूस करते हैं और इस भूमिका के प्रति उदासीन हो जाते हैं।

आप और आपके साथी शिक्षक पालकों से क्या अपेक्षा करते हैं – कि वे शाला में किस तरह की भूमिका निभाएं?

निरक्षर पालक शाला के शैक्षणिक कार्य में क्या योगदान दे सकते हैं?

अमेरिका में स्थानीय चुनाव से जिला शिक्षा समिति का गठन होता है जो शिक्षकों की नियुक्ति आदि करता है, पाठ्यक्रम व पाठ्यपुस्तकों का चयन करता है और शालाओं के लिए वित्तीय प्रबंधन करता है। आपके अनुसार क्या यह उचित है और अपने राज्य के लिए प्रासंगिक है?

शाला प्रबंधन के लिए पंचायत द्वारा गठित समिति तथा पालकों की समिति – इन दोनों में क्या अन्तर होगा?

कई लोगों का सुझाव है कि हमारे स्कूल तभी सुधरेंगे जब पालक समिति ही शिक्षकों के वेतन का वितरण करेंगे। तब शिक्षक पालकों व बच्चों के प्रति जवाबदेही महसूस करेंगे। क्या आप इस बात से सहमत हैं?

महिलाएं व दलित समाज के पालकों की शाला प्रबंधन में भागीदारी के बारे में अपने अनुभव लिखें।

शिक्षा में सामुदायिक सहभागिता – छत्तीसगढ के संदर्भ में

शिक्षा की बेहतरी में समुदाय की सहभागिता को विभिन्न स्वरूपों (चरणों) में देखा जा सकता है जैसे–

1. समुदाय का साक्षी बनना (Community participetion)
2. समुदाय की संलग्नता (Community Invalvement)
3. समुदाय की भागीदारी (Community partnership)
4. समुदाय की प्रभुता (Community ownership

1. समुदाय का साक्षी बनना : – जैसे कि स्कूल के अंदर कोई कार्यक्रम आयोजित हो रहा हो उस

दौरान आसपास के समुदाय के लोग बाहर खड़े होकर देखते हैं कि क्या हो रहा है? और कुछ देर रुककर चले जाते हैं जैसे कि उस कार्यक्रम से उनका कोई खास लेना देना नही है। वे स्कूल व शिक्षकों को सरकारी मानते है क्योंकि कभी भी स्कूल के लिये हो रहे निर्णयों में उनकी कोई भागीदारी नहीं होती या फिर उन्हें स्कूल से वह सम्मान नहीं मिल पाता जो कि हरेक इंसान की इंसानी जरूरत होती है।

2. समुदाय की संलग्नता : – यदि समुदाय में कोई कार्यक्रम हो रहा है उसमें शिक्षक समूह शामिल हो रहा है। समुदाय के सुख–दुख से शिक्षक समूह संवेदित है और वे स्वेच्छा से किसी भी कार्यक्रम में शामिल होकर सहयोग करते हैं। उसी तरह समुदाय भी स्कूल के कार्यक्रमों में स्वेच्छा से भाग लेते हैं।

3. समुदाय की भागीदारी :– ये भागीदारी का वह स्तर है जहां पर स्कूल के लिये किये जाने वाले कामों का निर्णय शिक्षक व समुदाय मिलकर करते हुए एक दूसरे का सहयोग करते हैं। व जिम्मेदारी आपस में बाँट लेते हैं।

4. सामुदायिक प्रभुता (अपनापन, हक जताना) :– ये भागीदारी का वह स्तर है जहां समुदाय यह मानता है कि गाँव हमारा है बच्चे हमारे हैं, तथा शिक्षक भी हमारे हैं, यहाँ हर एक निर्णय हमारी भागीदारी से ही होगा। यहां एक ऐसे स्कूल का सपना साकार होता है, जिसमें शिक्षक बच्चे व समुदाय एक रिश्ते में बंधे होते हैं और एक इकाई के रूप में मिलकर तय करते हैं कि हमारे बच्चों के बेहतर जीवन जीने के लिये शिक्षा कैसी हो और उसके लक्ष्य को कैसे प्राप्त किया जाय?

समुदाय के लोग शिक्षा में मदद नही कर पा रहे है तो उसके कई कारण है जैसे समुदाय को स्कूल में उत्कृष्ट करने के अवसर का अभाव, शिक्षक व समुदाय के बीच संवाद की कमी, स्कूली व्यवस्था में गरीब और वंचित समुदाय के सम्मान की कमी आदि। समुदाय शिक्षा के लिये बहुत कुछ कर सकता है किन्तु पहल शिक्षकों को ही करना होगा क्योंकि शिक्षा की जिम्मेदारी समाज ने हमें सौपा है।

शिक्षा के अधिकार कानून में शाला प्रबंधन समिति का गठन व दायित्व

अ. शाला प्रबंधन समिति का गठन :

1. शिक्षा के अधिकार कानून के तहत गैर अनुदानित विद्यालयों के अतिरिक्त प्रत्येक विद्यालय में प्रबंधन समिति होगी एवं प्रत्येक शैक्षिक सत्र के आरंभ में इसका पुनगर्ठन किया जाएगा।
2. शाला प्रबंधन समिति में 16 सदस्य होंगे जिसमें 12 सदस्य बच्चों के माता–पिता, 2 सदस्य शिक्षक, 1 सदस्य पंचायत प्रतिनिधि एवं 1 सदस्य शाला का बच्चा या स्थानीय शिक्षाविद् होगा तथा समिति में 50 प्रतिशत महिला सदस्य यानि की 8 सदस्य महिलाएं होंगी।
3. समिति में गांव में निवासरत अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, पिछड़ा वर्ग, अल्पसंख्यक, कमजोर वर्ग के लोगों का अनुपातिक रूप से प्रतिनिधित्व होगा।
4. समिति में बच्चों के माता–पिता सदस्यों में से अध्यक्ष एवं एक उपाध्यक्ष का चयन किया जायेगा।

ब. शाला प्रबंधन समिति के कार्यदायित्व :

1. समिति की माह में एक बैठक अनिवार्य होगी तथा इस बैठक की कार्यवाही लिखी जायेगी जिसे सार्वजनिक किया जायेगा।
2. 6–14 वर्ष के सभी बच्चों का निःशुल्क नामांकन, नियमित, उपस्थिति व बिना भेदभाव के स्कूल में सिखाते रहे यह सुनिश्चित किया जायेगा।
3. समिति यह सुनिश्चित करेगी की बच्चों की उपस्थिति व सीखने की प्रगति को लेकर शिक्षक बच्चों के माता–पिता से एक नियमित अंतराल में चर्चा करें, जिससे की शिक्षक व माता–पिता बच्चों की जरूरतों को समझ कर अपने प्रयासों में उपयुक्त बदलाव ला सके।
4. विद्यालय का समय से खुलना बंद होना, शिक्षकों की नियमित एवं समयानुसार उपस्थिति, समिति की नियमित बैठकें व स्थानीय स्तर पर स्कूली व्यवस्थाओं की देखरेख/रखरखाव सुनिश्चित किया जायेगा।
5. मध्यान्ह भोजन की नियमितता एवं गुणवत्ता की निगरानी करना तथा संबंधित लोगों से इसकी बेहतरी के लिए चर्चा किया जायेगा।

6. समिति द्वारा शाला के अंतर्गत आने वाले सभी अभिभावकों को शिक्षा के अधिकार कानून के बारे में जागरूक करना एवं शाला के बेहतरी के लिए ंगठित करने का प्रयास किया जायेगा।
7. राज्य सरकार व अन्य स्रोतों से प्राप्त अनुदानों का बेहतर उपयोग एवं इसका लेखा अलग से रखना और खर्चों की निगरानी व लेखा पंजी अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, सचिव द्वारा हस्ताक्षरित हो इसका ध्यान रखना।
8. शाला प्रबंधन समिति द्वारा स्कूल की जरुरतों का आंकलन कर तीन सालों के लिए शाला विकास योजना बनाया जाएगा व इस योजना के आधार पर एक साल की उपयोजना बनाकर संबंधित प्राधिकारी के पास भेजा जाएगा।

शाला प्रबंधन समिति का गठन एवं पुनर्गठन

गठन से पूर्व समुदाय के साथ तैयारी– शाला प्रबंधन समिति के गठन से पूर्व दो दिन पहले बैठक करके गठन के दिन, दिनांक व स्थान को लेकर गांव मोहल्लों वार्डों में व्यापक प्रचार–प्रसार हो। इस क्रम में पंचायत द्वारा मुनादी की जा सकती है तथा घर–घर जाकर व्यक्तिगत संपर्क करना उपयोगी होगा। साथ ही समिति के पुराने सदस्यों को साथ लेकर आसपास के अन्य सदस्यों को जोड़ते हुए छोटी–छोटी बैठकें करना उपयोगी रहेगा। सदस्यों से मिलने के क्रम में महिला सदस्यों तथा कमजोर वर्ग के सदस्यों को अधिक समय देना होगा। अभिभावकों से चर्चा के दौरान उन्हें उत्साहित करना होगा। इस क्रम में संबंधित कानून पर भी चर्चा की जा सकती है। पहली से आठवीं तक की शिक्षा अब बच्चों का मौलिक अधिकार है, ठीक वैसे ही जैसे जीने का अधिकार। कानून की एक दो बातों पर चर्चा करने के बाद उन्हें बैठक में आने के लिये प्रेरित किया जावे। बैठक में भागीदारी को सुनिश्चित करने के लिये गांव में पहले से बने स्थानीय संगठन स्व–सहायता समूह के सक्रिय अगुवा/युवाकार्यकर्ताओं का सहयोग लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त एक दिन पहले, बच्चों की कापी में सूचना लिख कर सभी अभिभावकों को बैठक में आमंत्रित कर सकते हैं।

बड़ी सभा का आयोजन व सभा में चर्चा के बिन्दु – शाला प्रबंधन समिति के गठन/पुर्नगठन के दौरान बैठक व्यवस्था यदि कक्षावार हो या फिर गोल घेरे में हो तो चर्चा करने में आसानी होगी। चर्चा की शुरूआत में कुछ नियम बना लेना ठीक रहेगा जैसे की सभी को अपनी बात रखने का मौका मिलेगा, सभी एक दूसरे की बातों का सम्मान करेंगे आदि। इसके पश्चात् पुरानी समिति सदस्यों द्वारा पिछले एक साल में स्कूल बेहतरी के लिये किये गये प्रयासों के बारे में बताये। इसके पश्चात् प्रधान पाठक द्वारा शिक्षा अधिकार कानून की मुख्य बातों को बताते हुये कानून में शाला प्रबंधन समिति की भूमिका व कार्य दायित्वों पर चर्चा करना बेहतर रहेगा। इसके पश्चात् प्रतिभागियों से समिति में नये सदस्यों के चयन पर चर्चा करें यदि सहमति बनती है तो पुनः उन्हीं सदस्यों का चयन हो सकता है सिर्फ उन सदस्यों को छोड़कर जिनके बच्चे अब विद्यालय में नहीं है। नये सदस्यों का चयन करने के लिये कक्षावार अभिभावकों से चर्चा कर दो से तीन सदस्यों का चयन करने को कहें। सदस्यों का चयन हो जाने के बाद चयनित सदस्यों को गोल घेरे में बैठायें बाकी सभी अभिभावक दूसरे गोले में आसपास बैठे। चयनित सदस्यों द्वारा अपने समूह से एक अध्यक्ष और एक उपाध्यक्ष का चयन करेंगे। प्रधान पाठक समिति के पदेन सचिव के रूप में कार्य करेंगे। अब प्रधान पाठक पुनः चयनित सदस्यों से समिति की भूमिका व कार्यों पर चर्चा करें। इस क्रम में सभी सदस्य मिलकर बेहतर स्कूल कैसा हो और कैसे हो पायेगा इसके लिये क्या करना होगा इस पर चर्चा करें यदि संभव हो तो समिति सदस्य चार्ट पर अपने सपनो के स्कूल का चित्र बनावें, लोगों द्वारा बनाये गये इस चार्ट को प्रधानाध्यापक के कक्ष में लगाये और हरेक बैठक में चर्चा करें कि हम कहाँ तक पहुंचे है ? अन्त में अगली बैठक की तारीख और समय तय किया जा सकता है व आज की बैठक कैसी रही और अगली बैठक में किन बातों का ध्यान रख सकते हैं आदि पर चर्चा करें। जो पुराने सक्रिय समिति सदस्य है और वर्तमान में उनके बच्चे स्कूल में नही है उन्हें सभी सदस्यों की सहमति से सलाहकार सदस्यों के रूप में शामिल कर सकते हैं।

शाला प्रबंधन समिति का गठन हो जाने के बाद– शाला प्रबंधन समिति का गठन हो जाने के बाद समिति सदस्यों से लगातार संवाद करते रहना होगा तथा छोटे–छोटे जल्दी हल हो जाने वाले मुद्दों जैसे प्रांगण की साफ–सफाई, बच्चों की उपस्थिति, मध्याह्न भोजन का प्रबंधन आदि को व्यवस्थित करने की जिम्मेदारी से उन्हें जोड़ना जिससे कुछ बेहतर होते हुये देखकर उनका उत्साह बढ़े और स्कूल को बेहतर करने के लिये उनके मन में सहयोग की भावना पैदा हो। कुल मिलाकर इस भावना को प्रेरित करना कि स्कूल

सभी ग्रामवासियों का है। शिक्षक और समुदाय के आपसी गठजोड़ से बेहतर स्कूल का सपना पूरा हो सकता है और इस साझे प्रयास से ही गांव के स्कूल का विकास संभव है।

समुदाय से संबंधित समस्याएँ

1. समुदाय का राजनीतिकरण :–समुदाय का राजनीतिकरण, यानी पद और अधिकार के लिए प्रतिस्पर्धा सामुदायिक सहभागिता के लिये सबसे बड़ी चुनोती है। अधिकार प्राप्त व्यक्ति भ्रष्टाचार, शोषण की ओर उन्मुख रहता है न कि बच्चों की शिक्षा की ओर।

2. वर्गभेद :–शाला में समुदाय से बच्चे आते हैं और समाज में विभिन्न वर्ग जाति के लोग रहते हैं। यह वर्ग भेद सामुदायिक सहभागिता की गति को अवरूद्ध करता है। शाला प्रबंधन समिति की बैठको में यदि संभव हो तो महिला व पुरुष मिलकर बैठे व आपस में चर्चा करे कि हम सब मिलकर इस विभेद को कम करने में किस तरह सहयोगी हो सकते है। संभवतः शिक्षा के माध्यम से इसे दूर किया जा सकता है।

3. समुदाय का शाला तक न पहुँचना :– इसके लिये शाला द्वारा पहल आवश्यक है विभिन्न कार्यक्रम जैसे – जयंतियाँ, वार्षिकोत्सव, राष्ट्रीय पर्व, बाल मेला, विदाई समारोह आदि अवसरो पर समुदाय के लोगों को आमंत्रित कर उन्हें सम्मानित करें। समुदाय को यदि सम्मान मिलेगा तो वह शाला से अपनत्व रखेगा। कभी–कभी शिक्षक समूह लोगों से मिलने बच्चों के घरो में जायें।

4. शासनगत समस्या :–शाला में बच्चों को शिक्षा देने का कार्य शिक्षक का होता है और शिक्षक उपलब्ध कराने का दायित्व शासन का है। समुदाय की मांग पर शासन समुचित संख्या में शिक्षक उपलब्ध करावे। उन्हें सम्मान जनक वेतन दें, योग्यता एवं वास्तविक शिक्षकीय अनुभव के आधार पर पदोन्नत करे। इस प्रक्रिया में पूर्ण पारदर्शिता होनी चाहिए। आवश्यकतानुसार फंड की व्यवस्था करे ताकि शाला की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। आपूर्ति की गई सामानों की गुणवत्ता उत्तम रहे। प्रायः देखा जाता है कि शासन द्वारा प्रदत्त सामग्री की गुणवत्ता हल्की होती है अतः शाला के लिये आवश्यक सामग्रियों के क्रय का अधिकार जनभागीदारी समिति को दी जानी चाहिए।

5. पालकों के समयानुसार बैठक आयोजित न हो पाना :– अधिकतर यह देखा गया है कि शिक्षक अपनी सुविधानुसार पालकों की या समुदाय की बैठक आयोजित करता है जिसके फलस्वरूप समुदाय अन्य कार्यों में लगे होने के कारण बैठक में उपस्थित नहीं हो पाते। अतः इस समस्या के समाधान हेतु समुदाय की सुविधानुसार बैठक आयोजित हो।

शिक्षा में सामुदायिक सहभागिता के कुछ व्यवहारिक उदाहरण

1. मैनपुर

धमतरी जिले के अंतर्गत उड़ीसा प्रांत से लगा हुआ एक छोटा सा आदिवासी बाहुल्य ग्राम है मैनपुर। 142 परिवार के इस छोटे से गाँव में 82ः लोग भूमिहीन है।

विद्यालय को आकर्षक बनाने की दिशा में पहल :– विद्यालय को आकर्षक बनाने की दिशा में गाँव के लोगों ने सर्वप्रथम विद्यालय की चहारदिवारी का निर्माण किया। विद्यालय में आकर्षक गेट का निर्माण भी किया गया। पालकों ने स्थानीय उपलब्धता के आधार पर शिक्षण अधिगम सामग्री का निर्माण तथा संकलन किया।

गाँव के लोगों ने विद्यालय की साज सज्जा पर विशेष ध्यान देते हुए विविध चित्रों का निर्माण, सुवाक्य का लेखन करवाया तथा महापुरूषों की तस्वीरें लगवायीं। गाँव के लोगों ने बालिकाओं के लिये पृथक से पेशाब घर का निर्माण कराया। एक आदिवासी महिला ने वाचन संस्कृति को बढ़ावा देने के उद्देश्य से 251 पुस्तकें खरीदकर विद्यालय को भेंट की। इसी कड़ी में पेशे से कृषि कार्य तथा गाय चराने वाले आदिवासी विकलांग व्यक्ति ने 161 किताबें खरीदकर विद्यालय को भेंट की। आज मैनपुर के सभी लोग स्वाध्याय को दैनिक जीवन में शामिल कर चुके हैं। विद्यालय में वाचनालय की स्थापना के लिये गाँव के लोगों ने भरपूर सहयोग किया आज विद्यालय के वाचनालय में 5000 पुस्तकों की व्यवस्था है। पुस्तकों की रखरखाव हेतु आकर्षक आलमारी की व्यवस्था पालकों ने की है।

विद्यालय के लोगों ने श्रमदान कर विद्यालय में संसाधन वृद्धि के लिये ईंट का निर्माण किया। सभी ईंटों को बेचकर विद्यालय के विकास कार्य में लगाया गया। मैनपुर विद्यालय में मौसमी सब्जी की खेती की गई। इस सब्जी का उपयोग मध्यान्ह भोजन में किया जाता है।

गाँव वालों ने शाला प्रांगण में अपने लिये मिलजुल कर एक पर्णकुटी का निर्माण किया गाँव के लोग यहाँ बैठकर किताबें पढ़ते हैं तथा आपस में विद्यालय के विकास के लिये चर्चा करते हैं। विद्यालय में आकर्षक बगीचे का निर्माण किया गया है। पूरे गाँव के लोग बागवानी का देखरेख करते हैं। गाँव के बच्चों के लिये कम्प्यूटर की व्यवस्था की गई है। प्रत्येक पालक अपने बच्चे से विद्यालय की दैनिक गतिविधियों के बारे में बातचीत करते हैं।

2. बच्चों के उपलब्धि आकलन में सहयोगी – मुड़पार के ग्रामवासी –

जिला बेमेतरा, ग्राम मुड़पार की शासकीय प्राथमिक व माध्यमिक शाला के बच्चों के उपलब्धि स्तर को जानने के लिए न केवल शाला प्रबंधन समिति के पदाधिकारी बल्कि ग्रामवासी भी पूरी सक्रियता से कार्य कर रहे हैं। ग्राम समिति के कोई भी सदस्य शाला में कभी भी उपस्थित होते हैं और बच्चों से प्रश्न पूँछ कर व चर्चा कर उनके स्तर की जानकारी लेते हैं। बच्चों के कमजोर अभिव्यक्ति पर शिक्षक से परामर्श करते हैं और दिशा निर्देश देते हैं। विषयगत शिक्षण में गांव में पढ़े लिखे व्यक्ति समय–समय पर सहयोग करते हैं। बच्चों के अंतिम मूल्यांकन के समय समिति के कुछ सदस्य पालकों के साथ विद्यालय में उपस्थित होते हैं और लिखित तथा व्यवहारिक मूल्यांकन में सहयोग करते हैं। इससे न केवल स्तर का सही आकलन होता है वरन् शाला व शिक्षकों के प्रति विश्वसनीयता भी बढ़ती है। पालकों की उपस्थिति से बच्चों के आत्मविश्वास का भी विकास हुआ है। इस तरह सतत् एवं व्यापक मूल्यांकन के क्षेत्र में समुदाय का सकारात्मक सहयोग प्राप्त हो रहा है।

3. सामुदायिक सहभागिता का अनूठा उदाहरण बायसी संकुल –

जिला रायगढ़, विकास खण्ड धर्मजयगढ़ के बायसी संकुल के अंतर्गत प्रारंभिक स्तर के 16 शासकीय विद्यालय संचालित हैं। संकुल के लगभग सभी विद्यालय सुविधा विहीन थे। केवल शासकीय अनुदान और बजट द्वारा प्राप्त राशि से बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति कर पाना कठिन था। ऐसी स्थिति में उस संकुल के अंतर्गत आने वाले शाला समितियों के पदाधिकारियों ने सामूहिक बैठक कर निर्णय लिया कि हमें अपने विद्यालयों की समस्याओं को हल करने के लिए स्वयं पहल करनी होगी। धर्मजयगढ़ के जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान के सहयोग से कार्ययोजना तैयार की गई। समिति के सदस्यों द्वारा संकुल के सभी सोलह शालाओं की आवश्यकताओं की सूची तैयार की गई। एक बैठक रखा गया जिसमें ग्राम पंचायतों, जनपद और जिला पंचायत के साथ विधायक एवं अन्य जन प्रतिनिधियों को आमंत्रित किया गया। राज्य स्तर से लेकर ब्लाक स्तर के शिक्षा से जुड़े समस्त अधिकारियों को उपस्थिति देने के लिये आग्रह किया गया। कार्यक्रम के दिन सभी 16 गांवों के शिक्षा में रूचि लेने वाले सैकड़ों पुरूष एवं महिलाएं उपस्थित हुए।

कार्यक्रम के आरंभ में शासकीय अधिकारियों व शिक्षकों द्वारा जन–प्रतिनिधियों और पालकों का स्वागत किया गया। इसके बाद संकुल की शालाओं की समस्यायें प्रस्तुत की गईं तथा निवेदन किया गया कि इनके समाधान के लिए क्या सहयोग दे सकते हैं? स्वेच्छा से सभी ने अपने–अपने लिए दायित्वों का चयन किया और इस तरह सीमित समय में सभी शालाओं की समस्याएं समुदाय के सहयोग से सुलझा ली गई।

माता–पिता पालक अपने बच्चों की शिक्षा के लिये क्या–क्या कर सकते हैं?

माता–पिता अपने बच्चों की शिक्षा के लिये निम्न कार्य कर सकते हैं।

1. बच्चों को शाला में प्रवेश दिला सकते हैं।
2. बच्चों को घर से स्कूल और स्कूल से घर लाना ले जाना।
3. बच्चों के शिक्षकों से संपर्क कर अपने बच्चों की शैक्षिक प्रगति को जान सकते हैं।
4. बच्चों को नियमित स्कूल भेजना सुनिश्चित कर सकते हैं।
5. घर में पढ़ाई का वातावरण बना सकते हैं।

6. स्कूल में पढ़ाये गये विषयों की जानकारी ले सकते हैं।

7. अपने स्तर पर उनके विषयगत कठिनाईयों को दूर कर सकते हैं।

8. अपने बच्चों को प्यार और प्रोत्साहन भरा वातावरण दे सकते है।

9. उन्हें कापी किताब और अपनी चीजों को व्यवस्थित रखना सिखा सकते हैं।

10. शराब, गुटखा, तम्बाखू के सेवन से दूर रख सकते है।

11. बीमार होने पर उनका उचित ईलाज करा सकते हैं।

उपरोक्त बिन्दुओं के साथ–साथ पालक अपने बच्चों के साथ समय समय पर विभिन्न मुददों पर बातचीत कर सकते हैं। इस तरह से छोटे–छोटे कार्य करके विद्यालय को अहम् योगदान प्रदान कर सकते हैं तथा अपने विद्यालय को बेहतर बना सकते हैं।

अभ्यास के प्रश्न

1. आप अपने स्कूल से समुदाय को जोड़ने के लिये क्या–क्या प्रयास करेंगे और उसके लिय क्या तरीका अपनायेंगे?
3. शाला समितियों की बैठकों मे समिति के सभी महिला–पुरुष सदस्यों की भागीदारी हो इसके लिये आप क्या प्रयास करेंगे और कैसे?
4. माता–पिता बच्चों की पढ़ाई पर ध्यान नहीं देते वे स्कूल में नहीं आना चाहते इस कथन पर आप अपनी टिप्पणी दीजिए।
5. विद्यालय समदाय को एवं समुदाय स्कूल से क्यों नही जुड़ पा रहा है इस संबध में आप अपना विचार दीजिए।
7. स्कूल के लक्ष्य एवं उद्देश्य को शिक्षक एवं समुदाय मिलकर सुगमता पूर्वक कैसे प्राप्त कर सकते है?
8. शाला प्रबंध समितियां स्कूल की बेहतरी में सहयोगी हो पाये इसके लिये आप उनके साथ किस तरह का प्रयास करेंगे?
9. बच्चों की शैक्षिक गुणवत्ता विकास में समुदाय की भागीदारी को आप कैसे देखते है और अपने स्कूल में इसके लिये क्या प्रयास करेंगे?
10. स्थानीय हस्तकौशलों के अनुभव को आप अपनी स्कूल में कैसे शामिल करेंगे और उसके लिये समुदाय की क्या भागीदारी होगी?

दत्त कार्य–

1. शाला प्रबंधन समिति की सक्रिय भागीदारी के मार्ग में आने वाली प्रमुख समस्यायें कौन–कौन सी है? इन समस्याओं को हल करने के उपायों की व्यावहारिक उदाहरण सहित विवेचना कीजिए।

परियोजना कार्य : –

शिक्षा में सामुदायिक सहभागिता के व्यवहारिक उदाहरणों के अनुरूप अपने आसपास की किसी शाला के अध्ययन पर रिपोर्ट तैयार करें जहाँ सामुदायिक सहभागिता के क्षेत्र में अनुकरणीय प्रयास हुए हों।

पठन सामग्री 21

'कक्षा का ढाँचा' कितना उचित

लेखक – कृष्ण कुमार

अध्याय की रूपरेखा
सामान्य परिचय–
अध्याय के उद्देश्य
अभ्यास के प्रश्न
दत्त कार्य
परियोजना कार्य
अतिरिक्त पठन सामग्री

सामान्य परिचय

यह लेख प्रसिद्ध शिक्षाविद् प्रो. कृष्ण कुमार की चर्चित पुस्तक, *राज समाज और शिक्षा*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001 पृष्ठ 29–42 से लिया गया है।

अनेक लोगों के लिए शाला ज्ञान प्रदान करने वाली एकमात्र अधिकृत संस्था है, जो बच्चों को 'शिक्षित' करती है। यह मानने वाले लोग शाला के अन्दर भी हैं और बाहर भी। इसलिए शिक्षा अर्जन और ज्ञान की प्राप्ति के लिए शाला में आना ज़रूरी माना जाता है। लेकिन शाला को आलोचनात्मक दृष्टि से देखा जाना भी निहायत ज़रूरी है। तभी हम उसमें अपेक्षित सुधार कर पाएँगे। कृष्ण कुमार का यह लेख शाला में कक्षा विभाजन, कक्षोन्नति व शिक्षक की भूमिका को शल्य चिकित्सक की पैनी निगाह से देखता है और उसकी चीर–फाड करता है।

अध्याय के उद्देश्य

1. कक्षा व्यवस्था को समझना और उसे आलोचनात्मक नज़रिए से देखने का प्रयास करना।
2. कक्षा की बैठक व्यवस्था के औचित्य पर प्रश्न।
3. विविध आयु समूह के बच्चों की एक कक्षा की कल्पना करना। उसके फायदों से परिचय।
4. शिक्षकों के श्रेणी–विभाजन के कारणों को जानना।
5. कक्षा में सीखने का बेहतर माहौल बनाने की सम्भावनाओं की तलाश करना।

कई वर्ष पहले एक कहानी लिखते हुए मेरा वास्ता एक ऐसे बच्चे से पड़ा था, जो स्कूल में अपने वार्षिक प्रगति से क्षुब्ध है। कक्षा में उसके मास्टर साहब अक्सर कहा करते हैं कि अमुक बात उसे दो साल पहले जान लेनी चाहिए थी। बच्चा सोचता रह जाता है कि जो बात वह दो साल पहले नहीं जान सका, क्या वह अब नहीं जानी जा सकती? आखिर ये दो–दो साल के टुकड़े कब तक चलेंगे? इस बच्चे की दुविधा आधुनिक विश्व में नई पीढ़ी की सबसे व्यापक और गहरी दुविधा की बानगी है। वह जीवन के अत्यंत रूढ़ विभाजन से उत्पन्न हुई है। जीवन का विभाजन बहुत नई बात नहीं है; बचपन, जवानी, प्रौढ़ावस्था और बुढ़ापा पुराने समय से संसार की तमाम जातियों में जीवनखण्ड़ों की तरह मान्य रहे हैं। लेकिन युवावस्था का शेष जीवन से अलगाव तथा युवावस्था के भीतर विकासक्रम का अत्यंत यांत्रिक तथा बारीक विभाजन आधुनिक व्यवस्था की देन है। इसी विभाजन की अभिव्यक्ति है कक्षा की अवधारणा, जो पश्चिमी देशों में अधिक–से–अधिक चार सौ और भारत में दो सौ वर्ष पुरानी है। आज विश्व भर में शिक्षा की आधारशिला कक्षा है। इवान इलिच ने अपनी पुस्तक डीस्कूलिंग सोसायटी में बतलाया है कि शिक्षा हम सब पर कक्षा का लेबल लगा देती है जिसे जीवन भर लटकाए रहते हैं। कौन कितनी कक्षाएँ पढ़कर शिक्षा से अलग हुआ, इसी पर जीवन में उसकी संभावनाएँ निर्भर होती हैं।

कक्षाओं में विभक्त कर देने से शिक्षा एक बाधा–दौड़ बन जाती है। हर 'ऊँची' कक्षा की शिक्षा बच्चे को आमंत्रित करने के स्थान पर उसके रास्ते में बाधा बनकर खड़ी हो जाती है। शिक्षा का इससे ज्यादा विकृत रूपांतरण और कुछ नहीं हो सकता कि वह आकर्षित करने की जगह रोके। इस रूपांतरण की पृष्ठभूमि में

किसी शासन की यह अघोषित इच्छा छिपी हो सकती है कि शिक्षा के माध्यम से समाज सीढ़ियों के आकार में व्यवस्थित हो जाए। ऐसी व्यवस्था के अंतर्गत कक्षाओं की बाधा किसी न किसी स्तर पर छात्रों के अधिकांश को रोक लेगी और उनका अल्पांश ही अंतिम कक्षाओं तक पहुँच सकेगा। इस शिक्षा पद्धति का सारा जोर अधिक से अधिक विद्यार्थियों को किसी न किसी स्तर पर अयोग्य घोषित कर देना है। कक्षाओं के क्रम में जो जितने अधिक समय रह लेता है, वह उतना ही अधिक शिक्षित कहलाता है तथा समाज में उतने ही ऊँचे मुआवजे और सम्मान का अधिकारी होता है। कक्षा और समाजिक प्रतिष्ठा का यह गठबंधन स्कूल में ही आरंभ हो जाता है। छोटे और बड़े बच्चों को स्कूल में भिन्न किस्म की सुविधाएँ मिलती है। स्कूल के बाहर, घर तथा अन्य स्थानों पर बच्चे अपनी कक्षा से जाने जाते है; वयस्क समाज में उनका स्थान उनके स्तर से तय होता है। छोटे बच्चे को कदम–कदम पर महसूस होता है कि यह दुनिया वयस्कों की है, अतः इसमें भाग लेने के लिए जल्दी से जल्दी वयस्क हो जाना जरूरी है। ऐसी अनेक शिकायतें स्कूलों में प्रतिदिन सुनने को मिलती हैं जिनमें बच्चा जल्दी बड़ा हो जाने या दिखने की चिंता में कोई अपराध या स्कूल के नैतिक और अनुशासनिक व्यवस्था का उल्लंघन कर बैठता है।

बचपन का सामाजिक जीवन से पृथक्करण कक्षा–व्यवस्था की सबसे बड़ी उपलब्धि है। शिक्षा की पुरानी व्यवस्थाओं में बच्चे और बड़े का भेद नहीं था। हमारे यहाँ पुरानी गुरूकुल प्रणाली में बड़ों के सान्निध्य में बच्चों का रहना बहुत जरूरी समझा जाता था। पैमाना पाठ्यक्रम का होता है, आयु का नहीं। पांडिचेरी के श्री अरविंद आश्रम के अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा केंद्र में बच्चों को यह छूट दी जाती है कि वे अपनी दिलचस्पी के अनुसार विषय का चुनाव करके किसी भी कमरे में चल रहे काम में जुट जाएँ। बिहार में श्रमशाला नामक संस्था में बच्चे अपने अध्यापकों तथा संस्था से संबंधित अन्य वयस्कों के साथ खेतों में काम करते हैं। लेकिन, सच्चाई यही है कि ये संस्थाएँ अपवादस्वरूप हैं क्योंकि सामान्य नियम के रूप में हमारी कायदा पसंद सभ्यता यह मान चुकी है कि हर उम्र की आवश्यकताएँ पृथक और सुनिश्चित होती हैं।

शाला के बाहर (परिवार, मित्रों, रिश्तेदारों आदि के बीच) आम तौर पर बच्चे समान आयु समूह के बीच रहते हैं या अलग–अलग आयु समूह के बीच? दोनों ही स्थितियों में उनकी सीखने की प्रक्रिया पर किस प्रकार का असर पड़ता है? क्या आप उन अन्तरों को पहचान सकते हैं?

कहा जा सकता है कि जनशिक्षा के व्यापक प्रसार ने कक्षाओं में बँटी शिक्षा व्यवस्था को आवश्यक बना दिया। आजकल प्रचलित जनशिक्षा के संदर्भ में कक्षाक्रम की व्यवस्था निश्चय ही सुविधाजनक प्रतीत होती है। कक्षाक्रम से प्राप्त होने वाली सुविधा का मुख्य कारण यह है कि वर्तमान जनशिक्षा का आधार साक्षरता और पुस्तकज्ञान है, सामाजिक अनुभव और समझ नहीं। जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूँ, साक्षरता एक नई धारणा है जिसका संबंध प्रचारित ज्ञान से है। इसके विपरित शिक्षा एक पुरानी धारणा है जिसका संदर्भ सामाजिक जीवन और सभ्यता है। इस अर्थ में देखें तो शिक्षा के लिए कक्षाक्रम आवश्यक प्रतीत नहीं होता। उलटे शिक्षा की कक्षाक्रम से मुक्ति समाज के अधिकाधिक लोगों की शिक्षा के विकास में मददगार हो सकती है।

यह किस प्रकार होता है? समूह में चर्चा करें।

शिक्षा पर कक्षा व्यवस्था के प्रभाव का अध्ययन करने की दृष्टि ये यदि एक स्कूल संदर्भ चुना जाए तो कक्षा का अस्तित्व इन दो रूपों में दिखाई देता है : (1) स्कूल को सीढ़ीनुमा ढाँचा प्रदान करनेवाली व्यवस्था; (2) बच्चों के एक निश्चित समूह को शेष स्कूल से अलग करने वाला, एक निश्चित विन्यास में व्यवस्थित कमरा। कक्षा इन दोनों भूमिकाओं को एक साथ बखूबी निभाती है। स्कूल को सीढ़ीनुमा ढाँचे में बिठानेवाली व्यवस्था के रूप में वह निम्नांकित चार उद्देश्यों के तहत काम करती है :

(अ) एक कक्षा के बच्चों का अन्य कक्षाओं के बच्चों से अलगाव पैदा करना। (ब) एक कक्षा के बच्चों का अन्य कक्षाओं के अध्यापकों से अलगाव पैदा करना।

दो : ज्ञान को काल्पनिक वार्षिक खण्ड़ों में बाँटना।

तीन : बच्चे के विकास को साँचे में ढालना।

चार : सामाजिक वर्ग–विभाजन का पूर्व संस्कार बच्चे को देना।

क्या इसके अलावा भी कोई शिक्षा–क्रम या शिक्षा व्यवस्था हो सकती है? विचार करें।

किसी एक कक्षा में होने के कारण बच्चे का परिचय क्षेत्र अपनी आयु के बच्चों तक सीमित हो जाता है। अपने से छोटे और बड़े बच्चों से वह न केवल अलग कर दिया जाता है और इस कारण घनिष्ठ संबंध नहीं बना पाता, बल्कि उनके प्रति एक ऐसा रवैया अपनाना सीख लेता है, जिसे सामंती कहना अनुचित न होगा। बच्चों में पारिवारिक स्तर पर जैसा सौहार्द्र और आयु भिन्नता के बावजूद जैसा हेलमेल पाया जाता है, वैसा ही स्कूल में होना चाहिए। जीवन के उन तमाम छोटे–छोटे अनुभवों और दिक्कतों, जिनका सामना बच्चों को करना होता है, वे अपने बड़े मित्रों की मदद से ज्यादा आसानी से समझ सकते हैं। सच तो यह है कि अपने से कुछ बड़े और छोटे बच्चों के साथ रहना वैसा ही शिक्षाप्रद अनुभव हो सकता है जैसा वयस्क या प्रौढ़ शिक्षक के साथ काम करने से मिलता है। कक्षायी व्यवस्था ऐसा अनुभव असंभव बना देती है।

अपनी उम्र के कुछ छोटे और कुछ बड़े बच्चों के साथ सीखने के क्या–क्या लाभ हो सकते हैं? यह वर्तमान शाला के ढ़ाँचे में किस प्रकार सम्भव हो सकता है?

वह न केवल बच्चों को अपने से कुछ छोटे और बड़े बच्चों से अलग कर देती है, बल्कि स्कूल के उन अनेक अध्यापकों से भी अलग कर देती है, जो उन्हें नहीं पढ़ाते। बच्चों का वयस्कों से परिचय और उनके साथ काम करने का अनुभव बहुत जरूरी है। मौजूदा सामाजिक व्यवस्था में बच्चे केवल उन वयस्कों के संपर्क में आ पाते हैं, जिनसे उनके अभिभावकों के संबंध होते हैं। कक्षा में एक अध्यापक से बँधकर वे स्कूल में उपलब्ध अन्य वयस्कों से परिचय की संभावना खो देते हैं। सरकारी प्राथमिक शालाओं में देश में लगभग हर की ऐसी व्यवस्था है, जिसमें एक अध्यापक के जिम्मे एक कक्षा पूरी तरह से दे दी जाती है। बच्चे लगातार प्रत्येक दिन एक व्यक्ति के साए में रहकर ऊब जाते हैं, उस व्यक्ति से कुछ नया सीखने की क्षमता और उसके साथ काम करने की दिलचस्पी उनमें नहीं रह जाती। उनके बीच की सेतु किताबें रह जाती हैं जो वैसे भी बहुत जीवंत नहीं होतीं। कुछ गैरसरकारी, तकनीकी शिक्षा संस्थाओं में और प्राथमिक कक्षाओं में अलग–अलग विषयों के लिए अलग–अलग अध्यापक होते हैं। बच्चे एक व्यक्ति से बँधे नहीं रहते लेकिन उनका दायरा सीमित ही रहता है।

कक्षा–व्यवस्था का एक अन्य प्रभाव पाठ्यचर्या के क्षेत्र में दिखाई पड़ता है। सिद्धांततः पाठ्यचर्या का एक कार्यक्रम होता है, जो बच्चों और अध्यापक की परिस्थिति तथा समाज में शिक्षा के निर्धारित लक्ष्य के आधार पर बनाया जाना चाहिए। जिस अर्थ में 'पाठ्यक्रम' का इस्तेमाल भारत में होता है, उस अर्थ में वह एक शासकीय नीति या आदेश से भिन्न नहीं होता। हमारे यहाँ पाठ्यक्रमों का बच्चों और अध्यापक की परिस्थिति से कोई संबंध नहीं होता। वह शिक्षा संबंधी शोधकेंद्रों में बनाया जाता है और दूरदराज जिलों के गाँवों में स्थित स्कूल के बच्चों व अध्यापकों पर सीधे–सीधे लाद दिया जाता है। आजादी के बाद लगभग दो दशकों तक पाठ्यक्रमों में बहुत मामूली परिवर्तन हुए। इसके बाद राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद की अभूतपूर्व खोजों ने असर दिखलाना आरंभ किया और देखते ही देखते देश भर के प्रांतों के पाठ्यचर्या बदलने लगे। कुछ जगह परिवर्तन इतनी गति से हुए कि भारी मात्र में छपी छपाई पुस्तकें बेकार हो गई। नई पुस्तकों की छपाई और वितरण एक समस्या बन गया। इनसे अधिक विचित्र बात यह हुई कि पाठ्यचर्या नीचे की ओर सरकने लगा अर्थात पाठ्यसामग्री ऊँची से नीची कक्षाओं में स्थानांतरित कर दी गई। ऐसा करने की सिफारिश 1964–66 के शिक्षा आयोग ने इस तर्क के आधार पर की कि बीसवीं सदी में ज्ञान की कुल मात्रा अचानक बढ़ गई है। स्पष्टतः इस तर्क के पीछे यह मान्यता है कि ज्ञान एक राशि है। शिक्षा आयोग की रपट यह दिखाती है कि आयोग के सदस्य पश्चिमी देशों के पाठ्यक्रमों से अत्यंत प्रभावित थे और उनकी पाठ्यचर्या संबंधी सिफारिशों के पीछे यह इच्छा थी कि भारतीय पाठ्यचर्या में जानकारी की राशि पश्चिमी पाठ्यक्रमों के आधार पर बढ़ाई जाए। यह पूरा सोच राजनीतिक रूप से उपनिवेशी और शिक्षायी रूप से पुरातनपंथी है क्योंकि उसके अनुसार शिक्षा का केंद्र जानकारी है, बच्चे नहीं। यदि बच्चों को केन्द्र में रखा जाए तभी हम देख सकेंगे कि पाठ्यचर्या के निर्माण के लिए बच्चों की आर्थिक परिस्थिति, उनकी क्षमताएँ, उनके सामाजिक संदर्भ में शिक्षा के संभव उपयोग की पड़ताल जरूरी है, न कि जानकारी के पुलिंदों का आरोपण। पिछले आठ–दस वर्षों में पाठ्यचर्या संबंधी परिवर्तन करने के लिए देश के विभिन्न भागों के अध्यापकों और अभिभावकों से विचार–विमर्श नहीं के बराबर किया गया। थोड़ा–बहुत शोध नई पाठ्यसामग्री को शहरों में रहनेवाले बच्चों को पढ़ाकर किया गया और यह मान लिया गया कि सुदूर ग्रामों में पढ़नेवाले

बच्चे भी बढ़ी हुई पाठ्यसाम्रगी को आसानी से स्वीकार कर लेंगे। आशा के विपरीत नई पाठ्यसामग्री कस्बों और गाँवों के अध्यापकों तथा बच्चों के लिए बहुत कठिन साबित हुई। खासतौर से विज्ञान और गणित के पाठ्यक्रमों में जो परिवर्तन हुए, वे इन स्कूलों के लिए दुष्कर बन गए। इस प्रकार शहर के संपन्न और गाँव के गरीब स्कूल के बीच की दूरी, जो पहले ही काफी थी, और बढ़ गई। इस नई बढ़ोतरी का श्रेय पाठ्यचर्या को कक्षाओं के पैमाने पर पुनर्नवीनीकृत करने की चेष्टा को जाता है।

पाठ्यचर्या को कक्षाक्रम से बहुत कड़ाई से, बहुत कड़ाई के साथ बाँध देने के परिणामस्वरूप बच्चे का विकास एक अनवरत प्रक्रिया नहीं बन पाता, अपितु कृत्रिम खण्डों में बँट जाता है। एक स्थिर पाठ्यचर्या बच्चे की व्यक्तिगत रूचियों और क्षमताओं के विकास में सहयोग न देकर एक मजबूरी बन जाता है, जिसे बच्चा और उसका अध्यापक दोनों बेबस होकर स्वीकार करते हैं। यदि एक बच्चा किसी विषय में अपने सहपाठियों से अधिक दिलचस्पी रखता है, बदौलत उसे पूरे एक वर्ष या इससे भी अधिक प्रतीक्षा करनी होती है, जब कि वह उस विषय में कुछ अधिक विस्तृत जानकारी, अध्यापक और नई पुस्तक से प्राप्त कर सकता था। श्री अरविंद आश्रम के शिक्षा केंद्र में, जहाँ पाठ्यचर्या पूर्वनिर्धारित और स्थिर नहीं रहता, बच्चों को अपनी व्यक्तिगत रूचि और सामर्थ्य के अनुसार किसी विषय की जानकारी की प्रगति जारी रखने की छूट रहती है। सामान्य स्कूलों में, जहाँ यह छूट नहीं दी जाती, यह नामुकिन हो जाता है कि एक विषय के विभिन्न क्षेत्रों का बच्चे के दिमाग में तालमेल बना रह सके। होता प्रायः यह है कि नई कक्षा में आने पर उसे वही विषय बिलकुल नया और अपरिचित लगता है, जिसके बारे में काफी—कुछ वह पिछली कक्षा में जान चुका था। विशेष तौर पर ऐसा तब होता है, जब पाठ्यचर्या पाठ्यपुस्तकों का पर्याय हो, जैसा भारत में हैं।

पाठ्यचर्या बच्चे को एक कार्यक्रम के मुताबिक ज्ञान देने के बहाने एक प्रकार के साँचे में डाल देता है। यह साँचा बच्चे की जिज्ञासा, रूचि और क्षमता को काबू में करके धीरे—धीरे समाप्त कर सकता है। मेरा विचार है कि सामान्य स्कूलों में पढ़नेवाले बच्चों में से लगभग तीन—चौथाई के साथ यह माध्यमिक कक्षाओं तक पहुँचते—पहुँचते घट चुकी होती है। पाठ्यचर्या की कड़ाई के शिकार बच्चे में स्वयं कुछ जानने और करने की इच्छा तथा शक्ति नहीं रह जाती। वह कक्षा में अपनी उपस्थिति, अध्यापक के भाषण और पुस्तक की शब्दावली का आदी हो जाता है। उसकी हालत ऐसे बीमार व्यक्ति—जैसी होती है, जो अपनी इच्छाओं को भूल चुका हो और अपने जीवन व पोषण के लिए पूरी तरह डॉक्टर और नर्स पर निर्भर हो। बच्चे को इस हालत में पहुँचाने का उद्देश्य स्कूल या शिक्षा के नीतिकारों के मन में रहता है या नहीं, यह कहना असंभव और व्यर्थ है। लेकिन इतना अवश्य कहा जा सकता है कि खुद कुछ जानने और करने की सामर्थ्य खो चुका बच्चा स्कूल की अनुशासित माँगों की पूर्ति करने में पहले से अधिक समर्थ हो जाता है। वह न तो कक्षा में बात करता है, न ही स्कूल की इमारत में कोई उठापटक करता है। वह एक निश्चेष्ट इकाई हो जाता है, जो स्कूल के प्रशासन की दृष्टि से आदर्श प्रजा का इकाई प्रतिरूप होती है।

एक शिक्षक के नाते आप उपरोक्त बातों से किस हद तक सहमत हैं? इस स्थिति को बेहतर बनाने के लिए क्या—क्या किया जा सकता है?

स्कूल के प्रशासन की दृष्टि में एक अच्छा नागरिक बनने का प्रशिक्षण उस पर जीवन भर के लिए अपनी छाप छोड़ देता है। कक्षा की धारणा स्कूल की व्यवस्था का अंग नहीं रह जाती, बच्चे के दिमाग का संस्कार बन जाती है। कक्षा की धारणा ग्रहण कर सकने में समर्थ होने के साथ ही वह एक ऐसी संरचना को कबूल कर लेता है, जो स्तरों में बँटी है और जिसके सभी स्तरों का एक—दूसरे के प्रति अपवर्जक (एक्सक्लूसिव) रिश्ता है। अपवर्जक होने के कारण वह बच्चे के मैत्री संबंधों पर प्रभाव डालती है। अपने से ऊँची कक्षा के बच्चों से दोस्ती करना झिझक और परेशानी का विषय बन जाता है; अपने से नीची कक्षा के बच्चे बहुत छोटे दिखने लगते हैं। कक्षा एक पैमाने की तरह बच्चे को उसके विकास की माप प्रदान करती है। यह माप कृत्रिम और झूठी होती है क्योंकि विकास से बाहर के जीवन में बच्चे काफी बड़े होने तक अपने से अधिक और कम उम्रवाले बच्चों के साथ मैत्री—संबध बनाए रखते हैं। खासतौर से खेल में आयु का ध्यान बहुत कम बच्चे रखते हैं। खेलते वक्त बड़े बच्चे छोटों को उनकी क्षमतानुसार स्वीकार करते हैं और छोटे लगातार अपनी क्षमता बढ़ाने की कोशिश करते हैं। मिसाल के तौर पर कैरम में जब साथी की जरूरत होती है, तो छोटा और कमजोर खिलाड़ी स्वयं एक मजबूत साथी की माँग करता है और यह माँग प्रायः मान ली जाती है।

क्या ऐसा वयस्क नहीं करते? थोड़ा विचार/चर्चा कर पता लगाएँ कि वयस्क ऐसा किन—किन परिस्थितियों में करते हैं। इसके बाद उन स्थितियों की तुलना बच्चों को सीखने में आने वाली कठिनाईयों से करें। इस सब में एक शिक्षक को क्या करना चाहिए?

बच्चों में एक–दूसरे की कम–ज्यादा क्षमता को स्वीकार करने तथा क्षमता के अंतर के अनुसार व्यवहार करने की नैसर्गिक प्रतिभा को कक्षा का ढाँचा धीरे–धीरे नष्ट कर देता है। वह उनके जीवन में अनवरत प्रतियोगिता की स्थिति पैदा कर देता है, जिसमें सहभाव संभव नहीं रह जाता। कक्षा उन्हें आयु क्षमता के मुताबिक वर्गों और इकाइयों में बाँट देती है। सहभाव के स्थान पर स्पर्धा और सहयोग के स्थान पर ईर्ष्या उनके सामूहिक जीवन का आधार बन जाती है। पुरस्कार और परीक्षा–जैसे विधान कक्षाजनित इस मनःस्थिति को बल देते हैं। अधिक से अधिक अंक और ऊँचा से ऊँचा स्थान लेकर अगली कक्षा में जाना जीवन का चरम लक्ष्य प्रतीत होने लगता है। यही नहीं, कक्षाक्रम एक प्रकार की निरंकुशता प्राप्त कर लेता है। बच्चे को अपने अवचेतन में यह कबूल कर लेना होता है कि वह चाहने पर भी कक्षा की प्रतियोगी परिस्थिति से बाहर नहीं निकल सकता; प्रतियोगिता के नियम पूर्वनिर्धारित और अंतिम हैं, उन्हें स्वीकार करके लगातार आगे बढ़ते जाने के सिवा कोई अन्य रास्ता नहीं है।

जाहिर है कि स्कूल में कक्षाक्रम स्कूल के बाहर स्थित समाज का लघुरूप होता है। स्कूल की दीवार दो संसारों को विभाजित करती है : बाहर के संसार को यदि यथार्थ मानें तो भीतर का संसार उसका रूपक होता है। यथार्थ संरचना में आकार तथा नियम भूमिगत होते हैं, लघु संस्करण में वे प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। कक्षा के कमरे का ढाँचा बाहरी तौर पर साधारण होता है – अर्थात चार कोने और एक छत–किंतु कमरे के भीतर का विन्यास एक विशेष सभ्यता की उपज होता है, जिसे कक्षा की सभ्यता कहना अनुचित न होगा।

कक्षा की सभ्यता के मूलभूत उपादन कक्षाओं में बँटी स्कूली–व्यवस्था के आरंभ से अपरिवर्तित रहे हैं तथा बहुत दरिद्र सरकारी स्कूलों को छोड़कर सामान्यतः एक – जैसे मिलते है वह बच्चे के लिए स्कूल के बाहर फैले संसार या जीवन को 'ज्ञान' में तब्दील करने का साधन बन जाता है। पुस्तक भी वस्तुतः यही करती है लेकिन पुस्तक मात्र एक साधन नहीं होती; वह भीतर से एक कमरे की तरह खाली नहीं होती। वह दुनिया की तमाम चीज़ों का रूपक होती है जबकि कक्षा का कमरा मात्र एक स्थान होता है, जिसे एक रस्मी गरिमा प्राप्त रहती हैं, इस तरह पुस्तक बच्चे की कल्पना के लिए उत्प्रेरक का काम करती है, किंतु कक्षा का कमरा ऐसी किसी योग्यता के बगैर एक गरिमा प्राप्त कर लेता है। उसे यह गरिमा देने की कीमत कक्षा के बाहर के संसार और पुस्तक को चुकानी पड़ती है। वह यथार्थ और जीवन, जो स्वयं ज्ञान है, बच्चे के लिए गैरजरूरी बनने लगता है क्योंकि ज्ञान कहा जानेवाला अनुभव वह कक्षा के भीतर पाने का आदी बना दिया जाता है। स्कूली जीवन के ऐसे अनगिनत अनुभव प्रकृति और जीवन के गैरकक्षायी अनुभवों के प्रति बच्चे को कुंद बना देते हैं। कक्षा की दूसरी शिकार पुस्तक होती है। जैसे–जैसे बच्चा कक्षायी अनुभवों की निरंकुश सत्ता को स्वीकार करता जाता है, उसके पुस्तकीय अनुभव वैसे–वैसे किताबी बनते जाते हैं, अर्थात पुस्तक में उसकी कल्पना की उत्प्रेरणा करने की क्षमता कम होती जाती है। शब्द सिर्फ शब्द रह जाते हैं और चित्रांकन बड़े कक्षाओं में वैसे ही कम होने लगते हैं।

गैर कक्षाई अनुभवों को कक्षा में स्थान तथा पाठ्यपुस्तकों के आलवा अन्य साहित्य का विषय शिक्षण में उपयोग – इसके प्रति आपकी क्या राय है। ऐसे संसाधनों, स्रोतों की सूची बनाएँ जिनका आप कक्षा में उपयोग कर सकते हैं।

कक्षा के विन्यास का एक बुनियादी भाग बच्चों और अध्यापक की स्थितियों का अंतर है। अध्यापक अपनी आयु और आकार की बदौलत वैसे ही कक्षा में अहमियत रखता है। कक्षा के सिर पर बीचों बीच स्थित मेज, जो बच्चों के डेस्कों से ऊँची होती है; और कुर्सी उसकी अहमियत को उजागर करती है। बच्चों के लिए अध्यापक की स्थिति चुनौती के परे होती है। वे उसे एक अधिकारी वयस्क के रूप में ही अपने जीवन में स्वीकार करते हैं। इस पदवी पर रहते हुए वह कितनी आत्मीयता उनसे कर सकेगा, यह इस पर निर्भर होता है कि वह अपनी अहमियत को उजागर करने के कितने साधन और अवसर इस्तेमाल करता है। वह एक ऊँचे पद का सत्ताधारी ही बना रह सकेगा, बच्चों की जिंदगी के आरपार देख सकने वाला, उनके अनुभवों की तहों में प्रवेश कर सकनेवाला कुशल अध्यापक कभी नहीं बन सकेगा। इस असफलता से बचने के लिए उसे सबसे पहले कक्षा के ढाँचे को लचीला बनाना होगा। अपनी कुर्सी का प्रयोग कम से कम करते हुए कक्षा के हर बच्चे को हर समय उपलब्ध रहने का आभास देने का अभ्यास करना होगा और बोर्ड के इस्तेमाल में बच्चों की हिस्सेदारी को प्रोत्साहन देना होगा।

बोर्ड के इस्तेमाल में बच्चों की हिस्सेदारी' के क्या तात्पर्य है? क्या आप अपने विद्यार्थियों को ऐसा करने को उत्साहित करेंगे? आप किस–किस प्रकार से ऐसा करेंगे?

कक्षा में बच्चों के लिए पंक्ति में बैठना एक कठोर नियम बन चुका है। जिन स्कूलों में फर्नीचर नहीं है, वहाँ टाट–पट्टी पंक्ति में बैठने का एक स्पष्ट कारण उपस्थित करती है और बच्चे उसे स्वीकार कर सकते हैं। डेस्क–कुर्सी के साथ पंक्ति की अनिवार्यता इतनी कठोर नहीं हैं; एक सुविधाजनक व्यवस्था के साधन के रूप में पंक्ति उन अनेक व्यवस्थाओं में से एक है जो कक्षा के भीतर इस्तेमाल की जा सकती है। कक्षा के पारंपरिक ढाँचे को लचीला बनाने के अध्यापक को बच्चों को यह आजादी देनी चाहिए कि वे कैसी भी व्यवस्था या फर्नीचर का कैसा भी विन्यास बनाएँ या अव्यवस्थापूर्वक बैठें। इसमें शक नहीं कि ज्यादातर बच्चे व्यवस्था पंसद होते हैं किंतु कक्षा की व्यवस्था उनके द्वारा स्थापित होनी चाहिए, सदैव एक–सी रहनेवाली आरोपित व्यवस्था नहीं। कक्षा का विन्यास वस्तुतः बच्चों की इच्छा के साथ–साथ विषय और अभ्यास की प्रकृति पर निर्भर होना चाहिए। गणित और विज्ञान के लिए अलग–अलग या बेतरतीब बैठना ज्यादा उपयुक्त हो सकता है जबकि भाषा की पढ़ाई एक घेरे में बैठकर अच्छी तरह की जा सकती है। भाषा पढ़ते और सीखते हुए सम्मिलित प्रयास का लाभ प्रत्येक को मिलता है जबकि विज्ञान और गणित के लिए प्रत्येक बच्चे को पहले पूरी तरह अलग कोशिश करनी होती है। किंतु यह सब कक्षा की परिस्थिति के अनुसार तय किया जाना चाहिए। कोई सामान्य नियम शायद ही बनाया जा सके।

कक्षा की जिन दो भूमिकाओं का विवरण मैंने दिया है, उससे समझौता करके शिक्षा में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। कमरे के रूप में कक्षा के विश्लेषण में मैंने लिखा है कि अध्यापक और बच्चों के संबंधों को एक हद तक लचीला बनाया जा सकता है। ऐसी किसी कोशिश का प्रभाव आंशिक ही हो सकता है। क्योंकि मूलभूत परिवर्तन तभी होगा जब शिक्षा का ताल्लुक सीधे–सीधे कक्षा के बाहर के संसार से होगा। यह रिश्ता दुतरफा हो सकता है। अर्थात बच्चों का संबंध स्कूल के बाहर के संसार से और इस संसार यानी समाज का संबंध स्कूल से स्थापित होगा। एक संस्था के रूप में स्कूल रहेगा लेकिन प्रचारित ज्ञान सामग्री के संग्रह और वितरण केंद्र के रूप में नहीं। स्कूल की संस्था को नष्ट किए बिना उसकी वे दीवारें तोड़ी जा सकती हैं, जो समाज के स्थान पर सत्ता पर निर्भर बनाती हैं। समाज के विभिन्न काम–धंधों में लगे हुए लोगों का स्कूल से आत्मीय संबंध स्थापित होना चाहिए। दूसरी ओर बच्चों को स्कूल के बाहर की दुनिया में भाग लेने के अवसर मुहैया किए जाने चाहिए। पाठ्यपुस्तकों और अध्यापक पर बच्चों की निर्भरता समाप्त हुए बगैर स्कूल में कोई अवधारणात्मक परिवर्तन नहीं आ सकता।

जहाँ तक संरचनात्मक परिवर्तन का प्रश्न है, वह स्कूल के सामाजिक संदर्भ का प्रश्न है, इसलिए इसका हल केवल स्कूल के स्तर पर अलग से नहीं हो सकता। प्रतियोगी सभ्यता का विरोध और उसके स्थानापन्न की तलाश एक व्यापक राजनीति ही कर सकती है, स्कूल उसका एक प्रतीक बन सकता है। स्कूल में कक्षाओं का ढाँचा प्रयोग के तौर पर तोड़ना कठिन नहीं है; श्री अरविंद आश्रम कि वास्तविक काम शिक्षा को कक्षाक्रम से मुक्त करना है। ऐसा हो जाने पर योग्यता को उपाधि से और उपाधि को सामाजिक प्रतिष्ठा और आर्थिक संपन्नता से अलग करना संभव हो जाएगा। इस उद्देश्य की दिशा में पहल स्कूल नहीं कर सकता, क्योंकि वह समाज की प्राथमिकताओं तथा मूल्यों के परिवर्तन की दिशा में अकेले नहीं जा सकता। किंतु यदि एक राजनीतिक प्रक्रिया ऐसा कर रही हो तो स्कूल उसे एक अत्यंत महत्वपूर्ण मदद दे सकता है।

कक्षा–व्यवस्था का असर बच्चों के अलावा शिक्षकों पर भी पड़ता है। शिक्षा में 'मास्टर और प्रोफेसर' नाम से पुकारे जानेवाले वर्ग कक्षा की ही उपलब्धि हैं। इन वर्गों के भीतर अनेक उपवर्ग हैं, जिनके नामों में थोड़ी–बहुत प्रांतीय भिन्नता पाई जाती है। स्कूल के अध्यापकों में आज भी 'निम्नश्रेणी शिक्षक' और 'उच्च श्रेणी शिक्षक' के पदनाम भारत के कुछ प्रदेशों में बरकरार हैं, जिन्हें अन्य प्रांतों में कुछ कम अपमानजनक शब्दों से जाना जाता है। 'उच्च' शिक्षा के समूह में व्याख्याता, रीडर और प्रोफेसर की श्रेणियाँ है। प्राथमिक शाला से विश्वविद्यालय तक फैला यह वर्ग–विभाजन दो तरह से कक्षाक्रम से जुड़ा है : एक तो अध्यापक द्वारा हासिल की गई उपाधि के आधार पर और दूसरे उसके द्वारा पढ़ाई जानेवाली कक्षा के स्तर के अनुसार। इन दो आधारों पर शिक्षकों के पदनाम, वेतन तथा जीवन–स्तर का निर्धारण होता है। अधिक वेतन पानेवाले, सुविधा और आराम का जीवन जीनेवाले अध्यापक 'उच्च' कक्षाओं को पढ़ाते हैं, कम वेतन लेकर जिंदगी की बुनियादी जरूरतों के लिए मशक्कत करनेवाले अध्यापक 'प्राथमिक' कक्षाओं को। अध्यापकों के जीवन–स्तर

का अंतर उनके काम की प्रकृति से जुड़ा हुआ है, लेकिन विलोम अर्थ में। कम वेतन पानेवाले स्कूल के अध्यापक को विश्वविद्यालय के प्राध्यापक की तुलना में कहीं अधिक काम करना पड़ता है। यह एक आम धारणा है कि स्कूल के अध्यापक को पढ़ाने के लिए कोई तैयारी नहीं करनी पड़ती, क्योंकि एक बार एक कक्षा को सारे साल पढ़ा चुकने के बाद उसका काम पुरानी सामग्री को दुहराते जाना रह जाता है। यह धारणा सीधे – सीधे शिक्षा को संचय के योग्य साम्रगी मानने की प्रवृत्ति से जुड़ी है। स्कूल के शिक्षक और उसके शिष्यों की आयु में विस्तृत अंतर देखकर यह सोचा जा सकता है कि शिक्षक लगातार कुछ या पढ़े बिना काम चलाता रह सकता है। पर, ऐसी स्थिति में, शिक्षक का अध्ययन क्षेत्र कक्षा के संदर्भ में ठीक उतना रह जाएगा जितना उसके बच्चो का है अर्थात पाठ्यपुस्तकों तक सीमित रह जाएगा। कक्षा, जो बच्चों के ज्ञानार्जन की सीमाएँ तय करती है, शिक्षक का ज्ञान भी असहनीय पाने लगेंगे। इस स्थिति से बचने का एक ही तरीका उसके पास यह हो सकता है कि वह कक्षा के सीमांतों को स्वीकार न करके निरंतर पढ़ता–लिखता रहे। पाठ्यचर्या से सीधा संबंध रखनेवाली सामग्री ही पढ़ना कोई खास अर्थ नहीं रखता, क्योंकि अंततः वह शिक्षक को मानसिक रूप से कक्षा के भीतर ही रखेगी। आवश्यक यह है कि अपनी जानकारियों तथा परिस्थितियों को समझने की क्षमता को लगातार ताजा बनाए रखने के साधन उसे प्राप्त हों। इसके लिए आवश्यक आर्थिक स्थिति और सुविधाएँ मौजूदा शिक्षा–व्यवस्था में केवल 'उच्च' शिक्षा से संबंधित शिक्षकों को दी गई हैं – पूरी तरह नहीं तो अंशतः अवश्य। स्कूल के अध्यापक को उस कक्षा के दायरे में छोड़ दिया गया है, जिसमें उसके शिष्य आबद्ध हैं।

क्या आपको लगता है कि स्कूल की कक्षा में पढ़ाने के लिए अध्यापक को कोई तैयारी नहीं करनी पड़ती? ऐसा क्यों कहा जाता है?

समूह में चर्चा करें कि स्कूल शिक्षक के रूप में पढाने के लिए आप किस–किस तरह से तैयारी करते हैं?

अध्यापकों का कक्षानुसार विभाजन स्कूल और उच्च शिक्षा संस्थाओं के बीच जितना स्पष्ट है, उतना ही स्कूल के भीतर प्राथमिक और माध्यमिक कक्षाओं के बीच भी है। प्राथमिक कक्षाएँ कहने को ही प्राथमिक हैं, माध्यमिक और उच्चतर माध्यामिक कक्षाओं को कहीं अधिक तरजीह दी जाती है। मैंने स्वयं कई स्कूलों में 'ऊँची' कक्षाओं के अध्यापकों को इस बात पर तुनकते, नाराज होते देखा है कि उन्हें किसी प्राथमिक शिक्षक की अनुपस्थिति में 'नीची' कक्षा पढ़ाने को कहा जा रहा है। यहाँ तक कि 'ऊँची' कक्षाओं के दायरे के भीतर भी वर्गवृत्ति है। ग्यारहवीं कक्षा को पढ़ाने वाला शिक्षक दसवीं या नवीं कक्षा के शिक्षक की तुलना में स्वयं को अधिक योग्य समझता है। इस संकीर्ण मनोवृत्ति के कारण शिक्षक एक समुदाय की तरह काम कर सकने की संभावना से वंचित रह जाते है। उनके भिन्न कक्षायी अनुभव व्यक्तिगत रह जाते हैं और स्कूल एक जीवित संस्था की तरह काम करने के स्थान पर एक ढाँचा रह जाता है, जिसमें बच्चों के दैनिक आवागमन की रस्म नियमित रूप से संपन्न होती है।

अभ्यास कार्य

1. कृष्ण कुमार कक्षा व्यवस्था की आलोचना किन आधारों पर करते हैं?
2. कक्षा व्यवस्था में बचपन के सामाजिक पृथक्करण का बच्चों पर क्या असर पड़ता है?
3. अपनी उम्र के कुछ छोटे और कुछ बड़े बच्चों के साथ सीखने के क्या–क्या लाभ हो सकते हैं?
4. आपके खयाल से पाठ्यचर्या बनाने में किन–किन बातों का ध्यान रखा जाना चाहिए?
5. शाला में विद्यार्थियों को अन्य उम्र के सहपाठियों से अलग करने का क्या–क्या कारण हैं?
6. छात्रों को स्कूल के बाहर की दुनिया में भाग लेने के अवसर मुहैया कराने के लिए एक शिक्षक के रुप में आप क्या–क्या करेंगे? कारण सहित समझाएँ।

दत्त कार्य

1. मान लीजिए कि आपको किसी ऐसी कक्षा (25 विद्यार्थी) का दायित्व दिया गया है जिसमें 6 से 11 वर्ष की उम्र के बच्चे हैं। अपने अनुभव और कल्पना के आधार पर बताएँ कि इसमें आपको कौन–कौन सी

दिक्कतें पेश आ सकती हैं और आपके लिए कौन–कौन सी बातें सामान्य कक्षा की तुलना में सरल हो जाएँगी? (शाला में पढ़ाए जाने वाले किन्ही विषयों को भी आप उदारहण के रूप में शामिल कर सकते हैं।)

2. गैर कक्षाई अनुभवों तथा पाठ्यपुस्तकों के आलवा अन्य साहित्य का उपयोग भी अध्यापन में हो सकता है। कम से कम 2 ऐसे अनुभवों को लीपिबद्ध करें जिनका प्रयोग आपने एक शिक्षक या छात्र के रूप में या आपके किसी अध्यापक ने किया था।

3. बोर्ड के इस्तेमाल में बच्चों की भागीदारी के क्या तात्पर्य है? क्या आप अपने विद्यार्थियों को ऐसा करने को उत्साहित करेंगे? आप किस–किस प्रकार से ऐसा करेंगे।

परियोजना कार्य

1. किसी कक्षा का एक नक्शा (रेखाचित्र) बनाएँ जिसकी चर्चा कष्ण कुमार अपने लेख में करते हैं। साथ ही कारण सहित उस नक्शे की मूल बातों समाझाएँ।

अतिरिक्त पठन सामग्री

1. कृष्ण कुमार , राज समाज और शिक्षा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001
2. कृष्ण कुमार और सुरेश चन्द्र शुक्ल, शिक्षा का समाजशास्त्रीय संदर्भ, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली 2008
3. अनिल सद्गोपाल, शिक्षा में बदलाव का सवाल, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली 2004

पठन सामग्री क्र. 22

लोकतांत्रिक विद्यालय क्या है ?

अध्याय की रूपरेखा

सामान्य परिचय

अध्याय से उद्देश्य

`शीर्षक–उपशीर्षक

– लोकतांत्रिक जीवन से हमारा तात्पर्य

– लोकतांत्रिक संरचनाएँ और पद्धतियाँ

– संकीर्ण बनाम समावेशी लोकतंत्र

– शिक्षा सबकी पहुँच में

– विद्यालय एवं समाज

– लोकतंत्र और चुनौतियाँ

– लोकतांत्रिक पाठ्यक्रम

– समालोचनात्मक अध्ययन

– प्राकृत्कि आपदा कितनी प्राकृतिक

– बस पास का हिसाब

– पाठ्यचर्या के निर्माण में बच्चे

– पाठ्यचर्या के निर्माण मे सामाजिक समस्याएँ

– लोकतंत्र बनाम मानक पाठ्यक्रम

– लोकतांत्रिक पाठ्यचर्या विवादास्पद क्यों?

अभ्यास कार्य

दत्त कार्य

परियोजना कार्य

सहायक पठन सामग्री

सामान्य परिचय

प्रस्तुत पठन सामग्री में चर्चा की गई है कि किसी विद्यालय को लोकतांत्रिक विद्यालय हम कैसे कह सकते हैं या वे कौन–कौन सी स्थितियाँ हैं जो किसी विद्यालय को लोकतांत्रिक विद्यालय बनने से रोकती हैं, आदि। क्या लोकतंत्र का मतलब केवल बहुमत की इच्छाओं का पालन है? शाला प्रबन्धन और पाठयक्रम संबन्धी निर्णय में कौन लोग शामिल होंगे? क्या उनका उददेश्य सिर्फ बच्चों को कुछ जानकारी व कुशलताएं विकसित करना या उससे कुछ और?

यह पठन सामग्री एकलव्य द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'लोकतांत्रिक विद्यालय' के पृष्ठ क्र. 10–23 से ली गई है। मूल पुस्तक का नाम 'डेमोक्रेटिक स्कूल' है जिसका सम्पादन माइकल डब्ल्यू एपल व जेम्स ए. बीन ने किया है।

अध्याय से उद्देश्य

1. लोकतंत्र और शाला के रिश्ते को समझना।

2. यह जानना कि लोकतंत्र केवल एक शासन पद्धति नहीं, वरन् जीवन मूल्य और जीवन पद्धति भी है।

3. लोकतांत्रिक शालाओं के मूलभूत गुणों को पहचना।

4. लोकतांत्रिक पाठ्यचर्या की बारीकियों का समझना।

5. समावेशी पाठ्यक्रम के महत्व को जानना।

6. पाठ्यचर्या, पाठ्यपुस्तकों पर होने वाले विवादों के सकारात्मक पक्षों को देखना।

7. एक शिक्षक के रूप में समावेशी और लोकतांत्रिक भूमिका निभाने के लिए स्वयं को तैयार करना।

लोकतांत्रिक जीवन से हमारा तात्पर्य

1. विचारों व जानकारियों का मुक्त प्रवाह जिससे लोग अधिक से अधिक सूचित हो सकें।

2. समस्याओं के निदान हेतु सम्भावनाएँ निर्मित करने की लोगों की व्यक्तिगत और सामूहिक क्षमता पर विश्वास।

3. विचारों, नीतियों और समस्याओं के मूल्यांकन के लिए आलोचनात्मक प्रतिक्रिया और विश्लेषण का उपयोग।

4. दूसरों के कल्याण तथा "सामूहिक हित" की चिन्ता ।
5. व्यक्तियों, खासकर अल्पसंख्यकों की गरिमा और अधिकारों की चिन्ता।
6. इस बात की समझ कि लोकतंत्र कोई "आदर्श" नहीं जिसे प्राप्त करने की कोशिश करना है, बल्कि वह मूल्यों का एक समूह है जिसे जीना है और जिससे जीवन में मार्गदर्शन प्राप्त करना है।
7. लोकतांत्रिक जीवन पद्धति को बढ़ावा देने और विस्तृत करने के लिए सामाजिक संस्थाओं का गठन।

उक्त बिन्दूओं में से अन्तिम दो (छह और सात) पर गौर करें। जिनमें कहा जा रहा है, 'लोकतंत्र मूल्यों का वह समूह है जिसे जीना है' और 'लोकतांत्रिक जीवन पद्धति को बढ़ावा देना' है। यह 'लोकतंत्रः एक शासन पद्धति' से कुछ भिन्न बात है। इसका क्या आशय है? जीवन मूल्य के रूप लोकतंत्र को अपनाए जाने का क्या मतलब है? हम रोज़मर्रा के अपने जीवन में किस हद तक लोकतांत्रिक हैं? लोकतांत्रिक जीवन पद्धति की पहचान क्या है? उसमें क्या–क्या बातें निहित हैं? – इन जैसे मुद्दों पर विचार करें और सम्भव हो तो अन्य साथियों से चर्चा करके उनकी राय जानें।

लोकतांत्रिक जीवन पद्धति के लिए बच्चों व युवाओं को तैयार करना लोकतांत्रिक विद्यालय का मकसद है तो उस विद्यालय को भी लोकतांत्रिक तरीकों से चलना होगा।

लोकतांत्रिक विद्यालय क्या है? यदि हम किसी लोकतांत्रिक विद्यालय में जाएँ तो हम वहाँ क्या देखने की उम्मीद कर सकते हैं? समय के साथ कैसे विकसित हुई लोकतांत्रिक विद्यालय की अवधारणा? इसके मूलभूत सिद्धान्त क्या हैं? इन विद्यालयों के अस्तित्व को क्या खतरा है?

लोकतंत्र की ही तरह लोकतांत्रिक विद्यालय भी हवा में से नहीं आए हैं। ये उन शिक्षाविदों के सतत् प्रयासों का प्रतिफल हैं जिन्होंने लोकतंत्र को जीवन में उतारने के लिए अवसरों और सुविधाओं का निर्माण किया है। अवसर और सुविधाएँ पैदा करने का यह काम दो स्तरों पर चलता है। पहला है विद्यालयीन जीवन में लोकतांत्रिक संरचनाओं और पद्धतियों का निर्माण। दूसरा है ऐसे पाठ्यचर्या की व्यवस्था जिससे छात्रों को लोकतांत्रिक अनुभव प्राप्त हों।

लोकतांत्रिक संरचनाएँ और पद्धतियाँ

यह कहना एक घिसी–पिटी बात है कि लोकतंत्र शासितों की स्वीकृति पर आधारित होता है। लेकिन विद्यालयों के मामले में यह सच है कि वहाँ विद्यालय से सीधे जुड़े सभी लोगों को– छात्रों को भी– निर्णय लेने की प्रक्रिया में भाग लेने का अधिकार होता है। इस कारण, लोकतांत्रिक विद्यालय संचालन और नीति निर्धारण के मामले में व्यापक भागीदारी के लिए ही जाने जाते हैं। विद्यालय के लिए निर्णय लेने वाले समूहों, जैसे– समितियों, परिषदों आदि में न केवल पेशेवर शिक्षाविद होते हैं बल्कि बच्चे, उनके अभिभावक और विद्यालय समुदाय के अन्य सदस्य भी होते हैं। कक्षाओं में अध्यापक और बच्चे मिलकर अपने सरोकारों से जुड़े हुए मसलों पर बातें करते हैं, योजना बनाते हैं और निर्णय लेते हैं। विद्यालय स्तर और कक्षा स्तर पर बनाई गई यह लोकतांत्रिक योजना लोकतंत्र के नाम पर पहले से लिए गए निर्णयों पर अनुमोदन की मोहर लगवाना नहीं है, बल्कि जीवन को प्रभावित करने वाले मसलों पर निर्णय लेने के लोगों के अधिकार का सम्मान करने की ईमानदार कोशिश है।

शाला में लोकतांत्रिक व्यवहार होने के छात्रों को क्या–क्या सीखने को मिलता होगा?

क्या आपको लगता है कि लोकतांत्रिक विद्यालयों के विद्यार्थी नागरिक के रूप में ज़्यादा अच्छी तरह से भूमिका निभा सकते हैं?

संकीर्ण बनाम समावेशी लोकतंत्र

फिर भी, हमें भूलना नहीं चाहिए कि स्थानीय निर्णय भी लोकतांत्रिक मूल्यों के अनुरूप ही लिए जाने चाहिए। लोकतंत्र का यह एक अन्तर्विरोध है कि स्थानीय स्तर पर लिए गए लोकप्रिय निर्णय हमेशा लोकतांत्रिक मूल्यों के अनुरूप नहीं होते। यदि सारी बात स्थानीय लोगों की मर्जी पर ही छोड़ दी जाए तो फिर हमें ऐसे विद्यालय भी देखने को मिल सकते हैं जिनमें जातिवादी या नस्लवादी भेदभाव चल रहा हो या

जिनमें अमीरों के बच्चों के अलावा सबका प्रवेश वर्जित हो। संक्षेप में, लोकतांत्रिक विद्यालयों की सफल क्रियान्विति के लिए कुछ मामलों में राज्य का हस्तक्षेप भी जरूरी है, खासकर वहाँ जहाँ पर स्थानीय निर्णयों से किसी समूह विशेष के लोगों का दमन या अलगाव होता हो। जिन्हें सम्पूर्ण अधिकार अपने हाथ में रखने की इच्छा होती है उन्हें राज्य का यह हस्तक्षेप अच्छा नहीं लगता। लेकिन यह हमें याद दिलाता है कि लोकतांत्रिक मूल्यों और अधिकारों का व्यापक वितरण कागज़ पर लिखे गए सिद्धान्तों से कुछ अधिक होना चाहिए।

कल्पना करें कि यदि लोकतांत्रिक विद्यालयों में राज्य का हस्तक्षेप न हो तो इसके क्या–क्या परिणाम हो सकते हैं?

हमारा अपना दौर इस बात का सबूत है कि लोकतंत्र की रक्षा के राज्य के उत्तरदायित्व और अनेक हित समूहों के अभिव्यक्ति के अधिकार के बीच एक तनाव की स्थिति बनी रहती है। उदाहरण के लिए, एक लोकतांत्रिक समाज में सार्वजनिक विद्यालयों से यह अपेक्षा की जाती है कि उनमें अनेकानेक विषयों पर विचार–विमर्श और आलोचना की आजादी होगी। लेकिन अनेक विशेष हित समूह, खासकर धार्मिक मूलतत्ववादी, माँग करते हैं कि विद्यालयों में केवल उन्हीं विचारों और विषयों पर बात करने की छूट हो जो उनका समर्थन करते हैं। फिर यह भी है कि वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य में स्थानीय समूह राष्ट्रीय पाठ्यचर्या निर्माण के प्रयासों से दुःखी रहते हैं, क्योंकि इसमें विषय सामग्री की परिधि वहीं तक सीमित होती है जहाँ तक उसे राष्ट्रीय स्तर पर किन्हीं विशेष समूहों द्वारा महत्वपूर्ण माना जाता है। लोकतांत्रिक विद्यालयों की एक खासियत है विद्यालय के मामलों में सभी सम्बद्ध पक्षों की व्यापक भागीदारी, लेकिन यह काम इतना सरल नहीं कि सभी को आमंत्रित करने भर से पूरा हो जाए। क्योंकि अपना मत व्यक्त करने का मौका देते ही विशिष्ट समुदायों के हितों और व्यापक सामूहिक हितों के बीच पटरी बैठाने का सवाल उठ खड़ा होता है।

लोकतांत्रिक विद्यालयों से जुड़े हुए लोग स्वयं को सीखने वाले समुदाय का हिस्सा समझते हैं। अपने स्वभाव से ही ये समुदाय एक–दूसरे से भिन्न होते हैं और इस भिन्नता को समस्या नहीं समझा जाता, इसकी कद्र की जाती है। इन समुदायों में अलग–अलग आयु, संस्कृतियों, नस्लों, लिंगों, समाजार्थिक वर्गों, आकांक्षाओं और क्षमताओं के लोग होते हैं। ये विभिन्नताएँ समुदाय को समृद्ध करती हैं और इसके दृष्टिकोण को व्यापक बनाती हैं। किसी भी आयु के व्यक्ति को इन भिन्नताओं के आधार पर अलग करना या उसे खास किस्म की पहचान या नाम देना, विभाजन और श्रेणी भेद पैदा करता है। ऐसा करना समुदाय की लोकतांत्रिक प्रकृति से भटकाव है और यह उन व्यक्तियों की गरिमा के भी विरुद्ध है जिनके खिलाफ इसका उपयोग होता है।

जहाँ समुदाय विभिन्नता की कद्र करता है, वहीं उसका एक साझा उद्देश्य भी होता है। लोकतंत्र कोई स्वार्थ–केन्द्रित सिद्धान्त नहीं है जो दूसरों की कीमत पर अपने हित साधने की छूट देता हो। सामान्य हित लोकतंत्र की केन्द्रीय विशेषता है। इसलिए लोकतांत्रिक विद्यालयों में सीखने वाले समुदाय सहयोग और सहकार पर जोर देते हैं न कि प्रतियोगिता पर। लोग अपना हितलाभ दूसरों के हित में देखते हैं, और इस बात की व्यवस्था की जाती है कि बच्चों को दूसरों की मदद करके समुदाय के जीवन को उन्नत बनाने के लिए प्रोत्साहित किया जाए।

क्या आपको लगता है कि समाज में विविध समूहों के हितों व आकांक्षाओं के बीच अक्सर एक टकराव या तनाव बना रहता है?

इसे आप किस नज़र से देखते हैं?

इसके समाधान के लिए सबसे अच्छी पद्धति कौनसी हो सकती है?

क्या इस टकराव–तनाव का हमेशा के लिए खत्म हो जाना उचित है?

शिक्षा सबके पहुंच में

इन सब व्यवस्थाओं में और इनका समर्थन करने वाले नीतिगत निर्णयों में लोकतांत्रिक विद्यालयों के लोग ढाँचागत बराबरी पर लगातार जोर देते हैं। पढ़ने के अवसर या प्रथम प्रवेश की सुविधा लोकतांत्रिक विद्यालयों का एक आवश्यक पहलू है, लेकिन प्रवेश या अवसर ही पर्याप्त नहीं है। एक प्रामाणिक लोकतांत्रिक समुदाय में सभी बच्चों को विद्यालय के सभी कार्यक्रमों में भाग लेने का और उसके मूल्यों को आत्मसात करने का

अधिकार रहता है। इसी कारण लोकतांत्रिक विद्यालयों में इस बात का ध्यान रखा जाता है कि बच्चों के समक्ष कोई संस्थागत बाधा न आने पाए। पक्षपातपूर्ण परीक्षण, ट्रैकिंग तथा इस तरह की अन्य व्यवस्थाओं आदि को निर्मूल करने का पूरा प्रयास किया जाता है ताकि जाति नस्ल, लिंग या वर्ग के आधार पर किसी को वंचित न रखा जा सके।

लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रसार की आवश्यकता शाला के बाहर व्यापक समाज में भी है। क्या आपको लगता है कि इसके लिए शिक्षकों को शाला से बाहर भी कोई भूमिका निभानी चाहिए इस विषय पर समूह में चर्चा करें कि ये भूमिकाएँ किस–किस प्रकार की हो सकती हैं?

विद्यालय और समाज

लोकतंत्र के लिए प्रतिबद्ध शिक्षाविद समझते हैं कि विद्यालय में गैर–बराबरी के स्रोत समुदाय में भी पाए जा सकते हैं। कम से कम इतना तो वे समझते ही हैं कि विद्यालय से प्राप्त लोकतांत्रिक अनुभव बाहर की दुनिया में जाते ही धुल भी सकते हैं। अपने आपको एक व्यापक समुदाय का हिस्सा समझते हुए वे समाज में भी लोकतंत्र फैलाना चाहते हैं, बच्चों के लिए ही नहीं, सबके लिए। संक्षेप में, वे एक वृहत् स्तर पर लोकतंत्र चाहते हैं; विद्यालय उन स्थानों में से सिर्फ एक स्थान है जिन पर उन्होंने अपना ध्यान केन्द्रित कर रखा है। यह एक महत्वपूर्ण बिन्दु है। शिक्षा का क्षेत्र असफल विद्यालय सुधारों की गर्दोगुबार से अँटा हुआ है, और इनमें से अनेक चारों ओर की सामाजिक स्थितियों के कारण ही असफल हुए थे। केवल वही सुधार बच्चों, शिक्षाविदों, विद्यालयों तथा विद्यालयों द्वारा सेवित समुदायों के जीवन में कोई स्थायी अन्तर पैदा करने में सफल हो सकते हैं जो इन परिस्थितियों को ध्यान में रखें और उनसे सक्रिय भागीदारी करवा सकें।

खासतौर पर यह अन्तिम बिन्दु ही लोकतांत्रिक विद्यालयों को अन्य ''प्रगतिशील'' विद्यालयों से अलग करता है, मसलन सिर्फ मानवतावादी विद्यालयों या बाल केन्द्रित विद्यालयों से। लोकतांत्रिक विद्यालयों में ये तत्व भी शामिल हैं, लेकिन उनकी नजर विद्यालय का वातावरण सुधारने या बच्चों में आत्सम्मान की भावना पैदा करने से कहीं आगे है। लोकतांत्रिक शिक्षाविदों की कोशिश विद्यालय में सामाजिक गैर–बराबरी की चुभन कम करना मात्र नहीं है, बल्कि उन परिस्थितियों को बदलना है जो गैर–बराबरी पैदा करती हैं। इसी कारण वे विद्यालय के भीतर के गैर–लोकतांत्रिक आचरण को बाहर की बड़ी दुनिया से जोड़कर देखते हैं। अन्य प्रगतिशील शिक्षाविदों की ही तरह लोकतंत्र से जुड़े शिक्षाविद भी बच्चों से गहरा सरोकार रखते हैं। लेकिन वे यह भी जानते हैं कि इसके लिए उनका जातिवाद नस्लवाद, अन्याय, केंन्द्रीकृत सत्ता, गरीबी तथा अन्य असमानताओं के खिलाफ डटकर खड़े रहना जरूरी है। ऐसा विद्यालय में भी जरूरी है और समाज में भी।

लोकतंत्र और चुनौतियां

लोकतांत्रिक विद्यालयों के लिए आवश्यक संरचना और प्रक्रिया का आरम्भिक चित्र तुरन्त खींचा जा सकता है। लेकिन इसका विस्तृत और सघन चित्र आसानी से चरितार्थ नहीं होता। एक लोकतांत्रिक विद्यालय को खड़ा करने और चलाए रखने का काम मुश्किलों से भरा और थकाने वाला है। आखिर समाज में लोकतंत्र के गुणगान के बावजूद, और इस सामान्य समझ के बावजूद कि लोकतंत्र का विचार लोकतांत्रिक आचरण से ही सीखा जा सकता है, सच यह है कि हमारे विद्यालय काफी अलोकतांत्रिक संस्था रहे हैं। जहाँ लोकतंत्र का जोर परस्पर सहयोग पर रहता है, वहीं बहुत सारे विद्यालयों में परस्पर प्रतियोगिता को प्रोत्साहित किया जाता है – अच्छे अंकों के लिए, श्रेणी के लिए, संसाधनों के लिए, कार्यक्रमों के लिए आदि–आदि। जहाँ लोकतंत्र सामान्यहित की चिन्ता करना सिखाता है, वहीं अनेक विद्यालय बाहर से थोपे गए राजनीतिक एजेण्डे के प्रभाव में स्वार्थ पर आधारित व्यक्तिवादिता के विचार को बढ़ावा देते हैं। जहाँ लोकतंत्र में अनेकता की कद्र की जाती है, वहीं बहुत सारे विद्यालयों ने देश के सर्वाधिक शक्तिशाली समूहों के हितों और आकाँक्षाओं का ही प्रतिनिधित्व किया है। उन्होनें कमजोर समूहों के हितों की हमेशा उपेक्षा की है। लोकतंत्र में विद्यालयों को दर्शाना चाहिए कि सबके लिए समान अवसर कैसे उपलब्ध कराए जा सकते हैं, लेकिन बहुत सारे विद्यालयों में ट्रैकिंग करना और क्षमतावार समूह बनाना जैसी बुराइयाँ व्याप्त हैं जो सबको समान अवसर के सिद्धान्त का सीधा उल्लंघन करती है।

लोकतांत्रिक शिक्षा के लिए प्रतिबद्ध लोगों को अक्सर शिक्षण की वर्चस्वशाली परम्परा के विरोध में खड़े होना होता है। हर कदम पर उनके विचारों और प्रयासों का वे लोग प्रतिरोध करते हैं जिन्हें गैर–बराबरी से लाभ होता है और जिनकी दिलचस्पी विद्यालयों के सिरे से कायापलट में नहीं सिर्फ कार्यकुशलता और श्रेणीबद्ध सत्ता में रहती है। लोकतांत्रिक विद्यालयों के निर्माण के काम में हताशा और कुण्ठा शिक्षा नीतियों और लोकमत में व्याप्त अलोकतांत्रिक धारा के माहौल में उन्हें चलाए रखने के काम में और बढ़ जाती है। लेकिन लोकतांत्रिक शिक्षाविद इस बात को समझते हैं कि लोकतंत्र कोई बनी–बनाई, सुपरिभाषित ''आदर्श स्थिति'' नहीं है जिसे सिर्फ प्राप्त करना है। यह तो सतत् परिश्रम से कुछ बदलाव लाने की एक कठिन चेष्टा है। चुनौती आसान नहीं है; राह में मुश्किलें हैं, विरोध और विवाद हैं।

लोकतांत्रिक विद्यालयों के शिक्षकों, प्रबन्धकों आदि को किस–किस तरह की रुकावटों का सामना करना पड़ता होगा?

समाज में किस तरह के लोग उनकी खिलाफ होते होंगे और किस तरह के लोग उनके साथ खड़े होते होंगे?

लोकतांत्रिक पाठ्यक्रम

अब तक जिन संरचनाओं और पद्धतियों की चर्चा की गई हैं वे आम तौर पर विद्यालयों की रोजमर्रा की जिन्दगी की गुणवत्ता को परिभाषित करती हैं। विद्यालय की प्राचीन परम्पराओं और गहरी संरचना का हिस्सा होने के नाते उनसे यह सबक भी मिलता है कि विद्यालय के मूल्य क्या हैं और किसके लिए हैं। इस तरह वे एक ''प्रच्छन्न'' पाठ्यचर्या बनाते हैं जिसके माध्यम से छात्र न्याय, सत्ता, गरिमा और आत्मबोध के महत्वपूर्ण पाठ सीख सकें। इन संरचनाओं और प्रक्रियाओं का लोकतांत्रीकरण ऐसे विद्यालयों का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पहलू है। लेकिन इसकी पूरी तस्वीर तब बनती है जब योजनाबद्ध और प्रकट पाठ्यचर्या में भी लोकतंत्र लाने का रचनात्मक प्रयास किया जाता है।

चूँकि लोकतंत्र में लोगों की सभी पक्षों की जानकारी पर आधारित सहमति होना जरूरी है, लोकतांत्रिक पाठ्यचर्या में सूचनाओं के एक व्यापक वृत्त पर और अलग–अलग मत रखने वालों के अभिव्यक्ति के अधिकार पर जोर दिया जाता है। एक लोकतांत्रिक समाज में शिक्षाविदों का दायित्व है कि वे बच्चों द्वारा विभिन्न विचारों से परिचित होने और अपने विचार व्यक्त करने में सहायक बनें। दुर्भाग्य से, अनेक विद्यालय अनेक तरीकों से अपनी इस जिम्मेदारी में मुँह चुराते हैं। पहले तो वे विद्यालय द्वारा दिए जा रहे ज्ञान को ऊँचे दर्जे के ज्ञान या ''आधिकारिक ज्ञान'' तक सीमित कर देते हैं। जो कि प्रभुत्वशाली संस्कृति द्वारा उत्पन्न या समर्थित होता है। दूसरे वे उन आवाजों को खामोश कर देते हैं जो इस प्रभुत्वशाली संस्कृति से बाहर हैं।

उपरोक्त वाक्यों में 'आधिकारिक ज्ञान' किसे कहा जा रहा है? शाला में शिक्षकगण किस–किस प्रकार से उसका उपयोग करके अन्य विचारों, मतों आदि को नज़रंदाज कर देते हैं। इस विषय पर गौर करें और समूह में चर्चा करें।

समालोचनात्मक अध्ययन

सबसे अधिक विचलित करने वाली बात यह है कि लगभग सभी विद्यालय इस आधिकारिक, ऊँचे दर्जे वाले ज्ञान को इस तरह पढ़ाते रहे हैं मानो यह किसी अत्यन्त विश्वसनीय और अपरिवर्तनशील स्रोत से प्राप्त ''सत्य'' हो। जो लोग एक अधिक सहभागितापूर्ण पाठ्यचर्या के पक्ष में हैं वे जानते हैं कि ज्ञान समाज की ही उपज होता है। ज्ञान जिन लोगों द्वारा निर्मित और वितरित होता है, उनके अपने कुछ मूल्य, हित और पूर्वाग्रह होते हैं। यह जीवन का एक सरल–सा तथ्य है, क्योंकि हम सबको बनाने में हमारी संस्कृति, लिंग, भूगोल इत्यादि का हाथ रहता है। लेकिन फिर भी एक लोकतांत्रिक पाठ्यचर्या में बच्चे अपने समाज का ''आलोचनात्मक अध्ययन'' करना सीखते हैं। उन्हें इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाता है कि वे जब भी किसी ''ज्ञान'' या ''दृष्टिकोण'' के सामने पड़ें तो पूछें कि यह किसने कहा? उन्होंने ऐसा क्यों कहा? हम इसे क्यों मानें? और अगर हम इसे मान लें और वैसा ही करें तो इससे किसको फायदा होगा? आदि।

एक उदाहरण – 'प्राकृतिक आपदा' कितना प्राकृतिक?

बात को और ठीक से समझने के लिए एक कक्षा के उदाहरण पर गौर करें जिसे इस पुस्तक के एक सम्पादक ने स्वयं देखा है। अध्यापक और बच्चे "सामयिक घटनाओं" पर चर्चा कर रहे थे। वे समाचारपत्रों से ली गई सामग्री की सहायता से "प्राकृतिक आपदाओं" को समझने की कोशिश कर रहे थे। प्राकृतिक आपदाओं से हमारा क्या आशय है और उनकी यह परिभाषा किसने बनाई है, यह प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है। अर्थात हम लोग अब (दुर्भाग्य से) ऐसे चित्र देखने के अभ्यस्त हो चुके हैं जिनमें तूफान, सूखा वगैरह से हजारों आदमियों की जान चली जाती है। कक्षा के बच्चों की ही तरह हमें भी यह मानने को कहा जाता है कि ये "प्राकृतिक आपदाएँ" थीं। लेकिन सामयिक घटनाओं को समझने का यह प्रकटतः तटस्थ तरीका क्या वास्तव में तटस्थ है? या बड़ी सफाई से इसमें भी कुछ खास किस्म के मूल्य घुसा दिए गए हैं या इसमें से निकाल लिए गए हैं?

उस कक्षा में हुई चर्चा का एक हिस्सा यह बताने के लिए काफी है कि यह प्रश्न क्यों महत्वपूर्ण है। छात्रों ने दक्षिण अमरीका में हुए व्यापक भू–स्खलन को समझा। प्रचण्ड वर्षा से पहाड़ी इलाके के लोगों के घर बर्बाद हो गए थे और बड़ी संख्या में लोग मारे गए थे या बुरी तरह घायल हो गए थे। लेकिन गहराई से देखने पर पता चलता है कि इस दुर्घटना में बहुत कम ही कुछ ऐसा था जिसे "प्राकृतिक" कहा जा सके। दक्षिण अमरीका में हर साल वर्षा होती है, और हर साल लोग मरते हैं। इस साल पहाड़ का एक तरफ का पूरा हिस्सा गिर गया और इस तरफ रहने वाले हजारों लोग मारे गए। लेकिन सुरक्षित और उपजाऊ घाटी में रहने वाला कोई नहीं मरा।

ये परिवार खतरनाक पहाड़ी ढलानों पर रहने को मजबूर थे क्योंकि यही जमीन बची थी जिस पर घर बसाकर वे किसी तरह गुजर–बसर कर सकते थे। जमीन के स्वामित्व के बेहद गैर–बराबरीपूर्ण ऐतिहासिक स्वरूप और गरीबी की वजह से लोग पहाड़ी ढलानों पर रहते आए थे। अतः समस्या हर साल होने वाली वर्षा नहीं– जो कि एक प्राकृतिक घटना है– वरन् गैर–बराबरीपूर्ण आर्थिक व्यवस्था है जो इस क्षेत्र में मुट्ठी भर लोगों को अधिकांश की जिन्दगी पर नियंत्रण हासिल करने की छूट देती है।

समस्या की यह बदली हुई और अधिक समग्र समझ पाठ्यचर्या और शिक्षाशास्त्र के लिए समृद्ध सम्भावनाओं से भरी हुई हैं। यह समझने में छात्रों का सहायक होना कि इस "सामयिक घटना" की व्याख्या भी अलग–अलग तरीकों से हो सकती है, और कि हर व्याख्या एक समूह विशेष के हितों को लाभ पहुँचाती हैं, अन्ततः उन्हें समाज के प्रति एक अधिक नैतिक और संवेदनशील प्रतिबद्धता का धनी बना सकता है।

एक और उदाहरण – बस पास का हिसाब

एक शहरी विद्यालय में गणित की कक्षा में हुई घटना इस बात का एक और उदाहरण है कि लोकतांत्रिक कक्षा में प्रश्नों का कैसा उपयोग किया जा सकता है। इस कक्षा के छात्रों को एक सवाल नियम से दिया जाता था। सवाल बस के मासिक पास से सम्बन्धित था। उनसे पूछा जाता था कि मासिक पास बनवाना सस्ता पड़ता है या हर बार आते–जाते बस में बैठने पर टिकट खरीदना सस्ता पड़ता है। इस खास सवाल के जवाब के अनुसार महीने के कार्य दिवसों की संख्या को देखते हुए हर बार टिकट खरीदना सस्ता पड़ता था। फिर इस सवाल में कुछ चीजों को मानकर चला जा रहा था। और ये चीजें बच्चों या उनके अभिभावकों के यथार्थ से मेल नहीं खाती थीं।

बच्चे अच्छी तरह जानते थे कि यह उत्तर गलत है। आखिर उनमें से अनेक के अभिभावक परिवार के भरण–पोषण के लिए दो–दो अल्पकालिक काम करते थे। कारण यह था कि कर छूट और सस्ती मज़दूरी का लाभ उठाने के लिए यहाँ के कारखाने अन्यत्र ले जाए जा चुके थे। इस तरह इन बच्चों का अनुभव यह था कि हर आदमी को काम पर जाने और आने के लिए दिन में कम से कम चार बार बस पकड़नी पड़ती थी। और काम भी ऐसा था जिसमें न कोई भत्ता था, न कोई आगे की राह, और पगार भी कम थी।

यह पाठ्यचर्या स्पष्टतः थोड़ा पक्षपातपूर्ण और संवेदनशून्य था। लेकिन अध्यापक ने पाठ्यचर्या के इस पक्षपात का भी रचनात्मक ढंग से उपयोग कर लिया। उसने पूछा कि बताओ इस उदाहरण में क्या गलत है, और सोचो कि गणित तुम्हें अपनी और अपने अभिभावकों की रोजमर्रा की जिन्दगी को समझने में कैसे मदद करता है। संक्षेप में, उसने छात्रों से ऐसे ही एक प्रश्न का उत्तर देने को कहा जैसे प्रश्न ऊपर हमने उठाए थे– दुनिया को हम किसके नज़रिए से देख रहे हैं? उक्त प्रश्न को गणित के साथ बुनकर उसने गणित

को बच्चों के दैनिक जीवन से जोड़ दिया। इस तरह उसने अपने काम से उन पर ऐसा प्रभाव छोड़ा जैसा उपलब्धियों, परीक्षाओं आदि से जुड़ा और इन बच्चों के भविष्य को निर्धारित करने वाला, तथाकथित तटस्थ और मानक पाठ्यचर्या कभी न छोड़ पाता।

इस तरह के उदाहरण आपके समक्ष भी कभी आए होंगे। आपके समूह में ऐसे कुछ अनुभवों को साझा करके उन पर चर्चा की जा सकती है। इससे आपको एक ही घटना को देखने के भिन्न–भिन्न नज़रिए मिल सकते हैं।

पाठ्यचर्या के निर्माण में बच्चे

इन दो उदाहरणों से कम से कम यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि हमारे नियोजित पाठ्यचर्या में हमेशा– और कई बार छिपे तौर पर – एक परम्परा, एक धारणा अन्तर्निहित होती है। और वह धारणा यह है कि बच्चों के लिए क्या जानना जरूरी है, और इसका अपने पक्ष में कैसे इस्तेमाल किया जा सकता है। लेकिन ''लोकतांत्रिक पाठ्यक्रम'' ज्ञान की इस ''चुनिन्दा परम्परा'' और प्रभुत्वशाली संस्कृति द्वारा समर्थित अर्थों को चुनौती देता है। वह इससे आगे निकलकर दृष्टियों और आवाजों के व्यापक फलक तक जाने की कोशिश करता है। लोकतांत्रिक समाज में कोई भी एक व्यक्ति या हित समूह समस्त सम्भव ज्ञान और अर्थ के एकमात्र स्वामित्व का दावा नहीं कर सकता है। इसी तरह एक लोकतांत्रिक पाठ्यचर्या में सिर्फ वहीं नहीं होता जिसे वयस्क महत्वपूर्ण समझते हैं। उसमें अपने और अपनी दुनिया के बारे में बच्चों की चिन्ताएँ और प्रश्न भी होते हैं। लोकतांत्रिक पाठ्यचर्या बच्चों को ज्ञान के निष्क्रिय उपभोक्ता की भूमिका छोड़ने और खुद ज्ञान निर्माण की सक्रिय भूमिका अपनाने के लिए आमंत्रित करता है। वह यह मानता है कि व्यक्ति बाह्य स्रोतों के अध्ययन से भी ज्ञान प्राप्त करता है और इन जटिल क्रियाओं में संलग्न होकर भी जो उसे अपना स्वयं का ज्ञान निर्मित करने को प्रेरित करती है।

हम पहले देख चुके हैं कि किसी शाला या क्षेत्र की कोई पाठ्यचर्या ऐसी नहीं हो सकती कि वह सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आदि भिन्नताओं से कोई सरोकार न रखे। वह तभी लोकतांत्रिक हो सकती है जब वह समावेशी हो।

पाठ्यचर्या में सामाजिक समस्याएं

जैसा कि हमने पहले देखा है, जीवन की लोकतांत्रिक शैली लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रचार–प्रसार के रचनात्मक प्रयासों को समाहित किए रहती है। लेकिन यह प्रक्रिया मात्र किसी विषय पर चर्चा या विचार–विमर्श नहीं है। यह हमारे सामूहिक जीवन में आने वाली समस्याओं, घटनाओं और मुद्दों पर बुद्धिमत्तापूर्वक और चिन्तनशील ढंग से सोचना है। लोकतांत्रिक पाठ्यचर्या में ऐसे मुद्दों पर विचार की, समस्याओं के हल सोचने की, और उन पर अमल करने की हमेशा सम्भावना रहती है। उदाहरण के लिए, इस तरह के पाठ्यचर्या में ''संघर्ष'', ''हमारे समुदाय का भविष्य'', ''न्याय'', ''पर्यावरण की राजनीति'' आदि मुद्दों पर विचार करने और काम करने का प्रावधान रहता है।

इसके अलावा एक बात यह भी है कि ज्ञान के विभिन्न अनुशासन मात्र ''उच्च संस्कृति'' की श्रेणियाँ नहीं हैं जिन्हें बच्चे सीख लें और सँजो लें। वे सूचना और अन्तर्दृष्टि के स्रोत हैं जिनका उपयोग जीवन की समस्याओं को समझने के लिए किया जा सकता है। ये वे लैन्स हैं जिनकी मदद से हम अपने चारों तरफ के मुद्दों को ज्यादा साफ देख सकते हैं। उदाहरण के लिए, इस अन्तिम बिन्दु का उपयोग हम यह समझने के लिए भी कर सकते हैं कि वर्तमान पाठ्यचर्या के अंशों को बहस का मुद्दा बनाकर ही उसे संशोधित–सवंर्धित किया जा सकता है। ऐसा करने से ही हम जान पाएँगे कि समस्या सिर्फ इतना ही नहीं है कि वर्तमान पाठ्यचर्या के अंशों को कैसे जोड़ा जाए, बल्कि यह भी है कि ये अन्तर्सम्बन्ध किस बारे में हैं। जैसा कि ड्यूई ने कहा है:

''इतिहास–भूगोल के बारे में निर्धारित जानकारी प्राप्त कर लेने, लिखना–पढ़ना सीख लेने का भी क्या फायदा यदि इस प्रक्रिया में व्यक्ति अपनी आत्मा ही खो दे; यदि वह सार्थक चीजों की कद्र करना ही भूल जाए, उन मूल्यों को ही भूल जाए जिनसे ये चीजें जुड़ी हुई हैं; यदि वह अपने संचित ज्ञान का उपयोग करने की इच्छा ही खो बैठे; और सबसे बढ़कर यदि वह भविष्य में अपने अनुभवों का अर्थ निकालने की क्षमता से ही वंचित हो जाए।''

अब शायद आप सोच सकते हैं कि पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तक आदि को लेकर संसद से सड़क तक तमाम तरह की बहसें क्यों होती हैं? इनमें से कुछ विवाद सकारात्मक भी होते हैं जो हमें लोकतंत्र, समानता और न्याय की दिशा में आगे बढाने में सहायक होते हैं। कुछ पक्ष ऐसे भी होते हैं जो बहस करना ही नहीं चाहते और मतभदों को दबा कर रखना चाहते हैं। आपकी क्या राय है? क्या आप ऐसी बहसों मे सकारात्मक हस्तक्षेप को पहचान सकते हैं?

लोकतंत्र बनाम मानक पाठयक्रम – एक द्वंद्व

समान अवसर के तमाम लोकतांत्रिक दावों के बावजूद हमारे विद्यालयों में बच्चों के रास्ते में अभी कई रूकावटें हैं – जैसे मानक परीक्षा पद्धति का जरूरत से ज्यादा उपयोग। अनेक प्रगतिशील पाठ्यक्रमों की एक ऐतिहासिक समस्या यह है कि वे उस आधिकारिक ज्ञान और दक्षता पर से जोर हटाने के पक्ष में हैं जो बच्चों में महज कुछ जानकारी भरते हैं व कुछ दक्षताएं विकसित करते हैं। इनकी बच्चों को सिर्फ इसलिए जरूरत है ताकि वे समाजार्थिक प्रवेशद्वारों पर खड़े द्वारपालों को सन्तुष्ट कर सकें और अपने लिए रास्ता बना सकें।

हमने ऊपर देखा कि लोकतांत्रिक विद्यालय अन्य प्रगतिशील विद्यालयों से अंशतः अलग हैं, क्योंकि वे विद्यालयों में और समाज में लोकतंत्र–विरोधी परिस्थितियों को समाप्त करना चाहते हैं। लेकिन फिर भी जो शिक्षाविद लोकतांत्रिक विद्यालयों में काम करते हैं वे अच्छी तरह समझते हैं कि जब तक ये परिस्थितियाँ बदल नहीं जातीं, इन्हीं के बीच से अपना रास्ता बनाना है। इसी कारण लोकतांत्रिक पाठ्यचर्या कई तरीकों से छात्रों को सूचना–सम्पन्न और दक्ष बनाने की कोशिश करते हैं। इनमें वे तरीके भी हैं जिनके द्वारा समाजार्थिक प्रवेशद्वारों के द्वारपालों को सन्तुष्ट किया जा सके। संक्षेप में, लोकतांत्रिक शिक्षाविद बच्चों के लिए एक अधिक सार्थक शिक्षा के आविष्कार और साथ ही साथ शक्तिशाली अलोकतांत्रिक शिक्षा शक्तियों द्वारा वांछित सामान्य ज्ञान और दक्षता में बच्चों को निपुण बनाने के सतत् द्वन्द्व और तनाव में रहते हैं। इस तरह, हम प्रभुत्वशाली ज्ञान की उपेक्षा नहीं कर सकते। इसे अपनाने से कुछ दरवाजे तो जरूर खुलते हैं। लेकिन अपनी इस व्याख्या को लेकर हमें सावधान रहना चाहिए, क्योंकि हम ''ड्रिल एण्ड स्किल'' के रूढ़ कार्यक्रमों को चालू रखने का समर्थन नहीं कर सकते जो अक्सर विद्यालय का एक हिस्सा होते हैं। इन बच्चों को भी अधिकार है कि वे हमारे सर्वाधिक प्रगतिशील विचारों से परिचय प्राप्त करें। हमारा काम है कि हम प्रभुत्वशाली ज्ञान को पुनर्निर्मित करें और उसे समाज के सर्वाधिक वर्गों की सहायता के लिए इस्तेमाल करें, न कि उनके रास्ते में अंड़गे लगाने के लिए।

भारत जैसे विशाल और विविधितासम्पन्न राष्ट्र में एक मानक पाठ्यक्रम लागू करने के क्या परिणाम हो सकते हैं? सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पक्षो पर विचार करें।

लोकतांत्रिक पाठ्यचर्या विवादस्पद क्यों?

लोकतांत्रिक पाठ्यचर्या के निर्माण का काम निश्चित रूप से विरोध और विवाद का काम है। विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोणों और आवाजों को सुनने की गुंजाइश को अक्सर प्रभुत्वशाली संस्कृति के लिए खतरा समझा जाता है। खास तौर पर इसलिए कि ये आवाजें और दृष्टिकोण घटनाओं और मुद्दों की ऐसी व्याख्या पेश करते हैं जो पारम्परिक रूप से विद्यालयों में पढ़ाई जाने वाली व्याख्याओं से सर्वथा भिन्न होती हैं। इससे भी अधिक खतरे की बात यह है कि बच्चों को घटनाओं और मुद्दों की आलोचनात्मक व्याख्या करने को प्रोत्साहित करना इस बात की आंशका पैदा करता है कि वे प्रभुत्वशाली व्याख्याओं (और शिक्षाओं) पर प्रश्न चिन्ह लगाने लगेंगे। यही बात प्रमुख सामाजिक समस्याओं और मुद्दों के आधार पर पाठ्यचर्या बनाने को लेकर है। लेकिन इसका विरोध ज्ञान और कौशल के उस संस्करण से भी है जो पाठ्यचर्या के प्रति विषय–विभक्त, अनुशासन–केन्द्रित, ''उच्च संस्कृति'' रुझान का एक अंग है। और अन्त में, यदि बच्चे पाठ्यचर्या में अपने खुद के प्रश्न और चिन्ताएँ जोड़ने लगें तो इस बात का खतरा है कि समाज के नैतिक और राजनीति अन्तर्विरोध प्रकट हो जाएँगे और उन मूल्यों से ध्यान हट जाएगा जिन्हें समाज बनाए रखना चाहता है।

लोकतांत्रिक शिक्षण से प्रतिबद्ध लोगों ने प्रतिरोध के ऐसे स्रोतों का निरन्तर सामना किया है। वस्तुतः यह प्रतिरोध हमेशा खुले और साफ शब्दों में अभिव्यक्त नहीं किया जाता है। जैसे कुछ लोग कहते हैं कि बच्चों को सामाजिक मुद्दों से नहीं उलझना चाहिए क्योंकि वे उनकी पेचीदगी को नहीं समझ सकते, या वे उनसे अवसादग्रस्त हो जाएँगे। बेशक ऐसे तर्क इस तथ्य को उपेक्षित कर देते हैं कि बच्चे भी वास्तविक

व्यक्ति हैं जो एक वास्तविक समाज में रहते हैं । उनमें से अनेक अपने अनुभवों से जातिवाद नस्लवाद, गरीबी, लैंगिक पक्षपात, बेघर होने आदि के बारे में पहले ही काफी कुछ जानते हैं। जाहिर है ऐसे तर्क बच्चों को उनकी गरिमा का हनन करने वाले और उनके विरूद्ध कार्यरत् राजनीतिक, सामाजिक और नैतिक अन्तर्विरोधों को समझने से रोकना चाहते हैं।

लोकतंत्र शिक्षकों के लिए भी

ध्यान देने की बात यह है कि लोकतांत्रिक विद्यालयों की अवधारणा केवल छात्रों के अनुभव के लिए लक्षित नहीं है। विद्यालयों में पेशेवर शिक्षकों सहित वयस्क भी लोकतांत्रिक जीवन पद्धति का अनुभव कर सकते हैं। नीति निर्माण तथा निर्णय लेने की प्रक्रिया में भागीदारी का एक उदाहरण हम पहले दे चुके हैं। लेकिन जिस तरह बच्चों को स्वयं अपनी शिक्षा की व्यवस्थाओं को बनाने में मदद करने का अधिकार है, उसी तरह अध्यापकों व अन्य शिक्षादाताओं को भी यह अधिकार है कि वे कक्षाओं, विद्यालयों और अपने व्यावसायिक जीवन में आने वाली समस्याओं और मुद्दों सम्बन्धी अपनी धारणाओं पर आधारित अपने स्वयं के कार्यक्रम बनाएँ। इससे भी आगे, अध्यापकों को अधिकार है कि वे पाठ्यक्रम निर्माण में – खासकर उन बच्चों के लिए जिन्हें वे पढ़ाते हैं – अपनी बात रख सकें। सरसरी नज़र से देखने वाला कोई भी शख्स समझ सकता है कि अध्यापकों के इस अधिकार का पिछले कुछ दशकों में गम्भीर क्षरण हुआ है। क्योंकि पाठ्यचर्या निर्धारण, बल्कि पाठ प्रक्रिया की आयोजना का भी राजकीय शिक्षा कार्यालयों में केन्द्रीयकरण हो चुका है। दूसरों के विचारों और योजनाओं के कार्यान्वयनकर्ता होने के कारण अध्यापकों का काम ''अकुशल काम'' बनता जा रहा है। उनके काम की यह नई और विरुपित स्वरूप हमारे विद्यालयों से लोकतंत्र का लोप होने का सबसे स्पष्ट और अशोभनीय उदाहरण है। इसके अलावा, ''कार्यस्थल पर प्रबन्धन'' की बहुत बात की जाती है। ऐसा लगता है मानो इससे केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया उलट जाएगी। लेकिन वास्तव में होता सिर्फ यह है कि सीमित संसाधनों के लिए संघर्ष स्थानीय संघर्ष बनकर रह जाते हैं, और दूरस्थ स्थानों पर लिए गए निर्णयों, नीतियों और कार्यक्रमों के कार्यान्वयन के लिए शिक्षकों को जिम्मेदार ठहराया जाता है।

अन्त में, अपने स्वयं के व्यावसायिक कार्य पर अध्यापकों का नियंत्रण मात्र संसाधनों और पाठ्यचर्या सम्बन्धी बाध्यता तक सीमित नहीं है, बल्कि वह शिक्षा पद्धति से भी जुड़ा हुआ है। हमने पहले बताया कि कैसे विद्यालय के शिक्षण और संरचना सम्बन्धी पहलू लोकतांत्रिक मूल्यों से निर्धारित हो सकते हैं, हालाँकि हम यह भी मानते हैं कि ऐसा शोध और तकनीकी ज्ञान के मार्गदर्शन के अनुसार भी हो सकता है। लोकतांत्रिक विद्यालयों में ऐसा ज्ञान केवल विद्यालय से परे अकादमिक शोध जैसे ''उच्च'' स्रोतों से नहीं आता है। इससे अधिक रोचक वह ज्ञान होता है जिसे अध्यापक अपने उपयोग के लिए स्थानीय संवाद और कार्य शोध – एक्शन रिसर्च – से ज्ञान स्वयं पैदा करते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यावसायिक ज्ञान के अन्य स्रोत अवैध या अनुपयोगी हैं। इसका अर्थ यह है कि वे महत्वपूर्ण विचारों के एकमात्र स्रोत नहीं है।

जब हम अपने कार्य पर सार्थक नियंत्रण के अध्यापकों के अधिकार को छात्रों तक लोकतांत्रिक जीवन पद्धति पहुँचाने का अध्यापकों के कर्तव्य से जोड़ देते हैं, तभी लोकतांत्रिक मूल्य विद्यालयों में पनपने की सम्भावना पैदा होती है।

आपने देखा होगा कि पाठ्यपुस्तकों का निर्माण विविध समितियों द्वारा किया जाता है। अक्सर इसके सदस्यों के नाम, पद, संस्था आदि का उल्लेख पाठ्यपुस्तक के शुरुआती पृष्ठों में दिया जाता है। इन्हें देख कर और परस्पर चर्चा करके यह पता लगाने का प्रयास करें कि समिति में किस–किस प्रकार के लोग हैं? किसी अन्य प्रदेश अथवा एन.सी.ई.आर.टी. की कोई पाठ्यपुस्तक देखें और उसकी निर्माण समिति की तुलना करने का प्रायस करें।

आपने जिन विद्यालयों में शिक्षण अनुभव प्राप्त किया है क्या उसे प्रजातान्त्रिक की श्रेणी में रख सकते हैं? शिक्षा से जुड़े शिक्षकों में किन प्रकार के लोकतान्त्रिक मूल्यों का होना आवश्यक है?

एक लोकतांत्रिक विद्यालय में आप किन–किन लक्षणों को चिन्हित कर सकते हैं?

परस्पर सहयोग और परस्पर प्रतियोगिता में आप लोकतान्त्रिक विद्यालय के लिए ज्यादा जरूरी माहौल मानते हैं, और क्यों?

एक लोकतान्त्रिक विद्यालय में शिक्षक और बच्चों के व्यवहार को स्पष्ट कीजिए।

अभ्यास कार्य

1. लोकतांत्रिक विद्यालयों में शिक्षक की भूमिका पर प्रकाश डालिए।
2. लोकतांत्रिक विद्यालयों में राज्य का हस्तक्षेप होना चाहिए या नहीं? अपनी राय के पक्ष में तर्क दीजिए।
3. लोकतांत्रिक मूल्यों के व्यापक प्रसार के लिए क्या–क्या प्रयास किए जाने चाहिए?
4. प्रच्छन्न पाठ्यचर्या से आप क्या समझते हैं? उदाहरण सहित समझाईए।
5. आधिकारिक ज्ञान' से क्या तात्पर्य है?
6. समूचे भारत में एक मानक पाठ्यक्रम लागू होना आपके खयाल से उचित है या नहीं? अपने विचार के पक्ष में तर्क देकर समझाईए।

दत्त कार्य

1. ष्समाज में लोकतांत्रिक मूल्यों का महत्व' विषय पर एक निबन्ध लिखिए।
2. ष्समाज में लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रसार में शाला की भूमिका' विषय पर एक निबन्ध लिखिए।
3. ष्किसी लोकतांत्रिक विद्यालय का शिक्षक होना किसी सामान्य विद्यालय में शिक्षक होने से अधिक कठिन है।' इस कथन के पक्ष अथवा विपक्ष में कारण सहित अपनी राय दीजिए।

परियोजना कार्य

1. मान लीजिए कि आप किसी लोकतांत्रिक विद्यालय के शिक्षक हैं और आपको कक्षा 5 के लिए सामाजिक अध्ययन की पाठ्यपुस्तक बनाना है। उसको बनाने के लिए आप क्या–क्या प्रक्रियाएँ करेंगे? उसका विस्तार के वर्णन करें।
2. लोकतांत्रिक विद्यालय पुस्तक में तीन विद्यालयों का विवरण दिया गया है। यदि मौका मिले तो आप उनमें से कौन से विद्यालय के साथ जुडना चाहेंगें? इसके कारणों का विस्तार के वर्णन करें?
3. कक्षा 5 की कोई दो पाठ्यपुस्तकों का अध्ययन करके उसमें निहित प्रच्छन्न पाठ्यचर्या के तत्वों को पहचानने का प्रयास कीजिए। उन उदाहरणों की सूची बनाओ तथा कारण बताओ आपको वह क्यों प्रच्छन्न पाठ्यचर्या के रूप में नज़र आया है?

सहायक पठन सामग्री

1. लोकतांत्रिक विद्यालयय सम्पादक – माइकल डब्ल्यू. एपल व जेम्स ए. बीन; एकलव्य का प्रकाशन।
2. समरहिल्स ए.एस.नील; एकलव्य का प्रकाशन।

पठन सामग्री क्र. 23

'अध्यापक और समाज'

सामान्य परिचय

शिक्षा की स्थिति का जायज़ा लेती एक रपट, जो भारत के विभिन्न प्रदेशों के 200 गाँवों में हुए अध्ययन पर आधारित है। 1996 की यह यह रपट शिक्षक प्रशिक्षण से लेकर शिक्षा तंत्र में जवाबदेही सुनिश्चित करने के मुद्दे तक बेबाक टिप्पणी करती है। समुदाय की भूमिका को लेकर भी इसमें काफी कुछ कहा गया है। पठन समाग्री के रूप में प्रयुक्त पाठ में ऐसे प्रतीत हो सकता है कि यह शिक्षकों के प्रति कुछ अधिक कठोर है। लेकिन एक शिक्षक बनने की प्रक्रिया से गुज़रते हुए इस रिपोर्ट का सामना करना सम्भवतः अधिक फायदेमन्द होगा।

अध्याय की रूपरेखा

सामान्य परिचय
अध्याय से उद्देश्य
शीर्षक–उपशीर्षक
- आओ कुछ अध्यापकों से मिलें
- योग्यताएँ व प्रशिक्षण
  - व्यवहार के नियम और प्रवृत्तियाँ
  - कमज़ोर ढाँचा
  - माँ–बाप की उदासीनता
  - मुश्किल छात्र
  - पंगु पाठ्यक्रम
  - प्रशासन का सहयोग
- जवाबदेही के मुद्दे
  - जवाबदेही की समस्या
  - जवाबदेही कहाँ?

अध्यापक और गाँव का समाज
  - अभिभावक–अध्यापक सम्बन्धों का स्वरूप
  - सहयोग के औपचारिक संगठन
  - अनौपचारिक अन्तःक्रिया

अभ्यास कार्य
दत्त कार्य
सहायक पठन सामग्री

अध्याय के उदेश्य

1. शिक्षक के रूप में छात्रो तथा समुदाय के प्रति जवाबदेही का अहसास करना।

2. किसी व्यापक अध्ययन की रिपोर्ट को पढ़कर उसके निहितार्थो को समझना का प्रयास करना।

3. देश में शिक्षा की स्थिति का एक मोटा जायज़ा लेना।

4. शिक्षा जगत् की चुनौतियों का परिचय करना।

प्रोब (पब्लिक रिपोर्ट ऑन बेसिक एजुकेशन इन इंडिया) ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस यूएसए. द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट है। यह रिपोर्ट सन् 1996 में भारत के 200 गाँवों में हुए सर्वे पर आधारित एक शोध एवं अध्ययन है। जिसमें हजारों अभिभावकों, शिक्षकों एवं बच्चों से लिए साक्षात्कार शामिल है। जिसमें तात्कालिन भारत के प्राथमिक शालाओं की विभिन्न स्थितियों का चित्रण है। रिपोर्ट में कुल 10 अध्याय है। इस पठन सामग्री को अध्याय 5 ' अध्यापक और समाज' से ली गई है। इसे ध्यान से पढ़कर डाईट के छात्राध्यापक वर्तमान शालाओं में आए परिवर्तनों की एक तुलनात्मक नोट तैयार कर सकेंगे।

आओ कुछ अध्यापकों से मिलें

गाँव में एक अध्यापक वाला छोटा सा प्राथमिक विद्यालय है। युवा अध्यापक एक अदिवासी है, नाम है सेम। आठ वर्ष पहले जब वह बसर में आया था तो स्कूल में केवल पाँच–छः छात्र थे और पढ़ाई पेड़ के नीचे होती थी। अब गाँव के लगभग सभी छोटे बच्चे स्कूल जाते हैं। स्थिति में आए इस सुधार का बहुत कुछ श्रेय सेम को है, जिसने लगातार माता–पिताओं से संपर्क बनाए रखा और उन्हें यह समझाने में सफल रहा कि बच्चों को स्कूल भेजना चाहिए। वह एक प्रतिबद्ध अध्यापक है और स्कूल का परिवेश जीवंत और आनंददायक है। जब हम स्कूल में पहुँचे तो बच्चे बड़े ध्यान से सेम की बातें सुन रहे थे। सेम ब्लैक बोर्ड के माध्यम से बच्चों को कुछ समझा रहा था। सेम हिन्दी में पढ़ाता

था, लेकिन वह बच्चों से उनकी मातृभाषा (मुंडारी) में भी बात कर सकता था। सेम ने यह भाषा बसर में आने के बाद जल्दी ही सीख ली थी। स्कूल का भवन साफ–सुथरा और सुव्यवस्थित था। फर्नीचर और टीचिंग एड्स को बहुत अच्छी तरह रखा गया था। सेम के प्रयासों को गाँव की शिक्षा समिति से भी सक्रिय सहयोग मिला था।

यह उत्साहवर्धक कहानी अनेक दिलचस्प बातों की ओर संकेत करती है जिनकी पुष्टि प्रोब सर्वे से भी होती है : दुर्गम क्षेत्रों में नियुक्त होने वाले अध्यापकों की कठिनाईयाँ, अपेक्षाकृत छोटे गाँवों में औपचारिक क्षेत्रों में भाषा का महत्व और अध्यापकों तथा माता–पिताओं के बीच परस्पर सहयोग भावना के कारण आने वाले अच्छे प्रभाव, ऐसी ही कुछ बातें हैं। और सबसे बढ़कर यह वास्तविक उदाहरण एक संभावना की ओर संकेत करता है और एक ग्रामीण स्कूल की संभावनाओं को सत्य बनाने में अध्यापक की निर्णायक भूमिका को उजागर करता है। एक खराब स्कूल और अच्छे स्कूल के बीच के अंतर के लिए अगर कोई एक अकेला कारक सबसे अधिक महत्वपूर्ण है तो वह है अध्यापक की प्रतिबद्धता और पहलकदमी।

बसर से थोड़ी ही दूर पर एक दूसरा गाँव है– म्यामसौर। इसके छोटे से स्कूल में एक अध्यापिका और 69 छात्र हैं। अंजलि नामक आदिवासी युवती यहाँ पढ़ाती है। वह गंभीर और सुव्यवस्थित स्वभाव की है। बच्चे स्कूल में जरा भी समय नष्ट नहीं करते। यह देखकर कि ''अध्यापिका इस कठिन स्थिति को बहुत ही प्रभावशाली ढंग से संभालती है'', स्कूल को देखने गए अनुसंधानकर्ता बताते हैं : ''वह प्रतिदिन काओली से पैदल ही जंगल के रास्ते स्कूल आती–जाती है। एक तरफ का सफर लगभग 45 मिनट का होता है। वह पहली अध्यापिका है जिसने अपने हाथों से मुझे पानी का गिलास दिया, इसके लिए उसने बच्चों को आदेश नहीं दिया। और ऐसा कहने वाली भी वह पहली अध्यापिका थी कि वह प्रायः स्कूल की छुट्टी होने के काफी बाद ही जाती है– क्योंकि जगह को ठीक–ठाक करना होता है।'' आधे छात्र लड़कियाँ हैं। यह असामान्य रूप से बहुत अधिक प्रतिशत है।

सेम की तरह अंजलि में भी असाधारण साहस और निष्ठा है। इतने दुर्गम गाँव में एक महिला की नियुक्ति और वे भी इकलौती अध्यापिका असामान्य है। सामान्य तौर पर अध्यापिकाएँ संख्या में तो कम हैं ही, वे प्रायः बड़े और सुगम गाँवों में ही नियुक्त भी है।

क्या अध्यापिकाओं की संख्या कम होने का प्रभाव पड़ता है ? इसका संक्षिप्त उत्तर है– ''हाँ''। लेकिन जैसा हम मानकर चलते हैं इसके कारण उससे अधिक गूढ़ हैं। उदाहरण के लिए ऐसा मानने वाले कम मिले कि अध्यापिकाएँ अपने पुरूष सहयोगियों की तुलना में अधिक ईमानदार और कर्तव्यनिष्ठ होती हैं। माता–पिताओं ने भी स्पष्ट नहीं कहा कि वे अध्यापिकाओं द्वारा बच्चों को पढ़ाया जाना अधिक पंसद करते हैं। वे स्त्री/पुरूष अध्यापक के बजाए शिक्षा की गुणवत्ता के प्रति ज्यादा चिंतित दिखे। उनकी राय में इन दोनों बातों का आपस में नाममात्र का संबंध है। कुछ ने साफ तौर पर अध्यापिकाओं को नापंसद करते हुए कहा कि वे गप्पेबाजी और बुनाई करने में ज्यादा समय नष्ट करती हैं। लेकिन फिर भी अध्यापिकाओं के पक्ष में अनेक सशक्त तर्क हैं :

अध्यापक और अध्यापिकाएँ– दोनों ने कहा कि छोटे बच्चे विशेषतः अध्यापिका के साथ ही अधिक सहज रहते हैं।

कुछ क्षेत्रों में अध्यापिकाओं की उपस्थिति से लड़कियों के दाखिले पर सार्थक प्रभाव पड़ता है जैसा कि म्यामसौर में देखने में आ रहा है। राजस्थान के कई भागों में माता–पिता चाहते थे कि उनकी बेटियों को अध्यापिकाएँ पढ़ाएँ।

अध्यापिकाएँ कम क्रूर होती हैं और उनकी उपस्थिति से सरकारी स्कूलों में जातीय हिंसा की समस्या में कमी आ सकती है। हमने जहाँ भी स्कूल में पिटाई के बाद स्कूल छोड़ने वाले बच्चों से जानकारी ली, उन्हें पीटने वाला प्रायः ही पुरूष अध्यापक होता था।

स्कूल में अध्यापिका की उपस्थिति से लड़के–लड़कियों दोनों के सामाजीकरण में संतुलन आता है। वर्तमान स्थिति यह है कि उत्तर भारत में बच्चों को पुरूष प्रधान परिवेश में पाला–पोसा जाता है। एक पुरूष प्रधान स्कूल इस दृष्टिकोण को बदलने के स्थान पर उसे बढ़ाता ही है।

अध्यापिकाएँ, विशेषकर लड़कियों के लिए, अनुकरणीय आदर्श का काम करती हैं जिनकी बहुत आवश्यकता भी है। अनेक छोटी बच्चियों ने इस लड़की की ही भावना दोहराई जो कहती है ''मैं मैडम अध्यापिका बनना चाहती हूँ।''

कुछ माता–पिता ने बताया कि किसी अध्यापिका की उपस्थिति से माताओं को अध्यापिकाओं के साथ घुलने–मिलने में आसानी होती है।

''अध्यापिकाएँ घर–घर जाकर माता–पिता को शिक्षा का महत्व समझा सकती है। क्योंकि वे औरत है – यह बात माँ और बेटी दोनों के लिए अच्छी होगी।''

कुछ लोगों के अनुसार महिलाएँ पढ़ाने में अधिक निपुण होती है। इसका कारण है उन्हें बाल मनोविज्ञान की बेहतर समझ होना। वैसे यह विचार अनुमान आधारित अधिक है और सर्वसम्मत नहीं है।

आप उपरोक्त बात से कितना सहमत हैं? इस विषय पर समूह में चर्चा करें।

इस बात के संकेत मिल रहे हैं कि अब अध्यापकों की नियुक्ति में अधिक संतुलित नीति अपनाई जा रही है। लेकिन परिवर्तन की गति धीमी है। समय के साथ जातिगत भेदभाव कम हो रहा है। यह मुख्यतः एस. सी/एस.टी उम्मीदवारों के लिए आरक्षण के रूप में दिखाई देता है। अनेक राज्य अधिक महिलाओं को नियुक्त करने के प्रयास कर रहे हैं। लेकिन ग्रामीण क्षेत्रों में महिला अध्यापकों की नियुक्ति कई समस्याएँ खड़ी कर देती हैं, खास तौर से उत्तर भारत के अत्यंत पितृसत्तात्मक परिवेश में। इस कारण अध्यापन का व्यवसाय काफी हद तक पुरूष प्रधान है। कम से कम ग्रामीण क्षेत्रों में तो अवश्य। अध्यापकों के वेतनों में भारी बढ़ोत्तरी को देखते हुए वर्गभेद का भाव समय के साथ बढ़ा है।

क्या आपकी शाला में पितृसत्तात्मक परिवेश मौजूद है? आप ऐसा किन–किन आधारों पर कह सकते हैं?

दूसरी ओर छात्रों की सामाजिक पृष्ठभूमि में वंचित समूहों की ओर महत्वपूर्ण झुकाव आया है। इसका कारण केवल पिछड़े वर्ग के छात्रों का बड़े पैमाने पर शिक्षा प्रणाली में प्रवेश करना ही नहीं है, बल्कि समृद्ध वर्ग के छात्रों का बड़े पैमाने पर प्राइवेट स्कूलों की ओर जाना भी है। शैक्षिक पृष्ठभूमि में व्यापक अंतर होने के कारण अध्यापकों तथा छात्र परिवारों के बीच सामाजिक दूरी और भी बढ़ जाती है। यह सामाजिक दूरी एक ऐसा कारण है जिससे अपने छात्रों की शैक्षिक योग्यताएँ बढ़ाने के प्रति अध्यापकों की रूचि व जवाबदारी अधिक नहीं होती, साथ ही उनकी समस्याओं की जानकारी भी कम होती है। इसके सार्थक पक्ष की चर्चा करें तो बसर के बच्चों के प्रति सेम की प्रतिबद्धता से पता चलता है कि स्थानीय समुदाय के साथ अध्यापक के अच्छे संबंध से कितने लाभ मिलते हैं।

योग्यताएँ और प्रशिक्षण

प्राथमिक कक्षाओं में पढ़ाने वाले अधिकाँश अध्यापक कम से कम माध्यमिक तक शिक्षित होते हैं और उनमें से लगभग दो तिहाई ने नियुक्ति से पहले किसी न किसी तरह का प्रशिक्षण भी प्राप्त किया होता है। नौकरी से पहले का सबसे आम प्रशिक्षण बेसिक ट्रेनिंग कोर्स (बी.टी.सी.) है जो प्रायः दो वर्ष का होता है। अपेक्षाकृत युवा अध्यापक प्रायः अधिक पढ़े लिखे होते हैं (66 प्रतिशत बी.ए. या एम.ए होते हैं) लेकिन उनके पास नियुक्ति से पूर्व का प्रशिक्षण कम होता है। इससे संकेत मिलता है कि सामान्य शिक्षा नौकरी के पूर्व के प्रशिक्षण का विकल्प होती जा रही है। हम जानते हैं कि सामान्य शिक्षा की डिग्रियों की सार्थकता प्रायः कम ही होती है। इस तरह देखें तो यह चिंता की बात है कि बहुत से अध्यापकों ने नौकरी से पहले कोई प्रशिक्षण नहीं लिया था। ऐसे अध्यापकों की संख्या 35 वर्ष से कम उम्र वालों में आधी हो गई है।

ऐसी कम से कम पाँच बातों को चिह्नित करें जो शिक्षक प्रशिक्षण के दौरान सीखी–सिखाई जाती हैं और जो सामान्य स्नातक या स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम (बी.ए. या एम.ए.) में नहीं होती हैं।

आधे से अधिक (56 प्रतिशत) कक्षा एक के अध्यापकों ने नौकरी में रहते हुए कुछ प्रशिक्षण लिया हुआ है लेकिन यह प्रशिक्षण अत्यंत संक्षिप्त होता है। एक या दो बार दस दिन की अवधि के यह प्रशिक्षण होते हैं। ऐसे सुविचारित प्रशिक्षण कार्यक्रम, जिनमें पर्याप्त मानव संसाधनों की तथा बाद में भी निर्देशन की व्यवस्था

रहती है, काफी सफल रहे हैं। सामान्यतः थोड़े समय के क्रैश कोर्सों का कक्षा में सिखाने–पढ़ाने की प्रक्रियाओं पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव होना कठिन होता है। अधिकांश प्रशिक्षित अध्यापकों ने इन पाठ्यक्रमों को ''उपयोगी'' माना है क्योंकि इनसे अध्यापकों को नई शिक्षण तकनीकों की जानकारी मिली है। लेकिन अनेक अध्यापकों ने कहा कि इन नए सिद्धांतों को व्यवहार में लाना कठिन है क्योंकि कक्षा में स्थितियां कठिन होती हैं और ढांचागत सुविधाओं का अभाव होता है। हमने भी यही देखा कि नौकरी के दौरान प्राप्त प्रशिक्षण का कक्षा में पढ़ाने की गतिविधियों पर प्रभाव न के बराबर था। अनेक अध्यापकों ने ''आपरेशन ब्लैक बोर्ड टीचिंग किट्स'' का उपयोग करने का प्रशिक्षण लिया था लेकिन कक्षाओं में टीचिंग एड्स (आपरेशन ब्लैक बोर्ड की या कोई दूसरी) शायद ही कभी दिखाई दीं। इसी तरह अनेक अध्यापकों को प्रथम कक्षा के छात्रों को पढ़ाने का विशेष प्रशिक्षण दिया गया था लेकिन प्रायः ही पढ़ाई के दौरान कक्षा एक के छात्रों को उनके अपने हाल पर छोड़ दिया जाता था या फिर उन्हें दूसरी बड़ी कक्षा के साथ बैठा दिया जाता था। कुछ मामलों में अध्यापकों ने अध्यापन के नए तरीकों को अवास्तविक आंका था। एक ने तो व्यंग्य से कहा, ''शब्द ज्ञान से अक्षर ज्ञान'' का नया तरीका उसे ऐसा लगता है जैसे कोई सीढ़ी पर ऊपर से चढ़ने का प्रयास कर रहा हो।

और, ये प्रशिक्षण कार्यक्रम अध्यापकों को उन बातों को व्यवहार में परखने का कोई अवसर या सुविधाएँ नहीं देते जिन्हें उनके साथी लोग बच्चों को पढ़ाई के दौरान प्राप्त अनुभवों के आधार पर बातें–समझाते हैं। देखा यह गया है कि सीमित औपचारिक शिक्षा प्राप्त अध्यापक भी अपने लंबे अनुभव के आधार पर शिक्षण के असाधारण तरीके विकसित कर लेते हैं। अगर अध्यापकों को आपस में मिलने, बताने और समझने–समझाने के अधिक अवसर मिलें तो अध्यापकों का ज्ञान बढ़ेगा, उन्हें प्रेरित करेगा, और ग्रामीण क्षेत्रों में पढ़ाने वाले अध्यापकों का अकेलापन भी कम होगा।

व्यवहार के नियम और प्रवृत्तियाँ

एक अध्यापिका गाँव में ही रहती है और उसने कहा कि वह माता–पिता, खासकर माताओं के साथ संबंध बनाए रखती है। वह उन्हें पोषण, रोजगार, कर्ज तथा दूसरे ऐसे ही मुद्दों पर सूचनाएँ देती रहती है। जब कोई नई सरकारी परियोजना आरंभ होती है तो वह तुरंत उसके बारे में गाँव वालों को सूचित करती है। इस मामले में अध्यापिका यह मानती है कि उसकी भूमिका सिर्फ स्कूल में बच्चों को पढ़ाने तक ही सीमित नहीं है, बल्कि उससे बाहर निकलकर वह लोगों के कल्याण से भी जुड़ी हुई है। निस्संदेह ग्रामीण क्षेत्रों में अध्यापक यह दिखाने में मुख्य भूमिका निभा सकते हैं कि शिक्षा किस तरह जीवन में सुधार लाती है।

इस प्रकार आपके कुछ अनुभव हों तो उन्हें आप सबके साथ साझा कर सकते हैं।

लेकिन यह सार्थक प्रवृत्ति असामान्य है। इसके विपरीत अधिकांश अध्यापक स्थानीय समाज में शिक्षा को बढ़ावा देने के प्रति गहरी उदासीनता का भाव रखते हैं। यह बात सामाजिक दूरी के मुद्दे से संबंधित है वे लोग यह भी देखते हैं कि गरीब अभिभावक आम तौर पर आर्थिक व सामाजिक रूप से शाक्तिहीन होते हैं, यह बात भी अध्यापकों को इन लोगों की इच्छाओं की उपेक्षा करने के लिए प्रेरित करती है।

यहाँ एक मुख्य मुद्दा यह है कि अध्यापक अपनी भूमिका को किस रूप में देखता है (पढ़ाना, एक नौकरी या एक कर्तव्य) और एक दूसरा मुद्दा, प्रवृत्तियाँ जो छोटे बच्चों के लिए अनुकरणीय आदर्श व्यक्ति के मनोभावों के साथ उनके बीच काम करना। बहुत कम अध्यापक अपने काम को कर्तव्य के रूप में देखते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में अध्यापक के पद अच्छी नौकरियाँ माने जाते हैं जिनमें अच्छी तनख्वाहें, पक्की नौकरी और दूसरे काम करने का काफी समय रहता है। आवश्यक योग्यताओं वाले किसी भी व्यक्ति का मन उसे पाने के लिए ललचा सकता है। उनमें ऐसे लोग भी हो सकते हैं जिन्हें इस काम के प्रति कोई आकर्षण, बच्चों के लिए कोई सहानुभूति या शिक्षा प्रसार के लिए मन में कोई निष्ठा नहीं होती।

इससे भी आगे बढ़कर यह कहा जा सकता है कि ऐसे उत्साहहीन और प्रेरणाहीन लोगों को अध्यापक बनने के लिए आकर्षित करने के साथ ही यह स्थिति उन लोगों को दूर हटाने का भी काम कर रही है, जो इसे शिक्षा–शास्त्र का अथवा सामाजिक कार्य समझकर इसमें आना चाहते हैं। स्कूलों में जैसा वातावरण होता है उसमें ऐसी अच्छी भावनाएं वाले व्यक्ति भी यह महसूस करने लगते हैं कि ग्रामीण क्षेत्रों के सरकारी स्कूलों में उनकी योग्यताओं के फूलने–फलने के कोई अवसर नहीं हैं। ऐसे में प्राइवेट स्कूल तथा दूसरे व्यवसाय अधिक आकर्षक दिखाई देते हैं।

इस कथन के बावजूद यह भी एक तथ्य है कि अध्यापकों में आरंभिक प्रेरणा का अभाव मुख्य मुद्दा नहीं है, क्योंकि उनमें से अनेक ऐसे हैं जो इस क्षेत्र में काम करते हुए मन का उत्साह और प्रेरणा का भाव खो बैठते हैं। निस्संदेह हाल ही में नियुक्त अध्यापकों में हमें ऐसे लोग भी मिले जिनके मन में सच्चा उत्साह दिखाई दिया। लेकिन यह भाव बस थोड़े ही समय तक रहता है, नए आने वाले युवा अध्यापक का नैतिक बल धीरे–धीरे नष्ट होने लगता हैं।

कमजोर ढाँचा

ग्रामीण स्कूलों में काम करने की स्थितियाँ ऐसी हैं कि वे अधिकाँश अध्यापकों को कठिन लग सकती हैं और सर्वाधिक प्रतिबद्ध अध्यापक को भी अपना उत्साह नष्ट होता हुआ लग सकता है। दिलचस्प तथ्य यह है कि बहुसंख्य अध्यापकों ने अपनी तनख्वाहों तथा छुट्टियों के प्रावधानों को संतोषप्रद माना। वैसे अध्यापकों की अनेक दूसरी चिंताएँ हैं।

सबसे आम शिकायत है– स्कूल में साधनों, उपकरणों का अभाव, पैसे की कमी, अध्यापकों की कम संख्या और छात्रों की संख्या का अधिक होना। और निम्न स्तरीय ढाँचागत सुविधाओं के कारण उन्हें समस्याएँ होती हैं।

माँ–बाप की उदासीनता

अध्यापकों को प्रायः ही माता–पिता द्वारा अपने बच्चों की शिक्षा के प्रति ध्यान न देने की समस्या से जूझना पड़ता है। वे शिकायत करते हैं कि माँ–बाप अपने बच्चों को नियम से स्कूल नहीं भेजते या तुच्छ कारणों से उन्हें निकाल लेते हैं। और जब वे स्कूल आते भी हैं तब भी बात बनती नहीं। माँ–बाप उन्हें देर से भेजते हैं और वह भी फटे–पुराने कपड़ों में। वे फीस देने में बहाने करते हैं और अपने बच्चे की आवश्यकताओं और प्रगति की ओर ध्यान नहीं देते। अध्यापकों का मानना है कि स्कूल में बच्चों के प्रति वे जो कुछ करते हैं उसमें माँ–बाप की ओर से कोई योगदान नहीं होता।

बच्चे की पढ़ाई में माँ–बाप की कोई भूमिका न होने से अध्यापकों का उत्साह कम होता है। उदाहरण के लिए पी.टी.ए. (अभिभावक–अध्यापक परिषद) को संगठित करने के प्रयासों को इसलिए धक्का लगता है क्योंकि अभिभावक उसमें बहुत कम आते हैं। कुछ गाँवों में अध्यापक कहते हैं कि बच्चों के दाखिले के लिए खूब प्रयास करने पर भी कोई सहयोग नहीं मिलता। कभी–कभी तो अभिभावक स्कूल द्वारा रखी जाने वाली माँगों का खुल्लमखुल्ला विरोध करते हैं। शहरी निगम स्कूल के अध्यापक ने बताया कि एक अभिभावक ने क्या कहा था – ''आप बार–बार हमें बुलाते हैं जैसे आप प्राइम मिनिस्टर हों। हमें यह चिकचिकबाजी अच्छी नहीं लगती है।''

मुश्किल छात्र

माँ–बाप द्वारा बच्चों की पढ़ाई के प्रति उदासीनता की समस्या के साथ–साथ यह भी एक तथ्य है कि बच्चों को अनुशासित रखना कठिन होता है। अनेक परिवारों का वातावरण पढ़ने के लिए उत्साहित नहीं करता जिससे अध्यापकों की मुश्किलें और भी बढ़ जाती हैं। कुछ अध्यापकों ने कहा कि घर में बिलकुल भी न पढ़ने के कारण हर अवकाश के बाद उन्हें फिर से वही सब दोहराना पड़ता है जिसे वे पहले बता चुके होते हैं। अनेक बच्चे अशिक्षित परिवारों से होते हैं और उनके पास सिर्फ एक अक्षर ज्ञान की पुस्तक और स्लेट होती है। कुपोषण, खराब स्वास्थ्य, अनियमित हाजिरी और घरेलू काम के बोझ से बच्चों को सीखने में और भी कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है।

पंगु पाठ्यक्रम

अध्यापकों से स्कूल के जिस पाठ्यचर्या को पूरा करने की आशा की जाती है वह अधिकांश छोटे बच्चों के लिए बहुत भारी पड़ता है। जैसे ''सीखने के न्यूनतम स्तरों'' पर हाल में मिले दिशा सुझावों के अनुसार कक्षा 5 का हर एक छात्र न सिर्फ पढ़ने, लिखने और गणित में निपुणता प्राप्त करे बल्कि ऐसे विविध विषयों की भी जानकारी ले जैसे, ''आदिकाल से आज तक मनुष्य की प्रगति का इतिहास'', केंद्र, राज्य और स्थानीय प्रशासनों के बीच संबंध'' तथा '' वन का क्षेत्रफल बढ़ाने और उसमें सुधार करने, नदियों, तालाबों आदि की सफाई से संबंधित कुछ वर्तमान योजनाएं''। उलझाव को और बढ़ाने के लिए इन विषयों को पाठ्य पुस्तकों में इस ढंग से दिया जाता है जिन्हें बच्चे समझ नहीं पाते।

अत्यंत गरीब पृष्ठभूमि से आने वाले बच्चों के लिए स्कूली पाठ्यचर्या समझना और भी कठिन होता है क्योंकि उनके सीखने की क्षमता प्रायः कुपोषण, शारीरिक श्रम की थकान तथा घर में पढ़ने–लिखने का वातावरण न होने के कारण और भी कम हो जाती है। जिन अध्यापकों को यह अयथार्थवादी पाठ्यचर्या ऐसे बच्चों को सिखाना होता है, वे अगर यह महसूस करें कि बात शुरू से ही बिगड़ गई है तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। ऐसे में मन में यही आता है कि स्थिति को उसके हाल पर ही छोड़ दिया जाए न कि पढ़ाने की गति थोड़ी धीमी करके ऐसे छात्रों की सहायता की जाए।

प्रशासन का कोई सहयोग

स्कूल प्रबंधन का ढाँचा ऐसा नहीं है जो एक जिम्मेदार अध्यापक को उसके प्रयासों में सहायता दे। शुरूआत में यह अध्यापक के रास्ते में आने वाली साधारण बाधाओं को दूर करने में अक्सर असफल रहता है। पाठ्य पुस्तकों और टींचिंग एड्स की व्यवस्था अपर्याप्त और अव्यवस्थ्ति होती है। अध्यापकों को प्रायः ही गलत पाठ्य पुस्तकें मिलती हैं (अगर मिलती है तो) या सत्र के एकदम अंत में मिलती हैं या फिर उन्हें छात्रों की संख्या के हिसाब से आधी ही पाठ्यपुस्तकें सुलभ होती हैं।

एक जिम्मेदार अध्यापक को अपने प्रयासों के लिए कोई प्रशंसा भी नहीं मिलती। जैसा कि अध्यापक महसूस करते हैं उनके बड़े लोग जिस बात की कम से कम चिंता करते हैं वह अध्यापन की गुणवत्ता ही है। मुख्य ध्यान स्कूल के रिकाड्र्स, दाखिले के आँकड़ों, प्रोत्साहन परियोजनाओं और अन्य प्रशासनिक योजनाओं पर केंद्रित रहता है। शिक्षण की गुणवत्ता की परवाह न करने के साथ ही प्रबंधन के ढाँचे ने अध्यापकों को जैसे बहुउद्देशीय एजेंट बना दिया है, जिन्हें अनेक क्षेत्रों से लामबंद किया जाता है। निरीक्षक उनसे उम्मीद करते हैं कि वे विभिन्न प्रशासनिक कार्य पूरे करें, इनमें अनेक रजिस्टरों की खानापूर्ति भी है। निष्ठापूर्ण अध्यापन की ओर सबसे कम ध्यान है ओर इसे अध्यापकों का सबसे महत्वहीन कार्य समझा जाता है।

शाला का माहौल सुधारने में शिक्षक को कई प्रकार की चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। उनमें से कुछ का जिक्र ऊपर किया गया है। आप समूह चर्चा कर पता लगाएँ कि आपके साथी अध्यापकों ने इन जैसी चुनौतियों का सामना किस–किस प्रकार से किया?

जवाबदेही के मुद्दे

जवाबदेही की समस्या

जैसे अधिकारहीन परिवेश में वे काम करते हें, उसे देखते हुए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि अध्यापक अध्यापन के विशिष्ट स्तर बनाए रखने में असफल रहते हैं। सभी अच्छे अध्यापकों को शक्ति के अक्षय भंडार की आवश्यकता होती है और छोटे–छोटे बच्चों को संभालने में काफी शारीरिक ऊर्जा भी चाहिए। गाँव के जर्जर स्कूल में फँसे, असंतुष्ट अभिभावकों और अनियमित छात्रों से घिरे तथा निरीक्षकों की दादागिरी के शिकार अध्यापकों से यह आशा लगाना व्यर्थ है कि वे उत्साह की भावना के साथ काम कर सकेंगे।

वैसे इस तरह के सार्थक उदाहरण भी देखने को मिले जिनसे यह पता चलता है कि स्कूलों के मौजूदा परिवेश में भी अध्यापक यदि चाहें तो अध्यापन के स्तर को कुछ हद तक ऊँचा उठा सकते हैं। सेम और अंजलि जैसे प्रतिबद्ध अध्यापक, अध्यापिकाओं (ऐसे और भी बहुत हैं) की शानदार उपलब्धियाँ इस बात को अच्छी तरह प्रस्तुत करती है। यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि पहले समय में, जब हर दृष्टि से कार्य परिस्थितियाँ आज की तुलना में अधिक चुनौतीपूर्ण थीं, तब भी अध्यापन के स्तर ऊँचे हुआ करते थे। एक दूसरा प्रमाण प्राइवेट स्कूलों में, कामचलाऊ परिस्थिति में भी अध्यापन की अधिक सक्रिय गतिविधियों का होना है जबकि वहाँ की भी स्थितियाँ सरकारी स्कूलों से कुछ बेहतर नहीं होती है।

प्राइवेट स्कूलों की यह विशेषता शिक्षा प्रणाली में जवाबदेही को मुख्य भूमिका को उजागर करती है। प्राइवेट स्कूल में अध्यापक मैनेजरों के प्रति जवाबदेह होते हैं (जो उन्हें नौकरी से निकाल भी सकता है) और यह जवाबदेही उसके माध्यम से माता–पिता के प्रति भी होती है (जो असंतुष्ट हों तो अपने बच्चों को स्कूल से हटा भी सकते हैं)। सरकारी स्कूल में जवाबदेही की यह श्रृंखला बहुत कमजोर है। अध्यापकों की नौकरी

पक्की होती है और उनकी तनख्वाहों और पदोन्नतियों का इस बात से कोई संबंध नहीं होता कि पढ़ाई के मामले में उनका प्रदर्शन कैसा है। प्राइवेट और सरकारी स्कूलों में जवाबदेही का यह अंतर अधिकांश माँ–बाप खूब समझते हैं।

यह कहकर हम प्राइवेट स्कूलों का समर्थन नहीं कर रहे हैं, जिनकी अपनी समस्याएँ हैं और न ही हम नौकरी की सुरक्षा वाले मुद्दे का विरोध कर रहे हैं जो अनेक देशों में अध्यापन के व्यवसाय की एक विशिष्टता है। हमारा कहना यही है कि अध्यापन के व्यवसाय में किसी न किसी तरह की जवाबदेही का होना इसकी कार्य संस्कृति को सुरक्षित रखने के लिए अनिवार्य है। इस नजरिए से देखें तो जवाबदेही का कोई अध्यापक विरोधी नहीं होना चाहिए। अपने व्यवसाय की एकनिष्ठता बनाए रखना स्वयं अध्यापकों की चिंता होनी चाहिए। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अधिकांश अध्यापकों की राय में ''निरीक्षण'' से लाभ होता है (उनकी शिकायतों पर कोई ध्यान न दिए जाने के बावजूद)। इसका लाभ ''अध्यापकों की उपस्थिति को नियमित व अनुशासित बनाने में नजर आता है।''

संक्षेप में अध्यापन के स्तरों में सुधार दो अनिवार्य स्थितियों पर निर्भर करता है – पहली, अधिक समर्थक कार्य परिवेश और दूसरी अधिक जवाबदेही। केवल जवाबदेही पर जोर देने का अर्थ अध्यापकीय निष्क्रियता के एक बड़े कारण पर ध्यान न देना होगा, जैसे कि मात्र कार्य परिवेश में सुधार से ही अध्यापन स्तरों में सुधार की आशा करना व्यर्थ होगा। ये दोनों ही बिंदु एक दूसरे के अनुपूरक तथा परस्पर शक्ति प्रदान करने वाले हैं।

जवाबदेही कहाँ ?

अध्यापकों की जवाबदेही को सुनिश्चित बनाना कोई आसान काम नहीं है। क्योंकि अध्यापक के प्रदर्शन को मापना कठिन है। उससे प्राप्त होने वाले ''परिणामों'' का कोई निर्धारित मानक नहीं है, हालाँकि स्कूलों में पढ़ाई के दौरान किए जाने वाले निरीक्षणों तथा बच्चों के परीक्षा परिणामों आदि से अध्यापन स्तरों के अच्छे या निम्न होने के कुछ संकेत अवश्य मिल सकते हैं। लेकिन अध्यापकों के कार्य प्रदर्शन (अगर उस पर नजर रखी जाए तो) को पुरस्कर और प्रतिबंध की उचित और प्रभावी व्यवस्था के साथ जोड़ पाने का कोई सहज तरीका नहीं है। ये विशिष्टताएँ केवल अध्यापन पेशे की ही नहीं हैं, हाँ लेकिन वे यहाँ प्रमुख जरूर है।

व्यवहार में होता यह है कि अध्यापकीय जवाबदेही अनेक प्रकार के औपचारिक और अनौपचारिक प्रोत्साहनों पर आधारित होती है। यदि इन प्रोत्साहनों को अलग–अलग करके देखा जाए तो अपने आप में वे अधूरे नजर आते हैं लेकिन अगर वे एक साथ रखे जाएँ तो कार्य संस्कृति को सुरक्षित रखने में वे एक बड़ी भूमिका निभा सकते हैं। मिसाल के लिए यदि पदोन्नति के अवसर रहें तो उनसे अध्यापकों को अपना सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन कर दिखाने की प्रेरणा मिल सकती है। इसी तरह अनुशासन लागू करने की दृष्टि से तबादले जैसे प्रतिरोधी कदमों से स्कूल से अनुपस्थित रहने तथा ऐसे ही दूसरे नकारात्मक क्रियाकलापों पर रोक लगाने में सफलता मिल सकती है। स्कूल के अंदर मुख्याध्यापक का अधिकार अनेक स्तरों पर इसी तरह की भूमिका निभाता है। यह बात मुख्याध्यापक/मुख्याध्यापिका की अपनी प्रतिबद्धता तथा अध्यापकों के साथ उसके संबंधों पर बहुत निर्भर करेगी। साथियों का दबाव स्कूल के अंदर एक अनौपचारिक प्रोत्साहन का रूप ले सकता है। हालाँकि अध्यापक स्वयं कुछ बहुत अधिक जोर नहीं देना चाहेंगे लेकिन दूसरे अध्यापकों को अपनी जिम्मेदारी से भागने से रोकने में उनका अपना हित होता है। (क्योंकि इससे उन पर काम का बोझ बढ़ता है)। दूसरा महत्वपूर्ण प्रोत्साहन अध्यापक/अध्यापिका के मन में ग्रामीण समाज में अपनी प्रतिष्ठा के प्रति सजग रहना है। वैसे यह प्रतिष्ठा प्रभाव इस पर निर्भर करेगा कि अध्यापक ग्रामीण समाज से स्वयं को कितना जोड़कर देखता है तथा माँ–बाप इस बात को कितना समझते हैं कि कक्षा में क्या कुछ हो रहा है। और अंत में जो बात कम महत्वपूर्ण नहीं है वह समाज की जवाबदेही की भी है। अध्यापक–अभिभावक परिषद, गाँव की पंचायत तथा परस्पर क्रिया के अन्य अनौपचारिक माध्यम अध्यापकों और समाज के संबंधों को जवाबदेही के स्तर पर बनाए रखते हैं।

यहाँ थोड़ा ठहर कर समुदाय की भूमिका के बारे में विचार करें। वह अध्यापक के लिए सकारात्मक भी हो सकती है जिससे उसे प्रोत्साहन मिले या नकारात्मक भी हो सकती है जो उसे हताश करे। इस तरह की चुनौतिपूर्ण परिस्थितयों के बीच समुदाय की सकारात्मक भागीदारी बढ़ाने के लिए शाला के स्तर पर क्या–क्या किया जा सकता है?

जवाबदेही की इस प्रक्रिया के विवरणों को प्रोब सर्वे के द्वारा भी पहचानना कठिन है। यह एक ऐसा विषय है जिस पर आगे अनुसंधान सबसे अधिक उपयोगी होगा। वैसे जो बात स्पष्ट होकर उभरती है वह यह कि अधिकांश समर्थ प्रोत्साहनों ने अपनी धार खो दी है। इनके कारण हैं प्रबंधन की गैर जिम्मेदारी तथा अध्यापकों की ओर से होने वाला संगठित प्रतिरोध। मिसाल के तौर पर पदोन्नतियों का प्रश्न लें। अधिकांश राज्यों में पदोन्नति का क्रम पूरी तरह वरिष्ठता पर निर्भर करता है। इस प्रकार पदोन्नतियों ने प्रोत्साहन का माध्यम होने की उपयोगिता खो दी है। अध्यापकों के संगठन वरिष्ठता आधारित पदोन्नति व्यवस्था की माँग करते रहे हैं। उनकी इस माँग को इस परिप्रेक्ष्य में देखना होगा कि मनमानी पदोन्नति की प्रणाली किस तरह भ्रष्ट हो जाती है। अध्यापक की पदोन्नति (मान लिया जाए) का आधार उसका कार्य प्रदर्शन होता है तो जो व्यवहार में होता है वह यह कि इसका उपयोग राजनीतिक निष्ठा को पुरस्कृत करने और व्यक्तिगत फायदे की दृष्टि से होता है। यह समझ में आ सकता है कि अध्यापक स्वयं को इस तरह के मनमाने व्यवहार से बचाना चाहते हैं।

एक दूसरा महत्वपूर्ण मुद्दा परीक्षाओं का है। छात्रों का स्तर जाँचने की प्रणाली के रूप में उनकी कमियों के बावजूद स्कूली परीक्षाओं से माँ–बाप को अध्यापकों के प्रदर्शन स्तर के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। मिसाल के तौर पर यदि एक कक्षा के सारे छात्र पाँचवीं की बोर्ड परीक्षा में असफल हो जाएँ तो माँ–बाप यही पूछेंगे कि पढ़ाई सत्र के दौरान अध्यापक कक्षा में क्या कर रहे थे। यह बात अध्यापकों के लिए प्रोत्साहन का काम करती है कि छात्र परीक्षाओं में अच्छे अंक लाएँ। लेकिन आठवीं या दसवीं कक्षाओं तक बच्चों को अपने आप अगली कक्षा में भेजने की प्रक्रिया अनेक राज्यों में व्यवहार में लाई जाती है साथ ही परीक्षाओं के दौरान बड़े स्तर पर नकल भी कराई जाती है।

इसी तरह के विरोधाभासों ने जवाबदेही के अन्य माध्यमों को महत्वहीन कर दिया है। अध्यापकों की जवाबदेही में आए क्षय को रोकने के लिए अन्य बातों के साथ अध्यापक संगठनों और शिक्षा प्रबंधन के बीच इस बात पर परस्पर नए संबंध होने चाहिए कि 'सबके लिए प्रारंभिक शिक्षा' के प्रति दोनों की साझी प्रतिबद्धता हो। दूसरा महत्वपूर्ण कदम अध्यापक–अभिभावक अंतःक्रिया के ढांचे में सुधार लाना है जो स्कूली प्रणाली में जवाबदेही का सबसे सार्थक आधार बनकर उभर सकता है।

अध्यापक और गांव का समाज

पिछले अनुभागों में अध्यापकीय निष्क्रियता के दो कारणों की पहचान हमने की है–उत्साहहीन कर देने वाला कार्य परिवेश और जवाबदेही का न होना। दोनों ही मामलों में अध्यापकों और अभिभावकों (तथा गाँव के समाज में आम तौर पर) के बीच सहकार–सहयोग बहुत बड़ी भूमिका निभा सकता है। इससे आगे बढ़कर कहें तो बच्चों की शिक्षा माता–पिता और अध्यापकों की सम्मिलित जिम्मेदारी ही है क्योंकि एक बच्चा केवल स्कूल में ही नहीं, घर में भी शिक्षा पाता है। यहाँ यह बात महत्वपूर्ण है कि इस दिशा में अध्यापकों तथा अभिभावकों के प्रयास एक दूसरे के पूरक होने चाहिए, विरोधी नहीं।

अभिभावक–अध्यापक संबंधों के स्वरूप

स्कूली प्रणाली की असफलता का दोष अध्यापक और माता–पिता एक दूसरे पर मढ़ते हैं। यह बात तो अध्यापक–अभिभावक संबंधों को अंततः नष्ट ही कर देगी। वैसे, इस संदर्भ में थोड़ी बहुत परस्पर आलोचना स्वाभाविक ही है लेकिन इससे दोनों के बीच व्यावहारिक सहयोग की संभावना समाप्त नहीं हो जाती। वैसे वर्तमान स्थिति को देखते हुए अगर अध्यापक और अभिभावक एक दूसरे की प्रशंसा करते तो अवश्य चिंता होनी चाहिए थी। उनकी अपनी–अपनी मागें स्कूली शिक्षा प्रणाली में सुधार की दिशा में सार्थक भूमिकाएँ निभा सकती हैं। असली समस्या यह नहीं है कि लोग शिकायतें करते हैं बल्कि यह है कि निजी तौर पर महसूस होने वाली शिकायतें रचनात्मक कदमों का रूप नहीं ले पातीं।

अलग–अलग गाँवों में अध्यापक–अभिभावकों के संबंधों का स्वरूप अलग–अलग है। थोड़े ही गाँवों में दोनों के बीच सक्रिय संबंध हैं। उदाहरण के लिए खुर्द (धौलपुर, राज.) में अध्यापक को अपने समय पालन और कर्त्तव्य निष्ठा के लिए गाँव की प्रशंसा मिली है। इससे अलग अध्यापकों और अभिभावकों के बीच तनाव बने रहने के मामले हैं। यह बात बिसारिया (राँची, बिहार) पर लागू होती है जहाँ अभिभावकों को मजबूर होकर एक सेवानिवृत्त अध्यापक को स्थानीय स्कूल में मदद के लिए रखना पड़ा क्योंकि स्कूल का हेडमास्टर

छोड़कर चला गया था। ठीक से न चलने वाले स्कूलों में तनातनी का माहौल रहता है, जो अध्यापक–अभिभावक संबंधों में आई टूटन को व्यक्त करता है। अध्यापक–अभिभावक संबंध का एक अन्य रूप (सहयोग और तनातनी के माहौल के बीच) जहाँ अध्यापक एक विशेष वर्ग के साथ अपना संबंध रखते हैं। यह बात उन गाँवों में विशेषकर देखने में आती है जहाँ जाति और वर्ग आधारित विभाजन बहुत तीखे हैं। गुटीय संपर्कों के पीछे अध्यापकों और सरपंच के संबंध भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

वैसे सबसे प्रचलित तो अभिभावकों और अध्यापकों के बीच बहुत मामूली सा आपसी संबंध का होता है। असंतुष्ट अभिभावकों को भी अध्यापक पर प्रभाव डालने का कोई तरीका नहीं दिखाई देता। अध्यापकों की रूचि अभिभावकों के साथ क्रियाशील संबंध रखने में कम ही होती है। या वे इसे अत्यंत सीमित स्तर पर रखना चाहते हैं। हमने जिन मुख्याध्यापकों से बात की उनमें से दो तिहाई का मानना था कि स्कूल के प्रति माता–पिता का रूख ''सहयोग'' का ही होता है। वैसे वे इसका मतलब अभिभावकों से कम सहयोग की आशा रखना ही मानते हैं। जब उनसे इस भाव को स्पष्ट करने को कहा गया तो उन्होंने इसका उदाहरण इस तरह दिया–माँ–बाप अपने बच्चों को नियमित रूप से स्कूल भेजकर सहयोग करते हैं। 30 प्रतिशत से कम ही मुख्याध्यापकों ने यह कहा कि पिछले 12 महीनों में उन्होंने माता–पिताओं से किसी विशेष सहायता की माँग की थी और उस पर उन्हें सार्थक प्रतिक्रिया मिली थी। दोनों ही ओर निष्क्रियता का भाव प्रमुख है।

सहयोग के औपचारिक संगठन

सामूहिक निष्क्रियता की समस्या को हल करने के लिए ही ऐसे औपचारिक संगठन बनाने प्रयास हुए हैं जो अध्यापकों और अभिभावकों के बीच अधिक सक्रिय अंतर्संबंधों को बढ़ावा दे सकें। पी.टी.ए. (शिक्षक–अभिभावक संघ) और ग्रा. शि. स. (ग्राम शिक्षा समिति) इसके दो उदाहरण हैं। लेकिन प्रोब सर्वे का कहना है कि ये दोनों ही संगठन लगभग निष्क्रिय हो चुके हैं। सर्वेक्षित स्कूलों के 20 प्रतिशत से भी कम में पी.टी.ए. थे। और जहाँ वे थे वहाँ भी औपचारिकताएँ पूरी करने से आगे नहीं बढ़े थे। कुछ की बैठकें केवल 15 अगस्त और 26 जनवरी को जलपान तथा संक्षिप्त मेल–मुलाकात के लिए ही हुई थीं। उन्होंने ऐसे अवसरों पर अभिभावकों को स्कूल में नियंत्रित करने की परंपरा का ही पालन किया था।

ग्राम शिक्षा समितियाँ कुछ ही बेहतर कर रही है। एक गाँव के आधे नमूना स्कूलों में कार्यशील ग्रा.शि.स. थी। यहाँ 'कार्यशील'' का अर्थ यह समझना चाहिए कि ग्रा.शि.स. की पिछले 12 महीनों में कम से कम एक बैठक हुई थी। हमने कुछ ही जगह सचमुच सक्रिय ग्रा.शि.स. भी देखीं। जैसे जामनगरी (बैतूल, म.प्र.) में जहाँ ग्राम शिक्षा समिति ने स्थानीय अध्यापकों को साक्षरता सर्वे करने में मदद की थी। कई अन्य गाँवों में भी ग्राम शिक्षा समिति ने कुछ उपयोगी निरीक्षण के कार्य किए थे। कई क्षेत्रों में जहाँ ग्राम शिक्षा समिति को स्कूली शिक्षा प्रणाली में सुधार लाने के व्यापक सुविचारित उद्देश्य से स्थापित किया जाता है, जैसे राजस्थान के कुछ भागों में लोक जुंबिश कार्यक्रम, वहाँ वे काम करती दिखाई देती हैं। लेकिन कुल मिला कर ग्राम शिक्षा समितियाँ केवल नाम के लिए ही हैं, जहाँ अध्यापकों और अभिभावकों में से किसी भी पक्ष को उनसे बहुत उम्मीदें नहीं है। पी.टी.ए. की तरह ग्राम शिक्षा समिति की बैठकें भी 26 जनवरी और 15 अगस्त को ही होती है जबकि उनसे यह आशा की जाती है कि वे नियमित रूप से बैठकें करेंगी। उत्साह की कमी का दोषी उन्हें संगठित करने का तरीका है जिसमें श्रेणीबद्ध तरीके का प्रयोग किया जाता है। उन्हें समाज की इच्छाओं के अनुरूप कार्यक्रम बनाने और उन पर चलने के स्थान पर ऊपर से आने वाले सरकारी आदेशों के आधार पर चलाया जाता है। जैसा कि एक अध्यापक ने साफ–साफ कहा – ''ग्राम शिक्षा समिति बोलो, पी.टी.ए, बोलो, जो सरकार का हुक्म है वह हम करते हैं।''

अनौपचारिक अंतःक्रिया

अध्यापक–अभिभावक के बीच सक्रिय अंतर्संबंध का अभाव वर्तमान में स्कूली शिक्षा प्रणाली की गंभीर कमी है। माँ–बाप की उदासीनता इसमें एक बड़ी भूमिका निभाती है जिससे अध्यापक की निष्क्रियता की समस्या और भी गंभीर हो जाती है जिसके बारे में हम पहले विचार कर चुके हैं। माँ–बाप व्यक्तिगत तौर पर बच्चों की शिक्षा में रूचि लेते हैं और उनकी अनेक निजी शिकायतें भी होती हैं लेकिन इन शिकायतों पर सामूहिक रूप से पहल करने की योग्यता कम दिखाई देती है। यद्यपि उनके पास स्वयं को शक्तिहीन मानने के कई कारण हो सकते हैं, लेकिन उनकी सामूहिक शक्ति का भी बहुत कम उपयोग होता है। जिसमें सबकी भागीदारी हो, ऐसी स्कूली शिक्षा प्रणाली के निर्माण के तरीकों की खोज में यह जानना महत्वपूर्ण है कि अध

यापक अभिभावक अंतक्रिया इसका एक आवश्यक अंग है। पी.टी.ए और ग्रा.शि.स. जैसे संस्थान महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं और इनमें से कुछ संस्थानों को प्रयासपूर्वक अच्छा रूप दिया जा सकता है जैसा अनेक क्षेत्रों में हुआ भी है। लेकिन अध्यापक–अभिभावक संबंधों के इन औपचारिक संगठनों के दायरे से बाहर भी बहुत कुछ हो सकता है। जिन क्षेत्रों में स्कूल सुव्यवस्थित ढंग से चलते हैं वहाँ अध यापक–अभिभावकों के बीच अनौपचारिक अंतर्संबंध भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। एक अभिभावक और अध्यापक की आपस में आमने–सामने बातचीत इस प्रक्रिया का एक अच्छा उदाहरण है (कुछ शहरी स्कूलों में स्कूल के कार्यक्रम में इसके लिए स्पष्ट रूप से समय रखा जाता है)। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है अगर किसी अध्यापक/अध्यापिका को ग्रामीण समाज के बीच अपनी प्रतिष्ठा की चिंता होती है तो माँ–बाप से व्यक्तिगत तौर पर मिले बिना भी वह उनके विचारों के प्रति संवेदनशील रह सकते हैं। प्रोब सर्वे में बताए गए अध्यापक अभिभावकों के बीच अनौपचारिक अंतर्क्रिया के अन्य उदाहरण हैं – कक्षाओं के लिए अतिरिक्त कमरे बनाने के लिए अभिभावकों की ओर से स्वतःस्फूर्त पहलकदमी या स्कूल के लिए धन जमा करना, राजनेताओं के माध्यम से अप्रत्यक्ष अंतर्क्रिया, महिला मंडल के प्रस्ताव, सरकारी कार्यालयों को दिए जाने वाले प्रतिवेदन और शिकायती पत्र, प्रतिद्वंद्वी प्राइवेट स्कूलों की स्थापना या फिर बच्चों द्वारा आकस्मिक हड़ताल करना जैसे कदम।

इसलिए एजेंडा सिर्फ ग्रा.शि.स., पी.टी.ए या पंचायतों को सक्रिय बनाना ही नहीं है। वैसे इस दिशा में काफी कुछ किया जा सकता है, असली चुनौती है शिक्षा के मसलों पर अधिकाधिक सामाजिक भागीदारी सुनिश्चित बनाना और इसके लिए समस्त उपलब्ध माध्यमों का उपयोग करना। सहभागिता की इस प्रक्रिया में सरकार सहयोग दे सकती है लेकिन यह अकेले उसी की जिम्मेदारी नहीं है। यह एक अपील है – जन संगठनों के लिए और आम जनता के लिए इस आशा के साथ कि बच्चों की शिक्षा के मामले में वे ज्यादा से ज्यादा सम्मिलित हों।

अभ्यास कार्य

1. शालाओं में अध्यापिका होने से क्या फर्क पड़ता है?

2. अध्यापिका पितृसत्तात्मक परिवेश को बदलने में किस प्रकार की भूमिका अदा कर सकती है?

3. अध्यापकों का सेवा पूर्व प्रशिक्षण क्यो ज़रूरी है? इससे शिक्षा की गुणवत्ता मे किस प्रकार का असर पड सकता है?

4. एक शिक्षक या शिक्षिका की पढ़ाने के अलावा अन्य किस प्रकार से समुदाय के विकास में भागीदारी सम्भव है?

5. शासकीय और निजी (तहसील स्तर पर स्थापित/संचालित) शालाओं में शिक्षण की गुणवत्ता में आप क्या अन्तर देखते हैं? इसके क्या करण हो सकते हैं?

6. अध्यापक की जवाबदेही सुनिश्चित करने व उसके सतत् प्रोत्साहन में समुदाय की क्या–क्या भूमिकाएँ हो सकती है?

दत्त कार्य

1. शाला में पितृसत्ता के लक्षणों की पहचान करें और सुझाव दें कि समतामूलक व समावेशी परिवेश के निर्माण के लिए क्या–क्या किया जा सकता है?

2. इस शिक्षक प्रशिक्षण (डी.एड़. का ओ.डी.एल. पाठ्यक्रम) के दौरान ऐसी बातों का जिक्र करते हुए एक लेख लिखें जो आपको एक अच्छा शिक्षक/शिक्षिका के बनाने में सहायक रही है।